MSW- 06

समाज : संरचना एवं समस्याएं

इकाई का नाम | **पृष्ठ संख्या**

इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
1.समाज की अवधारणा	1-8
2. समाज :अर्थ एवं परिभाषा	9-15
3. सामाजिक प्रक्रिया व तत्व	16-27
4. संस्कृति	28-34
5.सामाजिक मूल्य एवं प्रतिमान	35-43
6.समाज की विशेषताएं	44-48
7.सामाजिक समूह :अर्थ ,विशेषतायें एवं प्रकार	49-54
8.समूह के वर्गीकरण	55-69
9. सामाजिक परिवर्तन:अर्थ एवं कारक	70-79
10. सामाजिक परिवर्तन :स्रोत एवं प्रक्रियाएं	80-89
11.सामाजिक संस्था :अर्थ ,प्रकार्य एवं प्रकार	90-98
12.परिवार :अर्थ एवं प्रकार	99-109
13.विवाह :अर्थ एवं प्रकार	110-121
14.सामाजिक स्तरीकरण	122-133
15 सामाजिक विघटन की अवधारणा	134-142
16.वैयक्तिक विघटन	143-151
17.पारिवारिक विघटन	152-160
18.सामाजिक समस्या	161-168
19.निर्धनता एवं बेरोजगारी	169-186
20.निरक्षरता	187-198
21.साम्प्रदायिकता	199-208
22.भ्रष्टाचार :स्वरुप एवं विस्तार	209-219

इकाई-1

समाज की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 समाज की अवधारणा

1.2.1 मैकाइवर के अनुसार समाज की अवधारणा

1.3 समाज निर्माण हेतु आवश्यक दशाएं

1.4 मानव समाज एवं पशु समाज

1.4.1 मानव एवं पशु समाज में अन्तर

1.5 सारांश

1.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप-

1. समाज के अवधारणा को विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं के आधार पर समझ सकेंगे।
2. समाज के निर्माण की आवश्यक दशाओं के विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगे|
3. इकाई के अंत में मानव समाज एवं पशु समाज के बीच अंतर को समझ सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

‘ समाज’ का अर्थ प्रायः व्यक्तियों के समूह से लगाया जाता है, परन्तु समाज वास्तव में मनुष्यों के पारस्परिक सामाजिक संबंधो का जाल है | मानव एक सामाजिक प्राणी है| व्यक्ति की शारीरिक,मानसिक तथा आर्थिक आवश्यकतायें समाज में ही पूरी होती है जिसके लिए वह समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। वास्तव में व्यक्ति में समाज के अन्य सदस्यों से सम्बन्ध स्थापित करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, जिसे वह सामाजिक अन्तःक्रिया के फलस्वरूप विकसित करता है| समाज केवल मनुष्यों में ही नहीं पशु –पक्षियों

में भी पाया जाता है , क्योंकि समूह ,संबंध ,सहयोग, श्रम-विभाजन, प्रभुत्व –आधीनता ,आदि पशु –पक्षियों में भी पाया जाता है | मानव तथा पशु समाज में अंतर होता है|

1.2 समाज की अवधारणा

मानव समाज दो शब्दों से मिलकर बना है मानव तथा समाज। मानव का अर्थ मनुष्य तथा समाज का आशय सामाजिकता से है। सामाजिकता की भावना मानव समाज के लिए आवश्यक होती है और सामाजिकता के विकास के लिए सम्बन्धों का होना आवश्यक होता है। ये सामाजिक सम्बन्ध समाज का निर्माण करने के साथ-साथ मनुष्य के व्यवहारों व कार्य-कलापों को सन्तुलित करते हैं। इसी वजह से समाज को सम्बन्धों का जाल भी कहते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मानव जीवन में सम्बन्धों, प्रतिमानों, मूल्यों, आदर्शों, प्रथाओं, मान्यताओं इत्यादि के विस्तृत रूप में व्याप्त जाल को ही 'समाज' की संज्ञा दी गयी है।

समाज को विभिन्न विद्वानों ने निम्न तरह से परिभाषित किया है:

गिन्सबर्ग के अनुसार, ''समाज व्यक्तियों का समूह है जो कुछ खास सम्बन्धों या खास व्यवहारों द्वारा आपस में बंधे होते हैं, जो व्यक्ति उन सम्बन्धों तथा व्यवहारों से बंधे नहीं होते हैं वे उस समाज का हिस्सा नहीं होते हैं।''

राइट के अनुसार, ''समाज लोगों का समूह नहीं है, यह सम्बन्धों की प्रणाली है, जिसका व्यक्तियों के समूहों के बीच अस्तित्व होता है।''

कूले, सी. एच. के अनुसार, ''समाज रीतियों या प्रक्रियाओं की जटिल सक्रिय रचना है| जो आपस में अन्तःक्रिया के कारण विकसित होती रहती है तथा उसके अस्तित्व में इस प्रकार की एकरूपता होती है कि जो कुछ एक भाग में होता है उसका प्रभाव शेष भागों पर भी पड़ता है।''

पारसन्स के अनुसार, ''समाज को उन मानवीय संबंधो की सम्पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो साध्य संबंधों के रूप में क्रिया करने में उत्पन्न हुए हो चाहे ये यथार्थ हो या प्रतीकात्मक"|

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण करने से मूल निष्कर्ष या सारांश यह है कि समाज का वास्तविक आधार सामाजिक सम्बन्ध है।

1.2.1 मैकाइवर के अनुसार समाज की अवधारणा

समाजशास्त्र में मैकाइवर एवं पेज की अवधारणा बहुत प्रचलित है , इनके अनुसार, ''समाज रीतियों एवं कार्य-प्रणालियों की, अधिकार-सत्ता एवं पारस्परिक सहायता की, अनेक समूहों तथा श्रेणीयों की, मानव व्यवहार के नियन्त्रणों तथा स्वतन्त्रताओं की एक व्यवस्था है| इस सदैव परिवर्तनशील, जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है और यह हमेशा परिवर्तित होता रहता है।'' आपने समाज को सामाजिक सम्बन्धों का जाल अवश्य कहा है, लेकिन साथ ही उन आधारों अथवा महत्वपूर्ण तत्वों का उल्लेख भी किया है जिनकी सहायता से सामाजिक सम्बन्ध एक जटिल व्यवस्था का रूप ग्रहण करते हैं, एक सामाजिक संरचना को निर्मित करते हैं। इस परिभाषा के आधार पर मैकाइवर एवं पेज ने समाज के निम्नलिखित महत्वपूर्ण आधारों या तत्वों पर प्रकाश डाला है:-

1. रीतियाँ

रीतियां या प्रथाएं सामाजिक प्रतिमान का एक प्रमुख प्रकार है। ये समाज के निर्माण में आधार के रूप में कार्य करती हैं। समाज में व्यवस्था बनाये रखने में ये महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित अनेक रीतियाँ पायी जाती हैं, जैसे, खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, विवाह, धर्म, जाति, शिक्षा आदि से सम्बन्धित रीतियाँ। ये रीतियाँ व्यक्ति को विशेष तरीके से व्यवहार करने को प्रेरित करती हैं। इसके विपरीत आचरण या व्यवहार करने पर व्यक्ति को लोगों की आलोचना एवं कभी-कभी दण्ड का पात्र भी बनना पड़ता है।

2. कार्य-प्रणालियाँ

मैकाइवर एवं पेज ने सामूहिक रूप से कार्य करने की प्रणालियों को संस्थाओं के नाम से पुकारा है। इन्हीं के माध्यम से एक समाज विशेष के लोग अपनी विभिन्न आवश्यकताओं या उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। एक समाज में व्यक्तियों की सभी क्रियाएं सामान्यतः इन कार्य-प्रणालियों के अनुरूप ही होती हैं एवं इन्हीं से नियन्त्रित होती हैं। प्रत्येक समाज की अपनी विशेष कार्य-प्रणालियां होती हैं जो अन्य समाजों की कार्य-प्रणालियों से भिन्न होती है।

3. अधिकार

अधिकार को सत्ता या प्रभुत्व के नाम से भी जाना जाता है। यह भी समाज का एक प्रमुख आधार है। कोई भी ऐसा समाज दिखायी नहीं पड़ेगा जिसमें प्रभुत्व एवं अधीनता के सम्बन्ध नहीं पाये जाते हों। समाज में अनेक संगठन, समूह, समितियाँ, आदि होते हैं। जिनके कार्य-संचालन और सदस्यों के व्यवहार पर नियन्त्रण बनाये रखने के लिए व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के पास अधिकार, शक्ति या सत्ता का होना आवश्यक है। इसके अभाव में व्यवस्था और शान्ति बनाये रखना सम्भव नहीं है।

4. पारस्परिक सहयोग

यह समाज का एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण आधार है। जब तक कुछ व्यक्ति अपने-अपने उद्देश्यों या आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक-दूसरे के साथ सहयोग नहीं करते, तब तक समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। समाज के लिए सहयोगी सम्बन्धों का होना अत्यन्त आवश्यक है।

5. समूह एवं उप-समूह

समाज अनेक समूहों एवं विभागों या उप-समूहों से मिलकर बना होता है। अन्य शब्दों में, हम कह सकते हैं कि प्रत्येक समाज में अनेक समूह, समितियाँ, संगठन आदि पाये जाते हैं जिनकी सहायता से व्यक्तियों की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। परिवार, क्रीडा-समूह, पड़ोस, जाति, गांव, कस्बा, नगर, समुदाय, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक संगठन, स्कूल, महाविद्यालय, आदि अनेक समूह एवं विभाग ही हैं जिनसे समाज बनता है और ये व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति में योग देते हैं।

6. मानव व्यवहार पर नियन्त्रण

समाज सामाजिक सम्बन्धों की एक जटिल व्यवस्था है और इस व्यवस्था को ठीक से संचालित करने के लिए आवश्यक है कि मानव व्यवहार पर नियन्त्रण रखा जाए। यदि व्यक्ति की इच्छाओं को नियन्त्रित नहीं किया जाए और व्यक्ति को उन्हें मनमाने ढंग से पूरा करने की छूट दे दी जाय तो समाज में व्यवस्था का बना रहना सम्भव

नहीं होगा। ऐसी दशा में व्यक्ति स्वच्छन्द या मनमाने तरीके से व्यवहार करने लगेंगे तथा आदर्श-शून्यता या विचलन की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी जिससे समाज विघटित होने लगेगा। अतः मानव व्यवहार के नियन्त्रण हेतु समाज में सामाजिक नियन्त्रण के औपचारिक एवं अनौपचारिक साधनों को अपनाया जाना आवश्यक है।

7. स्वतन्त्रता

समाज के एक आवश्यक तत्व के रूप में स्वतन्त्रता का विशेष महत्व है। जहां समाज में व्यक्ति के व्यवहार को औपचारिक और अनौपचारिक साधनों द्वारा नियन्त्रित किया जाता है, वहां उसे कुछ क्षेत्रों में स्वतन्त्रता प्रदान करना भी आवश्यक है। स्वतन्त्र वातावरण में ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास करके समाज की प्रगति में योगदान दे सकता है।

मैकाइवर और पेज की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि समाज सामाजिक सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था है और इसके सात आधार हैं, परन्तु साथ ही समाज के लिए तीन बातों का होना भी आवश्यक है-

(1) व्यक्तियों की बहुलता,

(2) सामाजिक सम्बन्ध

(3) सामाजिकअन्तःक्रिया।

1.3 समाज के निर्माण की आवश्यक दशाएं

सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना से समाज का निर्माण होता है। परन्तु समाज के निर्माण के लिए सामाजिक सम्बन्धों के साथ-साथ एक निश्चित व्यवस्था भी आवश्यक है।

के. डेविस के अनुसार, ''यह ध्यान देने योग्य बात है कि सामाजिक सम्बन्ध ही समाज नहीं है, बल्कि जब सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था होती है तब उसे समाज कहा जाता है।''

के. डेविस ने समाज निर्माण हेतु चार प्रकार की परिस्थितियों या दशाओं का वर्णन किया हैः

1. समाज की रक्षा
2. समाज में कार्य-विभाजन
3. समूह की एकता
4. सामाजिक व्यवस्था में स्थिरता

1. समाज की रक्षा

समाज की रक्षा से तात्पर्य उन परिस्थितियों से है जो कि समाज के सदस्यों को जीवित रखने में सहयोग देते हैं । इसके लिए पालन-पोषण की निश्चित व्यवस्था का होना आवश्यक होता है। साथ ही साथ ऐसी परिस्थितियाँ भी होनी चाहिए जिससे समाज को प्राकृतिक आपदाओं एवं अन्य परेशानियों से संरक्षण मिल सके। इसके अतिरिक्त ऐसी व्यवस्था भी होनी चाहिए जिससे विषमलिंगीय सम्बन्ध स्थापित हों और नवीन जीव की उत्पत्ति हो सके तथा नयी-नयी पीढ़ियाँ विकसित होती रहे ।

2. समाज में कार्य विभाजन

समाज में कार्य विभाजन के अन्तर्गत ऐसी दशायें होनी चाहिए जिसमें समाज के सभी सदस्य श्रम विभाजन के द्वारा विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहे। यह विशेषीकरण की क्रिया के द्वारा सम्भव होता है। यही विशेषीकरण सामाजिक व्यवस्था का आधार है। विभिन्न समाजों में विशेषीकरण की मात्रा अलग-अलग होती है। इसीलिए विभिन्न समाज एक-दूसरे की अपेक्षा कम या अधिक व्यवस्थित होते हैं।

3. समूह की एकता

समाज निर्माण की दृष्टि से समूह की एकता परमावश्यक है| इसके लिए समूह के सदस्यों के मध्य सम्बन्धों की स्थापना हेतु प्रेरक तत्वों का होना आवश्यक है। सदस्यों के बीच में सहयोग, सहानुभूति, अपनत्व की भावना होनी चाहिए। समूह के सदस्यों के मध्य ''हम की भावना'' होनी चाहिए।

4. सामाजिक व्यवस्था में स्थिरता

समाज को संगठित रखने के लिए ऐसी दशायें होनी चाहिए जिससे समाज में स्थिरता एवं निरन्तरता बनी रहे। इसके लिए समाज को व्यवस्थाओं और नियमों की आवश्यकता होती है एवं उसके संचालन के लिए कुशल नेतृत्व भी होना चाहिए।

1.4 मानव समाज एवं पशु समाज

मनुष्य एवं पशु दोनों ही जन्मजात प्रवृत्तियों के बन्धनों में बंधे होते हैं। परन्तु मनुष्य अपना विकास सामाजिक बन्धनों एवं रीतियों के द्वारा करता है। मनुष्य अपने विकास के लिए मेधा और संसाधनों का सदुपयोग करता है जिसके द्वारा वह हर स्थिति में खुद को समायोजित कर लेता है। पशुओं में निम्न स्तर के लक्षण पाये जाते हैं उनमें चेतनता का अभाव होता है या कम होता है। वह अपनी बुद्धि क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाते हैं। पशु अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। पशुओं में आदर्शों, मनोवृत्तियों, व्यवहारों का अभाव होता है। पशुओं में सीखने व अन्तःक्रिया करने की क्षमता कम होती है।

1.4.1 मानव एवं पशु समाज में अन्तर

शारीरिक रूप से मनुष्य और पशुओं में भिन्नता होने के बावजूद बहुत सी समानतायें होती हैं। मानव एवं पशु दोनों ही अपनी आन्तरिक एवं बाह्य आवश्यकताओं से नियन्त्रित होते हैं। परन्तु दोनों के व्यवहारों में भिन्नता पायी जाती है। सामान्यतः मानव एवं पशु समाज में निम्नलिखित अन्तर पाये जाते हैं:

1. सामाजिक व्यवस्था

मानव समाज में समाज का निर्माण करने वाले कारक एक सांस्कृतिक व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यात्मक रूप से सम्बन्धित रहते हैं तथा एक संतुलित शक्ति का निर्माण करते हैं। जिसमें विभिन्न प्रकार की सामाजिक संस्थाएं अपने उद्देश्यों के अनुसार कार्य करके व्यक्तियों की अन्तःक्रियाओं को नियमित करती हैं।

इसके विपरीत पशु समाज में सामाजिक व्यवस्था का सर्वथा अभाव रहता है।

2. यौन सम्बन्धी व्यवहार

मानव समाज में यौन-सम्बन्ध के सन्दर्भ में नियमबद्धता होती है। ये सम्बन्ध ऐच्छिक और मनमाने न होकर संस्कारों, परम्पराओं और नियमों से बंधे होते हैं। परन्तु पशु समाज में यौन सम्बन्धों के लिए कोई नैतिक नियम नहीं होते हैं।

3. विकसित स्नायु मण्डल

जीव की समस्त क्रियायें स्नायु संस्थान के द्वारा ही नियन्त्रित होती है। मानव द्वारा सोचने, समझने, देखने, सुनने इत्यादि कार्य किये जाते हैं, जो कि स्नायुमण्डल के द्वारा ही संचालित होते हैं। मनुष्य में विकसित स्नायुमण्डल पाया जाता है जबकि पशुओं में यह कम विकसित अवस्था में होता है।

4. आदर्श व्यवहार

मनुष्य में सीखने की क्षमता होती है। व्यक्ति को जिन कार्यों से प्रशंसा मिलती है उसको वह अपने व्यवहार का अंग बना लेता है। मानव समाज में व्यवहार और विचार नैतिकता और अनैतिकता की भावनाओं से बंधे होते हैं। यहाँ पर आदर्शों को व्यवहार में परिवर्तित करके आदर्श व्यवहार अपनाया जाता है तथा अनैतिक व्यवहार को प्रतिबन्धित किया जाता है। पशु समाज में आदर्श व्यवहार कल्पना से परे होता है। यहाँ पर नैतिकता और अनैकिता का कोई मापदण्ड नहीं होता है।

5. शारीरिक भिन्नता

मानव समाज में व्यक्ति की इन्द्रियाँ विकसित होती हैं। बोलने की क्षमता विकसित होती है, व्यक्तियों में सीधे खड़े होकर हाथों से कार्य करने की क्षमता होती है। मनुष्य दो पैरों पर चलता है तथा हाथों का भी प्रयोग समुचित तरह से करता है।

इसके विपरीत पशु में इन्द्रियाँ अल्प विकसित या कुछ इन्द्रियों का ही विकास होता है।इनमे बोलने की क्षमता भी कम विकसित होती है। ये सांकेतिक भाषा का प्रयोग ज्यादा होता है। ये हाथ-पैरों के द्वारा शरीर का संतुलन स्थापित करते हैं।

6. कार्य कुशलता

मनुष्य को अपनी संस्कृति और आवश्यकताओं से सम्बन्धित सभी कार्यों को सीखना पड़ता है। प्रारम्भ में सीखने में समय लगता है परन्तु धीरे-धीरे उसकी कार्य कुशलता अनुभव के साथ बढ़ती जाती है।

पशुओं में कार्य कुशलता का विकास कम होता है और कुछ सीमा तक ही वे निपुण हो पाते हैं।

7. संस्कृति

मानव समाज में संस्कृति का समावेश होता है। धर्म, संस्कार, रीति-रिवाज, प्रथायें, प्रतिमान, नैतिकता आदि मनुष्य की संस्कृति का हिस्सा होती हैं। वह इनके प्रयोग से व्यक्तिगत एवं सामाजिक विकास करता है। मनुष्यों के द्वारा संस्कृति का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरण किया जाता है। पशु समाज में संस्कृति का अभाव होता है यहाँ पर प्रत्येक जीवधारी अपनी परिस्थितियों के अनुसार व्यवहार करता है।

8. सामाजिक अन्तःक्रिया

मानव समाज सम्बन्धों पर आधारित होता है जो कि सामाजिक, आर्थिक, लैंगिक, राजनैतिक, धार्मिक, शैक्षिक, पारिवारिक इत्यादि आधार से सम्बन्धित होते हैं। जिसके फलस्वरूप व्यक्ति आपस में निरन्तर अन्तःक्रिया करते रहते हैं। परन्तु पशुओं में निम्न स्तर की अन्तःक्रिया पायी जाती है इनमें केवल सामूहिक सम्बन्ध ही पाये जाते

9. सम्बन्धों की अधिकता

मानव समाज का निर्माण सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था से हुआ है। मानव समाज में सम्बन्धों में घनिष्ठता और अपनत्व पाया जाता है समाज में प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों प्रकार के सम्बन्ध व्याप्त होते हैं। जबकि पशु समाज में खासकर स्तनधारियों में विशेष प्रकार के सम्बन्ध एवं पारस्परिक जागरूकता पायी जाती है।

10. परिवर्तन

मानव समाज में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है| अगर हम पाषाण युग से वर्तमान के औद्योगिक युग तक मानव सभ्यता में निरन्तर परिवर्तन देखने को मिलते हैं।

1.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के पश्चात् समाज की अवधारणा को समझा उसके अर्थ तथा उसकी विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषा का अध्ययन किया। इनमें से मैकाइवर द्वारा दी गई परिभाषा के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। इसके पश्चात् समाज निर्माण की आवश्यक दशाओं के बारे में अध्ययन किया तथा अंत में मानव एवं पशु समाज के विषय में ज्ञान प्राप्त किया।

1.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. समाज से क्या तात्पर्य है? समाज की अवधारणा पर प्रकाश डालिए।
2. मैकाइवर द्वारा दी गई समाज की अवधारणा को परिभाषित कीजिए।
3. समाज निर्माण की आवश्यक दशाओं से आप क्या समझते हैं?
4. मानव समाज तथा पशु समाज से क्या तात्पर्य है? मानव तथा पशु समाज में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. गुप्ता, एम. एल. एवं शर्मा डी.डी., मानव समाज, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2001।
2. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।
3. आहूजा, राम, सामाजिक समस्याऐं, रावत पब्लिकेशन्स, द्वितीय संस्करण, जयपुर एवं नई दिल्ली, 2000।
4. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
5. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
6. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
7. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर

8. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स: नई दिल्ली

इकाई-2

समाज : अर्थ एवं परिभाषा

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 समाज का अर्थ

2.3 समाज की परिभाषा

2.4 समाज के आवश्यक तत्व

2.4.1 जनसंख्या की निरन्तरता को बनाए रखना

2.4.2 जनसंख्या में श्रम विभाजन

2..4.3 सामूहिक एकता

2..4.4 सामाजिक व्यवस्था में स्थायित्व होना

2.5 समाज निर्माण की आवश्यक दशाएं

2.5.1 समाज की रक्षा

2.5.2 समाज में कार्य विभाजन

2.5.3 समूह की एकता

2.5.4 सामाजिक व्यवस्था में स्थिरता

2.6 सारांश

2.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप

1. समाज के अर्थ एवं परिभाषाओं को समझ सकेंगे।
2. समाज के आवश्यक तत्वों का अध्ययन कर सकेंगे।
3. समाज निर्माण की आवश्यक दशाओं के बार ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में समाज के विषय में विचार किया गया है। समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक संबंधों का योग है, जिसमें परस्पर सम्बन्ध बनाये रखने वाले लोग एक साथ संगठित होते हैं। समाज के निर्माण में सामाजिक सम्बंधों तथा व्यक्तियों का समान महत्व है। समाज रीतियों, कार्यविधियों, अधिकार व पारस्परिक सहायता, अनेक समूहों तथा उनके उप विभागों मानव व्यवहार के नियन्त्रणों और स्वतंत्रताओं की व्यवस्था है। समाज उन व्यक्तियों का समूह है जो अंतः क्रिया द्वारा सम्बंधित हैं। सी.एच.कूले के अनुसार समाज रीतियों या प्रक्रियाओं की जटिल रचना है, जिनमें से प्रत्येक जीवित है और प्रत्येक अन्य के साथ अन्तःक्रिया के कारण बढ़ती रहती है तथा उसके अस्तित्व में इस प्रकार की एकरूपता होती है कि जो कुछ एक भाग में होता है, उसका प्रभाव शेष भागों पर भी पड़ता है।

2.3 समाज का अर्थ

आमबोल-चाल की भाषा में समाज शब्द का उपयोग बहुत मनमाने ढंग से किया जाता है। लोग मनुष्यों के किसी भी संगठन, विशेष धर्म, भाषा या संस्कृति से संबंधित समूह को समाज कह देते हैं। उदाहरण के लिए हम प्रायः हिन्दू समाज, जैन समाज, मुस्लिम समाज, शिक्षक समाज आदि का प्रयोग करते हैं। यह सभी शब्द अवैज्ञानिक हैं। समाजशास्त्रीय अर्थ में 'समाज' शब्द लोगों के किसी समूह से संबंधित नही है बल्कि लोगों के बीच उत्पन्न होने वाली अन्तःक्रिया के नियमों के सम्मिश्रित स्वरुप से संबंधित है। इस प्रकार समाज लोगों का कोई संगठन नही है और न ही कोई वस्तु है जिसका भौतिक स्वरूप हो। ''समाज पूर्णतया अमूर्त (Abstract) है।'' यह एक वस्तु की अपेक्षाकृत एक प्रक्रिया(Prosess) है।

समाज सर्वव्यापी है, अर्थात् जहाँ जीवन है वहाँ संबंध और जहाँ संबंध हैं वहाँ समाज पाया जाता है।

L ⇒ R ⇒ S

L= Life, R=Relation, S=Society

समाज का निर्माण व्यक्तियों के मध्य पाये जाने वाले सामाजिक संबंधों से होता है। जैसा कि मैकाइवर एवं पेज ने समाज को सामाजिक संबंधों का जाल माना है। यदि हम समाज के अंग्रेजी रूपान्तरण सोसाइटी (Society) का विश्लेषण करें तो समाज के व्यापक अर्थ का बोध होता है।

S = Social relation

O = Organization

C = Consciousness

I = Interaction

E = Effectiveness

T = Traditions

Y = Yielding

उपरोक्त विश्लेषण से हम कह सकते हैं कि समाज वो है जिसके अन्तर्गत -

1. सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं।
2. विभिन्न संगठनों का निर्माण होता है।

3. व्यक्तियों में चेतना और अन्तःक्रिया होती है।

4. परम्पराओं का निर्वहन किया जाता है।

5. यह व्यक्ति के जीवन पर प्रभाव डालता है।

6. भौतिक और सामाजिक उन्नति करता है।

2.3 समाज की परिभाषा

समाज को अनेक समाजशास्त्रियों ने किसी न किसी रूप में अलग-अलग तरह से पारिभाषित किया है। इनमें से कुछ प्रमुख निम्न है

मैकाइवर का कथन है कि ''समाज रीतियों, कार्यविधियों, अधिकार व पारस्परिक सहायता, अनेक समूहों तथा उनके उप-विभागों, मानव व्यवहार के नियन्त्रणों और स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था है। इस परिभाषा के द्वारा मैकाइवर ने यह बताया कि समाज, सामाजिक सम्बन्धों और इन सम्बन्धों को प्रभावित करने वाले तत्वों की एक जटिल तथा परिवर्तनशील व्यवस्था है।

गिडिंग्स के शब्दों में ''समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का योग है, जिसमें परस्पर सम्बन्ध रखने वाले लोग एक साथ संगठित होते हैं।'' इस प्रकार आपके अनुसार समाज के निर्माण में सामाजिक सम्बन्धों तथा व्यक्ति का समान महत्व है। इस परिभाषा का एक बड़ा दोष यह है कि इसमें औपचारिक सम्बन्धों के योग को ही समाज मान लिया गया है जबकि वास्तविकता यह है कि समाज में औपचारिक और अनौपचारिक दोनों तरह के सम्बन्धों का समान महत्व होता है।

राइट ने समाज की सरल परिभाषा देते हुए कहा है, ''समाज केवल व्यक्तियों का समूह नहीं है, यह समाज में रहने वाले व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था है।'' यह परिभाषा मैकाइवर की परिभाषा से ही मिलती-जुलती है।

पारसन्स ने समाज की वैज्ञानिक आधार पर परिभाषा देते हुए लिखा है कि ''समाज को उन मानवीय सम्बन्धों की पूर्ण जटिलता के रूप में पारिभाषित किया जा सकता है, जो साधन और साध्य के सम्बन्ध द्वारा क्रिया करने से उत्पन्न होते हैं, चाहे वह यथार्थ हो या केवल प्रतीकात्मक।''

गिन्सबर्ग ने समाज को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है, ''समाज ऐसे व्यक्तियों का संग्रह है जो अनेक सम्बन्धों और व्यवहार की विधियों द्वारा संगठित हैं तथा उन व्यक्तियों से भिन्न है जो इस प्रकार के सम्बन्धों द्वारा बँधे हुए नहीं हैं।'' इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि एक समाज दूसरे से इसलिए भिन्न होता है क्योंकि एक समाज में पाये जाने वाले सम्बन्धों की प्रकृति दूसरे समाज से भिन्न होती है।

पार्क और बर्गेस के अनुसार, ''समाज अनेक आदतों, भावनाओं, जनरीतियों, लोकाचारों, प्रविधियों और संस्कृति की एक सामाजिक विरासत है जो मानव के सामूहिक व्यवहारों का निर्धारण करती है।''

र्यूटर ने समाज को सबसे सरल रूप में पारिभाषित करते हुए कहा है, समाज एक अमूर्त धारणा है जो एक समूह के सदस्यों के बीच पाये जाने वाले पारस्परिक सम्बन्धों की सम्पूर्णता का बोध कराती है।

जार्ज सिमैल के अनुसार, ''समाज उन व्यक्तियों का समूह है जो अन्तःक्रिया द्वारा संबंधित है।''

सी.एच.कूले के अनुसार, ''समाज प्रक्रियाओं या आकारों की जटिलता है, जिनमें से प्रत्येक एक दूसरों के साथ अंतःक्रिया द्वारा जीवित है और पविकसित हो रहा है ; तथा सम्पूर्ण अस्तित्व इस प्रकार एकीकृत है कि जो कुछ एक भाग में घटित होता है, उसका प्रभाव शेष भागों पर भी पड़ता है।''

उपरोक्त सभी परिभाषाएं निम्न तथ्यों को स्पष्ट करती हैं:-

1. समाज सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था है।
2. ये सामाजिक सम्बन्ध सदैव परिवर्तनशील होते हैं। अतः समाज को भी एक जटिल और परिवर्तनशील व्यवस्था कहा जाता है।
3. समाज का निर्माण करने वाला कोई भी सम्बन्ध मनमाना व अनियमित नहीं होता, वह सदैव सांस्कृतिक नियमों की सीमा में होता है।
4. समाज के निर्माण में व्यक्ति का स्थान अत्यन्त महत्व रखता है परन्तु व्यक्तियों के संग्रह को समाज के रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता है।

2.4 समाज के आवश्यक तत्व (Essential Elements of Society)

जब व्यक्ति व्यवस्थित रूप से सम्बन्धों की स्थापना करते हैं तो वे एक समाज का निर्माण करते हैं। किंग्सले डेविस ने अपनी पुस्तक "Human Society" में सभी समाजों के लिए निम्न आवश्यक दशाओं को बतलाया है-

2.4.1 जनसंख्या की निरन्तरता को बनाए रखना

सभी जीवधारी अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साथ-साथ रहते हैं। जीवों के समूह में रहने का अर्थ अपनी जनसंख्या को बनाये रखने से है। उनके समाज विशेष के अस्तित्व हेतु जनसंख्या की निरन्तरता आवश्यक है। समाज अपनी निरन्तरता को बनाए रखने के लिए निम्नलिखित तीन प्रकार्यो को सुनिश्चित करता है:

(क) भरण पोषण की व्यवस्था - जनसंख्या के जीवन यापन के लिए भोजन अति आवश्यक है। किसी भी समाज के सदस्य बिना भोजन के जीवित नहीं रह सकते हैं।

(ख) आघात से सुरक्षा - अनेक प्रकार की प्राकृतिक विपदाओं एवं अन्य आघातों से रक्षा के लिए साधनों और व्यवस्थाओं का निर्माण समाज ही करता है। समस्त जीव आपसी सहयोग और सूझबूझ से प्राकृतिक विपदाओं और अन्य आघातों से अपनी सुरक्षा करते हैं।

(ग) प्रजनन कार्य - समाज की निरन्तरता के लिए प्रजनन (Reproduction) कार्य अति आवश्यक है।

2.4.2 जनसंख्या में श्रम विभाजन

विशेषीकरण या श्रम विभाजन सभी प्रकार के समाजों में पाया जाता है। श्रम विभाजन के कारण समाज के सदस्यों का पद निर्धारण होता है। दूसरे शब्दों में विभिन्न पदों के अनुसार ही सदस्यों के कार्य या भूमिका का निर्धारण होता है। आधुनिक युग की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कार्य निर्धारण समाज की अनिवार्य आवश्यकता है।

2.4.3 सामूहिक एकता

किसी समूह की एकता उसके सदस्यों के सहयोग पर आधारित है। जिस समाज के सदस्यों का आपसी सम्बन्ध जितना ही सहयोग पर आधारित होगा, वह समाज उतना ही दृढ़ होगा। इसी कारण सदस्यों को सहयोगात्मक अन्तःक्रिया हेतु प्रेरित किया जाता है। इस सहयोगात्मक अन्तःक्रिया के कारण एक समूह का दूसरे समूह से भेदभाव भी पाया जाता है।

2.4.4 सामाजिक व्यवस्था में स्थायित्व होना

प्रत्येक समाज की अपनी अलग-अलग व्यवस्था होती है। किसी सामाजिक संगठन को देखकर उस समाज के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है। प्रत्येक समाज की सामाजिक व्यवस्था एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को निरन्तर गतिमान रहती है।

जिसबर्ट ने किसी समाज के तीन प्रमुख तत्वों का उल्लेख किया है।

1. सादृश्यता ;
2. सामान्यता ;
3. सहयोग ;

2.5 समाज निर्माण की आवश्यक दशाएं

समाज सामाजिक सम्बन्धों की एक निश्चित व्यवस्था है| सामाजिक और मानसिक सम्बन्धों की स्थापना से समाज का निर्माण होता है। परन्तु समाज के निर्माण के लिए सामाजिक सम्बन्धों के साथ-साथ एक निश्चित व्यवस्था भी आवश्यक है।

के. डेविस के अनुसार, ''यह ध्यान देने योग्य बात है कि सामाजिक सम्बन्ध ही समाज नहीं है, बल्कि जब सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था होती है तब उसे समाज कहा जाता है।''

के. डेविस ने समाज निर्माण हेतु चार प्रकार की परिस्थितियों या दशाओं का वर्णन किया हैः

1. समाज की रक्षा
2. समाज में कार्य-विभाजन
3. समूह की एकता
4. सामाजिक व्यवस्था में स्थिरता

2.5.1 समाज की रक्षा

समाज की रक्षा से तात्पर्य उन परिस्थितियों से है जो कि समाज के सदस्यों को जीवित रखने में सहयोग देते हैं । इसके लिए पालन-पोषण की निश्चित व्यवस्था का होना आवश्यक होता है। साथ ही साथ ऐसी परिस्थितियाँ भी होनी चाहिए जिससे समाज को प्राकृतिक आपदाओं एवं परेशानियों से संरक्षण मिल सके। इसके अतिरिक्त ऐसी परिस्थितियाँ भी होनी चाहिए जिससे विषमलिंगीय सम्बन्ध स्थापित हों और नवीन जीव की उत्पत्ति हो सके तथा नयी-नयी पीढ़ियाँ विकसित होती रहे ।

2.5.2 समाज में कार्य विभाजन

समाज में कार्य विभाजन के अन्तर्गत ऐसी दशायें होनी चाहिए जिसमें समाज के सभी सदस्य श्रम विभाजन के द्वारा विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहे। यह विशेषीकरण की क्रिया के द्वारा सम्भव होता है। यही विशेषीकरण सामाजिक व्यवस्था का आधार है। विभिन्न समाजों में विशेषीकरण की मात्रा अलग-अलग होती है। इसीलिए विभिन्न समाज एक-दूसरे की अपेक्षा कम या अधिक व्यवस्थित होते हैं।

2.5.3 समूह की एकता

समाज निर्माण की दृष्टि से समूह की एकता परमावश्यक है| इसके लिए समूह के सदस्यों के मध्य सम्बन्धों की स्थापना हेतु प्रेरक तत्वों का होना आवश्यक है। सदस्यों के बीच में सहयोग, सहानुभूति, अपनत्व की भावना होनी चाहिए। समूह के सदस्यों के मध्य ''हम की भावना'' होनी चाहिए।

2.5.4 सामाजिक व्यवस्था में स्थिरता

समाज को संगठित रखने के लिए ऐसी दशायें होनी चाहिए जिससे समाज में स्थिरता एवं निरन्तरता बनी रहे। इसके लिए समाज को व्यवस्थाओं और नियमों की आवश्यकता होती है एवं उसके संचालन के लिए कुशल नेतृत्व भी होना चाहिए।

2.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत निष्कर्षतः समाज के अर्थ एवं परिभाषाओं का अध्ययन किया। तत्पश्चात् सामज के आवश्यक तत्व के विषय में जानकारी प्राप्त की। समाज निर्माण के लिए आवश्यक दशाओं के विषय में अध्ययन किया। सामाजिक व्यवस्था, सामूहिक एकता के विषय में ज्ञान प्राप्त किया।

2.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. समाज की अर्थ एवं परिभाषाओं का वर्णन कीजिए।
2. समाज के आवश्यक तत्वों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
3. समाज निर्माण की आवश्यक दशाओं की चर्चा कीजिए।

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।
2. लवानिया, एम.एम. एवं राठौड़, ए.एस. (1999) भारतीय समाज, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
3. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा
4. गुप्ता, एम. एल. एवं शर्मा डी.डी., मानव समाज, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2001।
5. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।
6. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर

7. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

8. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर

इकाई -3

सामाजिक प्रक्रियायें व तत्व

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.3 सामाजिक प्रक्रिया व तत्व

3.3.1 सहयोग

3.3.2 प्रतिस्पर्धा

3.3.3 संघर्ष

3.3.4 व्यवस्थापन

3.4 सारांश

3.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप -

1. सामाजिक प्रक्रिया व तत्वों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
2. सहयोग, प्रतिस्पर्धा के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेंगे|
3. संघर्ष तथा व्यवस्थापन के अर्थ को समझ सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में भारतीय समाज की प्रक्रियाओं तथा उसके स्वरूपों के विषय पर विचार किया गया है। सामाजिक प्रक्रियाएँ किसी समाज के लिए इतनी मूलभूत हैं कि इनको समझे बिना मानव समाज को समझ पाना असम्भव है | सामाजिक प्रक्रियाओं से हमारा तात्पर्य अन्तःक्रिया करने के उन तरीकों से है, जिन्हें हम उस समय अवलोकन कर सकते हैं जब व्यक्ति तथा समूह परस्पर मिलते हैं तथा सम्बन्धों की एक व्यवस्था स्थापित करते हैं या पूर्व प्रचलित जीवन के तरीकों में व्यवधान घटित होता है। समाज में मूलतः पांच प्रकार या स्वरूपों की सामाजिक प्रक्रियाएं पायी जाती हैं – सहयोग ,प्रतियोगिता ,संघर्ष ,समायोजन तथा सात्मीकरण |

3.3 सामाजिक प्रक्रिया व तत्व

व्यक्ति के जीवन के दो प्रमुख आधार हैं - प्राणिशास्त्रीय तथा सामाजिक। वंशानुक्रम से शारीरिक विशेषतायें प्राप्त होती हैं, जबकि सामाजिक गुणों का विकास, सामाजिक अन्तःक्रिया द्वारा होता है। इसी कारण उसे सामाजिक प्राणी कहा जाता है क्योंकि उसका अस्तित्व पूर्णतया समाज पर निर्भर है। परन्तु दोनों में किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित होता है तथा दोनों में अन्तःक्रिया का क्या स्वरूप् होता है यह ज्ञान सामाजिक प्रक्रियाओं को समझने से ही ज्ञात हो सकता है। प्रक्रिया जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पायी जाती है। सामाजिक प्रक्रियाओं के अनिवार्य तत्व हैं:

(1) घटनाओं का क्रम ,

(2) घटनाओं की पुनरावृत्ति

(3) घटनाओं के मध्य सम्बन्ध

(4) घटनाओं की निरन्तरता

(5) विशिष्ट परिणाम

सामाजिक प्रक्रिया की परिभाषा

गिलिन और गिलिन के अनुसार, ''सामाजिक प्रक्रियाओं से हमारा तात्पर्य अन्तःक्रिया करने के उन तरीकों से है, जिन्हें हम उस समय अवलोकन कर सकते हैं जब व्यक्ति तथा समूह परस्पर मिलते हैं तथा सम्बन्धों की व्यवस्था स्थापित करते हैं या पूर्व प्रचलित जीवन के तरीकों में परिवर्तन या व्यवधान घटित होता है।''

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, '' सामाजिक प्रक्रिया एक विधि है समूह के सदस्यों के सम्बन्ध एक विशिष्ट स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं।''

लुण्डवर्ग के अनुसार, ''प्रक्रिया का अर्थ एक अपेक्षाकृत विशिष्ट तथा पूर्वानुमानित परिणाम की और ले जाने वाली सम्बन्धित घटनाओं के अनुक्रम से है।''

गिन्सबर्ग के अनुसार, '' सामाजिक प्रक्रियाओं का अर्थ व्यक्तियों या समूहों के मध्य अन्तःक्रिया की विभिन्न विधियों से है , जिनमे सहयोग एवं संघर्ष , सामाजिक विभेदीकरण और एकीकरण ,विकास ,अवरोध एवं पतन सम्मिलित हैं | ''

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कह सकते हैं कि अन्तःक्रिया के विभिन्न स्वरूपों को सामाजिक प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है। ये प्रक्रियायें सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है और समाज में एक परिवर्तन या विशिष्ट परिणाम को जन्म देती है।किसी समाज में मूलभूत रूप से सयोग , संघर्ष , प्रतिस्पर्धा, समायोजन तथा सात्मीकरण आदि सामाजिक प्रक्रियाएँ अंतःक्रिया के रूप में घटित होते हैं |

3.3.1 सहयोग

सामाजिक प्रक्रियाओं में सहयोग सबसे अधिक व्यापक तथा अबाध प्रक्रिया है| सहयोग व्यक्ति की जन्मजात आवश्यकता है। उसका अस्तित्व, विकास तथा जीवन सहयोग पर निर्भर है। भूख व्यक्ति की मौलिक आवश्यकता है, इसकी संतुष्टि के लिए उसे किन-किन व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है, यह सभी जानते हैं। इसी प्रकार उसकी बहुत-सी आवश्यकतायें है जिनकी संतुष्टि के लिए दूसरों का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक

है।अंग्रेजी भाषा का शब्द 'Co-operation' दो लैटिन शब्दों 'CO'अर्थात इकट्ठे तथा 'operari' अर्थार्त 'काम करना 'से मिलकर बना है |इस प्रकार सहयोग सामान्य उद्देश्यों या सहभागी हितों की प्राप्ति के लिए संयुक्त क्रिया है|सहयोग एक चेतन प्रक्रिया है जिसमें सहयोग करने वाले व्यक्ति या समूह एक –दूसरे के प्रति जागरूक रहते हैं |

सहयोग का अर्थ

सहयोग का अर्थ स्पष्ट करने के लिए यहाँ महत्वपूर्ण परिभाषाओं का उल्लेख किया जा रहा है:-

ग्रीन, ए डब्लू के अनुसार, ''सहयोग-दो या अधिक व्यक्तियों के किसी कार्य को करने या किसी सामान्य रूप से इच्छित लक्ष्य पर पहुँचने को निरन्तर एवं सम्मिलित प्रयत्न को कहते हैं।''

आगबर्न तथा निमकाफ के अनुसार, '' जब व्यक्ति समान उद्देश्य के लिए एक साथ कार्य करते हैं तो उनके व्यहार को सहयोग कहते हैं।''

फेयरचाइल्ड, एच. पी. के अनुसार, ''सहयोग वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एकाधिक व्यक्ति या समूह अपने प्रयत्नों को बहुत कुछ संगठित रूप में सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संयुक्त करते हैं।''

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि सहयोग व्यक्ति की मौलिक आवश्यकता है क्योंकि इससे उसकी आवश्यकताओं की संतुष्टि तथा उद्देश्यों की पूर्ति होती है। व्यक्ति चेतन रूप से सहयोगिक क्रिया में भाग लेता है।

अर्थात सहयोग चेतन अवस्था है जिसमें संगठित एवं सामूहिक प्रयत्न किये जाते हैं क्योंकि समान उद्देश्य होता है। सभी का भागीकरण होता है, क्रियाओं एवं विचारों का आदान-प्रदान होता है। अन्तःक्रिया सकारात्मक होती है तथा सहायता करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। सहयोग में भाग लेने वाले व्यक्ति उत्तरदायित्व पूरा करते हैं। परन्तु उसके निश्चित प्रतिमान होते हैं।

सहयोग की आवश्यक शर्तें

सहयोग तभी प्राप्त किया जा सकता है जब उसकी आवश्यक शर्तें पूरी हों। यह आवश्यक शर्तें हैं:-

1. समान उद्देश्य -- व्यक्ति सहयोग के लिए तभी तत्पर होते हैं जब उनके उद्देश्य में समानता हो। उदाहरण के लिए किसी संगठन का सदस्य इसलिए बनता है क्योंकि उससे उसके हितों की पूर्ति होती है।

2. सहमति - सहयोग के लिए आवश्यक है कि दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी विशेष उद्देश्य के लिए एकमत हों। सामूहिकता की भावना अत्यन्त आवश्यक होती है। इस भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति दूसरे से समन्वय स्थापित करते तथा कार्य की पूर्ति के लिए सहयोग करते हैं।

3. सामूहिक प्रयत्न - सामूहिक प्रयत्नों के द्वारा ही व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए विकास एवं उन्नति कर सकते हैं।

4. समान इच्छा - सहयोग के लिए आवश्यक है कि सहयोग करने वाले व्यक्तियों की समान इच्छा हो तथा मानसिक रूप से सहयोग करने के लिए तत्पर हों।

5. प्रेम एवं सद्भावना - सहयोग प्रक्रिया प्रेम तथा सद्भावना पर आश्रित है। जितना अधिक परस्पर प्रेम होगा, सहयोग उतना ही अधिक होगा।

6. व्यवहारों में एकरूपता – सहयोग के लिए सामूहिक प्रयत्न आवश्यक है , जिसके लिए आपस में सहयोग करने वाले व्यक्तियों के व्यवहार में एकरूपता होनी चाहिए ।

7. सम्बन्धों की घनिष्ठता - सम्बन्धों की प्रगाढ़ता सहयोग के प्रकार को निश्चित करती हैं जितने ही सम्बन्ध घनिष्ठ होते हैं उतना ही सहयोग अधिक प्राप्त होता है।

8. अन्तःक्रिया - बिना अन्तःक्रिया के सहयोग का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता है। व्यक्ति हाव-भाव, शब्द, शारीरिक गति आदि द्वारा एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

सहयोग के प्रकार

ग्रीन ने सहयोग के निम्नलिखित तीन प्रकारों का वर्णन किया है:-

1. प्राथमिक सहयोग – इस प्रकार का सहयोग प्राथमिक सम्बन्धों या प्राथमिक समूहों में पाया जाता है। परिवार तथा मित्र मण्डली, इसके प्रमुख उदाहरण हैं। इस प्रकार का सहयोग में व्यक्ति तथा समूह के स्वार्थों में कोई भिन्नता नहीं होती है। इस प्रकार का सहयोग में त्याग की भावना प्रधान होती है|

2. द्वितीयक सहयोग-- इस प्रकार का सहयोग जटिल समाजों में पाया जाता है। इस प्रकार का सहयोग द्वितीयक समूहों में पाया जाता है, जिसमें औपचारिकता अधिक होती है और व्यक्तिगत हितों की प्रधानता होती है। सरकार, स्कूल, आफिस, कारखाने आदि में द्वितीयक सहयोग पाया जाता है।

3. तृतीयक सहयोग- इस प्रकार का सहयोग किसी विशेष इस्थिति का सामना करने या किसी विशेष उद्देश्य प्राप्ति तक किया जाता है। ये लक्ष्य या उद्देश्य बिल्कुल अस्थायी होता है। इस प्रकार का सहयोगकी प्रकृति अस्थिर होती है | इस प्रकार का सहयोग में सम्मिलित लोगों का दृष्टिकोण में अवसर की प्रधानता होती है। चुनाव जीतने के लिए भिन्न पार्टियों में सहयोग या लड़ाई के समय विभिन्न पार्टियों में सहयोग तृतीयक सहयोग होता है।

मैकाइवर तथा पेज ने सहयोग के दो प्रकार बतायें हैं:-

(1) प्रत्यक्ष सहयोग , (2) परोक्ष सहयोग |

इन दोनों प्रकारों के सहयोग की वही विशेषता है जो प्राथमिक तथा द्वितीयक सहयोग की है।

सहयोग के स्वरूप

सहयोग की आवश्यकता प्रत्येक क्षेत्र में होती है। जितने प्रकार की क्रियायें होती हैं सहयोग भी उतने प्रकार का होता है। सामान्यतः सहयोग के निम्न स्वरूप हैं:-

1. सामाजिक सहयोग
2. मनोवैज्ञानिक सहयोग
3. सांस्कृतिक सहयोग
4. शैक्षिक सहयोग
5. आर्थिक सहयोग

सहयोग का महत्व

मानव जीवन की सुरक्षा, उन्नति तथा विकास के लिए सहयोग आवश्यक प्रक्रिया है। इसका महत्व जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है।

1. सामाजिक क्षेत्र में - सामाजिक क्षेत्र में सहयोग से व्यक्ति में सामाजिक गुण विकसित होते हैं।व्यक्ति व्यवहार करना सीखता है। सामाजिक सम्बन्धों का विकास होता है।सामाजिक व्यवस्था बनी रहती है।सामाजिक संगठन कार्य करने में सक्षम होते हैं।

2. मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में - मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ विकसित होती है। व्यक्ति में निर्णय करने की क्षमता आती है। व्यक्ति का सांवेगिक पक्ष दृढ़ होता है। व्यक्ति का प्रत्यक्षीकरण उचित दिशा में होता है। व्यक्ति समस्याओं का समाधान करना सीखता है।

3. सांस्कृतिक क्षेत्र में - संस्कृति का विकास होता है।संस्कृति की रक्षा होती है। सांस्कृतिक परिवर्तन सहयोग पर निर्भर है।सांस्कृतिक गुण सहयोग से आते हैं।

4. शैक्षिक क्षेत्र में - शैक्षिक क्षेत्र में सभी प्रकार का सीखने तथा समझने की प्रक्रिया सहयोग पर निर्भर है। शैक्षणिक उन्नति का आधार सहयोग है।अर्जित ज्ञान की रखा सहयोग पर निर्भर है।

5. आर्थिक क्षेत्र में –व्यक्ति अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति सहयोग द्वारा ही कर सकता है। देश का आर्थिक विकास सहयोग पर निर्भर है।

3.3.2 प्रतिस्पर्धा या प्रतियोगिता

नगरीकरण, औद्योगीकरण तथा श्रम विभाजन के फलस्वरूप प्रतिस्पर्धा का विकास हुआ है। आधुनिक समाजों में यह प्रक्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गयी है। क्योंकि वस्तुयें सीमित होती जा रही हैं तथा उसके प्राप्त करने वाले दिनों दिन बढ़ते जा रहे हैं। अतः उनमें एक प्रकार की होड़ लगी हुई है जिसे प्रतिस्पर्धा के नाम से जाना जाता हैं। इससे स्पष्ट होता है कि प्रतिस्पर्धा तभी होती है जब वस्तु सीमित मात्रा में उपलब्ध हो और उसको प्राप्त करने वालों की संख्या अधिक होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं, कि दो या दो से अधिक व्यक्तियों में सामान्य परन्तु सीमित मात्रा वाले उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किये गये प्रयत्न को प्रतिस्पर्धा कहते हैं।

प्रतिस्पर्धा या प्रतियोगिता का परिभाषाएँ

बोगार्डस, ई. एस. के अनुसार, ‘‘प्रतिस्पर्धा किसी ऐसी वस्तु को प्राप्त करने की एक प्रतियोगिता(contest) को कहते हैं जो कि इतनी मात्रा में नहीं पाई जाती जिससे मांग की पूर्ति हो सके।

फिचर. जे. एच. के अनुसार, ‘‘प्रतिस्पर्धा एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें दो या दो अधिक व्यक्ति अथवा समूह समान उद्देश्य प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

ग्रीन, ए. डब्लू. के अनुसार, ‘‘प्रतिस्पर्धा में दों या अधिक समूह एक ही उद्देश्य के लिए प्रयत्न करती है जिसमें कोई भी एक समूह दूसरे समूह के साथ बांटने के लिए तैयार नहीं होता है अथवा उम्मीदवार नहीं है।

फेयरचाइल्ड के अनुसार, ‘‘प्रतियोगिता सीमित वस्तुओं के उपभोग के अधिकार के लिए किया जाने वाले परिश्रम को कहते हैं |’’

प्रतिस्पर्धा में यद्यपि व्यक्तियों या समूहों का लक्ष्य एक होता है परन्तु सम्मिलित प्रयत्न नहीं होते हैं यदि होते भी हैं तो उसमें स्वार्थ की भावना अधिक होती है। जो भी व्यवहार उस समय होता है वह अर्थपूर्ण तथा नियोजित होता है। आन्तरिक घृणा तथा संघर्ष की स्थिति होती है। ‘हम भावना’ के स्थान पर ‘परभावना’ महत्वपूर्ण कार्य करती है। कभी-कभी प्रतिस्पर्धा में भाग लेने वाले लोगो को प्रतिस्पर्धा में सम्मिलित सभी प्रतियोगियों के

विषय में न तो जानकारी होती है और न ही प्राप्त की जा सकती है उदाहरणार्थ प्रतियोगी परीक्षा में सम्मिलित प्रतियोगी|

प्रतिस्पर्धा या प्रतियोगिता के निर्धारक

प्रतिस्पर्धा के लिए निम्न दशाओं का होना अनिवार्य होता है:-

1. वस्तु या स्थान की सीमित मात्रा
2. वस्तु या स्थान का महत्व
3. समूह की संरचना
4. समाज में प्रतिस्पर्धात्मक मूल्य व्यवस्था
5. भौतिकवादी दृष्टिकोण
6. जटिल समाज
7. व्यक्तिगत गुणों का महत्व

प्रतिस्पर्धा या प्रतियोगिता की विशेषताएं

1. प्रतिस्पर्धा सार्वभौमिक है अर्थात यह सभी समाजों में पाई जाती है।
2. प्रतिस्पर्धा अवैयक्तिक प्रक्रिया या संघर्ष है |
3. प्रतिस्पर्धा अचेतन प्रक्रिया है।
4. प्रतिस्पर्धा एक अचेतन प्रक्रिया है |
5. वैयक्तिक गुणों का महत्व होता है तथा इसमें जन्म एवं जाति का महत्व कम हो जाता है।
6. प्रतिस्पर्धा में असहयोगी सम्बन्ध अधिक पाये जाते हैं।
7. प्रतिस्पर्धा में यद्यपि पूर्ण संघर्ष की स्थिति नहीं होती है परन्तु व्यक्ति का व्यवहार विरोधात्मक होता है।
8. प्रतिस्पर्धा में स्वार्थपरता अधिक होती है।
9. प्रतिस्पर्धा में व्यक्ति के स्थान पर उसके प्रयत्नों से ईर्ष्या होती है।
10. क्षमता तथा योग्यता के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति प्रतिस्पर्धा में भाग ले सकता है।
11. नगरीकरण बढ़नें से प्रतिस्पर्धा बढ़ती है।
12. भौतिकवादी दृष्टिकोण प्रतिस्पर्धा की गति तेज कर रहा है।

प्रतिस्पर्धा के प्रकार

साधारणतया प्रतिस्पर्धा दो प्रकार की होती है:

1. वैयक्तिक प्रतिस्पर्धा - वैयक्तिक प्रतिस्पर्धा में प्रतियोगिता के सम्बन्ध में ज्ञान रहता है। उदाहरण के लिए कक्षा में प्रथम आने वाले विद्यार्थियों के बीच होने वाली प्रतिस्पर्धा वैयक्तिक होती है।

2. अवैक्तिक प्रतिस्पर्धा -अवैयक्तिक प्रतिस्पर्धा में प्रतियोगिता का ज्ञान नहीं होता है केवल उद्देश्य महत्वपूर्ण होता है। विभिन्न प्रकार की प्रतियोगितायें इसकी उदाहरण हैं।

प्रतिस्पर्धा के स्वरूप

प्रतिस्पर्धा निम्न क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान दे रही है या उसके निम्न स्वरूप हैं:

- आर्थिक प्रतिस्पर्धा
- जातीय और प्रजातीय प्रतिस्पर्धा
- राजनैतिक प्रतिस्पर्धा
- सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा

प्रतिस्पर्धा के प्रकार्य

गिलिन तथा गिलिन ने प्रतिस्पर्धा के निम्नलिखित मुख्य प्रकार्य बतायें हैं:

1. प्रतिस्पर्धा में भाग लेने वाले व्यक्तियों तथा समूहों की इच्छायें अधिक अच्छे ढंग से संतुष्ट होती है।यदि मानव कोई इच्छा रखता है और उसकी संतुष्टि प्रतिस्पर्धा में भाग लेकर हो जाती है तो वह सामान्य से अधिक संतोष प्राप्त करता है।
2. प्रतिस्पर्धा विभिन्न प्रकार्यात्मक समूहों में सक्षम लोगों का चयन करती है । प्रतिस्पर्धा के द्वारा लैंगिक तथा सामाजिक चयन अधिक सुचारू रूप से हो सकता है। प्रतिस्पर्धा द्वारा श्रम –विभाजन तथा विशेषीकरण को प्रोत्साहन मिलता है |

प्रतिस्पर्धा के परिणाम

1. संगठनात्मक परिणाम
    - नये संघों, संगठनों का निर्माण
    - उच्च एवं अच्छी सेवा
    - कार्य के स्तर में वृद्धि
    - कीमतों में कमी
    - नये ज्ञान में वृद्धि
    - सहकारिता की भावना का विकास
    - नवीन खोजें तथा समस्या के समाधान के नये तरीके

2. विघटनात्मक परिणाम

- संघर्ष की स्थिति का प्रारम्भ
- असामाजिक तथा जाल फरेब
- झूठ का बोल बाला

- हिंसा का उपयोग
- कानूनी तरीकों का अतिक्रम
- मान हानि का प्रयत्न
- नकली वस्तुओं के निर्माण में वृद्धि
- दिखावापन

3. व्यक्तित्व के संदर्भ में परिणाम

- सामाजिक भावनाओं का विकास
- सम्पर्क में वृद्धि
- उदार दृष्टिकोण
- मानसिक संतुष्टि

4. उन्नति के संदर्भ में परिणाम

- प्रतिस्पर्धा में समाज समायोजित बना रहता है।
- अधिक से अधिक उन्नति होती।
- जीवन का प्रत्येक क्षेत्र विकसित होता है।
- व्यक्ति में चुस्ती एवं ताजगी बनी रहती है।
- वह सदैव दूसरों के क्रियाओं को जानने के लिए सचेत रहता है।
- भौतिक तथा सामाजिक उन्नति होती है।

5. सामूहिक एकरूपता के संदर्भ में परिणाम

- जब तक उचित स्पर्धा रहती है तब तक सामूहिक एकरूपता बनी रहती है।
- अनुचित स्पर्धा होने पर संगठन को जोरदार धक्का लगता है।
- कभी –कभी प्रतिस्पर्धा के कारण सम्बन्धों में कमी आती है।
- व्यक्ति में एकांगी दृष्टिकोण विकसित हो जाता है।

प्रतिस्पर्धा का महत्व

सामाजिक विकास एवं वैयक्तिक उन्नति के लिए प्रतिस्पर्धा आवश्यक है। क्योंकि इससे -

- जिस वस्तु के लिए प्रतिस्पर्धा की जाती है उस वस्तु की उपयोगिता का ज्ञान होता है।
- व्यक्ति के ज्ञान में वृद्धि होती है।
- समाज में नवीन आविष्कार एवं अनुसंधान होते हैं।
- व्यक्ति के व्यक्तित्व का समुचित विकास होता है।

- व्यक्ति अधिक मेहनत करता है।
- कार्य योग्य व्यक्तियों द्वारा करने से अच्छा होता है।
- विशेषीकरण को प्रोत्साहन मिलता है।
- मनोवैज्ञानिक संतुष्टि होती है।
- उत्साह का संचार होता है।
- अन्तः क्रियाएं गतिशील होती हैं।

यद्यपि प्रतिस्पर्धा जीवन का महत्वपूर्ण अंग है परन्तु उस पर नियन्त्रण होना आवश्यक होता है। असीमित एवं अनियंत्रित प्रतिस्पर्धा से अनेक बुराईयां उत्पन्न हो जाती हैं। संगठन शक्ति का ह्रास होने लगता है, एकाधिकार विकसित हो जाता है, वर्गों में संघर्ष होने लगता है तथा गरीब गरीब होते चले जाते हैं। अतः प्रतिस्पर्धा पर नियन्त्रण होना आवश्यक है।

3.3.3 संघर्ष

समाज में संघर्ष उस समय उत्पन्न होता है जब प्रतियोगियों का ध्यान अभीष्ट उद्देश्यों या लक्ष्य से हटकर व्यक्तियों तथा समूहों पर केन्द्रित हो जाता है। प्रतिद्वंदी सदैव एक दूसरे को उचित-अनुचित सभी साधनों के द्वारा पराजित करने या हानि पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक एकीकरण में बाधा पहुंचती है तथा विघटन की प्रक्रिया कार्य करने लगती है।

संघर्ष का अर्थ एवं परिभाषा

संघर्ष एक सामाजिक प्रक्रिया है जो सभी समाजों में पायी जाती है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति अथवा समूह किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दूसरे व्यक्तियों अथवा समूहों को रोकने का प्रयत्न करते हैं।

ग्रीन, ए. डब्लू. के अनुसार, ‘‘संघर्ष किसी अन्य व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की इच्छा का जानबूझकर विरोध करने, उसे रोकने अथवा उसे शक्तिपूर्वक पूर्ण कराने से सम्बन्धित प्रयत्न है।

गिलिन एण्ड गिलिन के अनुसार, ‘‘संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें एक व्यक्ति अथवा समूह अपने उद्देश्य की प्राप्ति अपने विरोधी के प्रति प्रत्यक्षतः हिंसात्मक तरीके अपना कर अथवा उसे हिंसात्मक तरीका अपनाने की धमकी देकर अपने उद्देश्यों की पूर्ति करना चाहता है।’’

संघर्ष प्रतिकूलता के पश्चात् प्रारम्भ होता है। स्वार्थपरता बढ़ने से व्यक्ति एक-दूसरे को हानि पहुँचाने लगता है। इसके विरोध में दूसरा व्यक्ति अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करता है और उसको हानि पहुंचाने से रोकता है। जिससे मनोवैज्ञानिक स्तर पर संघर्ष की रूपरेखा बनती है तथा अवसर आने पर प्रत्यक्ष संघर्ष होने लगता है।

संघर्ष के कारण

गिलिन एण्ड गिलिन ने संघर्ष के कारणों को निम्नलिखित आधारों पर स्पष्ट किया हैं:-

1. व्यक्तिगत विभेद - दो व्यक्तियों के बीच स्वभाव , दृष्टिकोण ,विचारों तथा मूल्यों आदि का अंतर संघर्ष का कारण बनता है |

2. सांस्कृतिक विभेद – समाज के दो समूहों के सांस्कृतिक विभेद के कारण उनमें आपस में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है |
3. हितों का संघर्ष- दो व्यक्तियों या समूहों के हित जब आपस में टकराते हैं तो उनमे संघर्ष होता है |
4. सामाजिक परिवर्तन- जब समाज के एक भाग में परिवर्तन होता है और दूसरा भाग पीछे रह जाता है, जिससे एक सामाजिक असंतुलन की स्थिति उत्पन्न होती है और संघर्ष पनपता है |

संघर्ष की प्रकृति

संघर्ष एक चेतन व्यक्ति, निरन्तर चलने वाली तथा सार्वभौमिक प्रक्रिया है।

1. संघर्ष एक चेतन प्रक्रिया है| संघर्ष में प्रतिद्वन्दियों को एक-दूसरे के बारे में पूरा ज्ञान होता है।
2. संघर्षरत व्यक्ति उद्देश्य व लक्ष्य प्राप्त करने के साथ-साथ अपने विरोधी का दमन भी करना चाहता है।
3. संघर्ष में व्यक्ति अपनी शक्ति का अधिकाधिक उपयोग करता है।
4. संघर्ष में प्रायः व्यक्ति के संवेग (क्रोध) तेज होते हैं।
5. संघर्ष द्वारा व्यक्ति की सतर्कता में वृद्धि होती है।
6. संघर्ष में स्थितियों का सूक्ष्म से सूक्ष्म विश्लेषण होता है।
7. संघर्ष में व्यक्ति प्रधान होता है।
8. संघर्ष में व्यक्ति लक्ष्य विरोधी होने की दशा की ओर अग्रसित होते हैं।
9. संघर्ष में व्यक्ति द्वारा नियम व कानूनों का उल्लंघन होता है।
10. संघर्ष में व्यक्ति द्वारा विरोधी का दमन होता है।
11. संघर्ष में व्यक्ति की शक्ति का ह्रास होता है।
12. समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया सदैव चलती रहती है अतः समाज में संघर्ष भी निरंतर चलता रहता है।
13. समाज में संचय की प्रवृत्ति का बढ़ना भी संघर्ष उत्पन्न करती है।

संघर्ष के प्रकार

समाज में संघर्ष के निम्नलिखित प्रमुख प्रकार हैं:-

1. वैयक्तिक संघर्ष: एक ही समूह के दो सदस्यों के बीच संघर्ष व्यक्तिक होता है| यह संघर्ष निजी स्वार्थों के कारण होता है। इससे समूह को कोई लाभ नहीं होता अतः हर सम्भव प्रयत्न संघर्ष रोकने के लिए किया जाता है।
2. प्रजातिय संघर्ष: विभिन्न प्रजातियों में एक-दूसरे से श्रेष्ठता और हीनता की भावना के कारण यह संघर्ष होता है। जैसे- संयुक्त राज्य अमेरिका में नीग्रो व श्वेत प्रजातीय संघर्ष आदि।
3. वर्ग संघर्ष: दो वर्गों के बीच का संघर्ष वर्ग संघर्ष कहलाता है| इसका प्रमुख कारण इनके हितों का टकराव या एक वर्ग का दूसरे वर्ग द्वारा शोषण है |

4. राजनैतिक संघर्षः यह दो प्रकार का होता है। देश के अन्दर तथा अन्तर्राष्ट्रीय। पहला संघर्ष देश में विभिन्न दलों के मध्य होता है तथा दूसरा संघर्ष युद्ध होता है।

2.3.4 व्यवस्थापन

समाज में संघर्ष सदा विद्यमान रहा है परन्तु इस संघर्ष की दशा से समाज की रक्षा करने हेतु समाज में व्यवस्थापन या समायोजन की प्रक्रिया अपनाई जाती है |व्यवस्थापन समाज में एकीकरण करने वाली प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया संघर्ष के पश्चात् अथवा संघर्ष टालने के लिए उपयोग में लायी जाती है। व्यवस्थापन की दशा में आपस में संघर्षरत दोनों पक्ष अपने-अपने विचारों में परिवर्तन एक दूसरे की इच्छानुसार कर लेते हैं।

अर्थ एवं परिभाषा

गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, ''व्यवस्थापन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रतियोगी तथा संघर्षरत व्यक्ति और समूह एक दूसरे के साथ अपने सम्बन्धों को अनुकूल करते हैं, जिससे प्रतिस्पर्धा, अतिक्रमण या संघर्ष के कारण उत्पन्न कठिनाइयों को पार किया जा सके।''

जोन्स, ई. एम. के अनुसार, ''एक अर्थ में व्यवस्थापन असहमत रहने के लिए समझौता कहा जा सकता है।''

आगर्बन तथा निम्काफ ने व्यवस्थापन प्रक्रिया को विश्लेषित करते हुए लिखा है कि, ''संघर्ष समूह की एकता को धक्का पहुंचता है अतः इसको रोकने के लिए व्यवस्थापन प्रयोग किया जाता है।''

व्यवस्थापन एक ऐसा यंत्र व साधन है जिसके द्वारा विरोधात्मक तथा संघर्षात्मक विचारों का समन्वय, समझौते तथा हस्ताक्षेप के द्वारा होता है। इससे विचारों में परिवर्तन आता है तथा नये विचारों का विकास होता है।

व्यवस्थापन की प्रकृति

व्यवस्थापन एक चेतन तथा निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। इन विशेषताओं को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है:-

1. व्यस्थापन संघर्ष का परिणाम है |
2. यह एक अचेतन क्रिया है |
3. समायोजन की प्रक्रिया सार्वभौमिक है |
4. यह एक निरंतर प्रक्रिया है |
5. समायोजन प्रेम तथा घृणा दोनों का मिश्रण है |

3.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई में भारतीय समाज की विशेषताओं के बारे में ज्ञान प्राप्त किया। सामाजिक प्रक्रिया व तत्वों के विषय में भी इसी इकाई में अध्ययन किया तथा इसके पश्चात् सहयोग, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष तथा व्यवस्थापन के अर्थ को समझा, उसकी परिभाषाओं तथा विशेषताओं के विषय में अध्ययन किया।

3.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सामाजिक प्रक्रिया से आप क्या समझते है ? चर्चा कीजिए।

2.सामाजिक प्रक्रिया में सहयोग की भूमिका का उल्लेख कीजिए।

3.प्रतिस्पर्धा और संघर्ष में अंतर स्पष्ट कीजिए।

4.सहयोग एवं व्यवस्थापन में अंतर स्पष्ट कीजिए।

3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अहूजा, आर (1999) सामाजिक समस्याएं, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
2. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
3. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
4. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
5. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर
6. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स: नई दिल्ली
7. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।
8. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा
9. गुप्ता, एम. एल. एवं शर्मा डी.डी., मानव समाज, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2001।
10. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।
11. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
12. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
13. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
14. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर।

इकाई -4

संस्कृति

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 संस्कृति

4.2.1 अर्थ एवं परिभाषा

4.3 संस्कृति की विशेषताएं

4.4 संस्कृति की प्रकृति

4.5 संस्कृति के मूल तत्व

4.6 सारांश

4.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

1. संस्कृति के अर्थ, परिभाषा तथा अवधारणा के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
2. संस्कृति की विशेषताओं को समझ सकेंगे।
3. संस्कृति की प्रकृति के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
4. संस्कृति के तत्वों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। संस्कृति के तत्वों में भाषा, भौतिक तत्व व वस्तुएं, सामंजस्य, मूल्य तथा आदर्श के विषय में अध्ययन कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में संस्कृति पर विचार किया गया है। संस्कृति समस्त भौतिक एवं अभौतिक तथ्यों की वह समग्रता है, जिसकी व्यक्ति सामाजिक प्राणी बनता है। संस्कृति कोई दैवी शक्ति न होकर मनुष्य की ही सृष्टि है और इसका अस्तित्व मनुष्यों द्वारा अतीत की विरासत के निरन्तर प्रतीकात्मक संचार पर निर्भर है। संस्कृति से तात्पर्य

एक ऐसे तत्व से है जो व्यक्ति को परिष्कृत करती है। संस्कृत शब्द 'संस्कार' से बना है जिसका तात्पर्य शुद्धि की क्रिया से है। संस्कृति के द्वारा व्यक्ति एक जैविकीय प्राणी से सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित होता है| संस्कृति में जो तत्व सम्मिलित है उनके अनुसार इसके अंदर जोड़ो और समूहों के रूप में लोगों के सम्बंध, मनुष्य के कार्य जिनमें भौतिक पदार्थ भी है और लाक्षणिक संकेतों के क्षेत्र में अपनी शक्ति का व्यव जिसमें भाषा, संगीत, कला में और मानव शरीर भी सम्मिलित है।

4.2 संस्कृति(Culture)

संस्कृति शब्द 'संस्कृत' से निकला हुआ प्रतीत होता है। संस्कृत का तात्पर्य परिष्कृत है। इस अर्थ में संस्कृति का तात्पर्य एक ऐसे तत्व से है जो व्यक्ति को परिष्कृत करती है। कुछ विचारकों का मत है कि संस्कृत शब्द 'संस्कार' से बना है जिसका तात्पर्य शुद्धि की क्रिया से है, व्यक्ति जैविकीय प्राणी के रूप में जन्म लेता है तथा संस्कृति के द्वारा सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित किया जाता है।

संस्कृति समस्त भौतिक एवं अभौतिक तथ्यों की वह समग्रता है, जिसे व्यक्ति समाज में सामाजिक प्राणी होने के कारण बनाता, सीखता तथा ग्रहण करता है। संस्कृति संग्रहित और निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। नए व्यवहार, नए विचार और नए अविष्कारों के आने से इसकी अभिवृद्धि और समृद्धि होती रहती है, इसीलिए संस्कृति कभी भी स्थिर नहीं रहती। संस्कृति में व्यवस्था रहती है, इसी संस्कृति के एक तत्व के बदलने से दूसरे तत्वों में भी परिवर्तन हो जाना स्वभाविक है।

4.2.1 अर्थ एवं परिभाषा

संस्कृति की अनेक परिभाषाएं, संस्कृति के अन्दर छिपे हुए अनेक तत्वों पर प्रकाश डालती है जो कि निम्नवत हैं:-

टाइलर के अनुसार, ''संस्कृति वह जटिल समग्रता है, जिसमें समाजगत ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, विधि (कानून), रस्म-रिवाज तथा लोगों की सभी प्रकार की क्षमताएं तथा आदतें सम्मिलित रहती हैं।''

हर्सकोविट्स केअनुसार, " संस्कृत पर्यावरण का मानव निर्मित भाग है |"

कून के अनुसार, ''संस्कृति उन विधियों का समुच्चय हैं, जिनके द्वारा मनुष्यए अपना जीवन व्यतीत करते हैं जो सीखने की प्रक्रिया द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होता रहता है| '' संस्कृति में जो तत्व सम्मिलित है उनका वर्णन करते हुए कून कहता है कि ''इसके अन्दर जोड़ो और समूहों के रूप में लोगों के सम्बन्ध, मनुष्य के कार्य जिनमें भौतिक पदार्थ भी है और लाक्षणिक संकेतों के क्षेत्र में अपनी शक्ति का व्यय जिसमें भाषा, संगीत, कलाये और मानव शरीर भी सम्मिलित हैं।''

बिडने के अनुसार, ''संस्कृति कृषि सम्बन्धी तथ्यों , प्राविधिक तथ्यों ,सामाजिक तथ्यों तथा मानसिक तथ्यों की उपज है |''

मोलिनोवस्की के अनुसार, ''संस्कृति जीवन व्यतीत करने की एक सम्पूर्ण विधि है जोकि व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करती है और उसे प्रकृति के बंधनों से मुक्त करती है।''

फेयरचाइल्ड के अनुसार, ''प्रतीकों द्वारा सामाजिक रूप से प्राप्त और संचारित सभी व्यवहार प्रतिमानों के लिए सामूहिक नाम 'संस्कृति' है।

हॉबल के अनुसार, ''संस्कृति सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों का कुल योग है, जो किसी समाज के सदस्यों की विशेषता है और जोकि प्राणीशास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं हैं।''

रॉल्फ लिंटन के अनुसार, ''एक समाज की संस्कृति अपने सदस्यों के लिए जीवन का ढंग है, विचारों और आदतों का संग्रह, जोकि वे सीखते हैं, सहभागी बनते है और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं।

4.3 संस्कृति की विशेषताएं

उपरोक्त परिभाषाओं के अध्ययन के पश्चात् संस्कृति की निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट हैं:-

1. संस्कृति सामाजिक सामाजिक विरासत है।

2. संस्कृति सीखी जाती है।

3. संस्कृति हस्तान्तरित की जाती है।

4. संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होते हैं।

5. प्रत्येक समाज की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है।

6. संस्कृति समूह के लिए आदर्श है।

7. संस्कृति में अनुकूलता की क्षमता पाई जाती है।

8.संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

9. संस्कृति मानव व्यक्तित्व के निर्माण में मौलिक होती है।

10.संस्कृति में अनुकूलन एवं एकीकरण का गुण पाया जाता है।

4.4 संस्कृति की प्रकृति

(1) संस्कृति में सामाजिक गुण तथा सहभागिता निहित होती है - यदि कोई एक व्यक्ति किसी कार्य को विशेष तरीके से करता है तो वह संस्कृति नहीं है | यह उसकी व्यक्तिगत आदत हो सकती है, संस्कृति का प्रतिमान नहीं।

संस्कृति कहे जाने के लिए किसी वस्तु या व्यवहार का किसी समूह या जनसंख्या के समग्र द्वारा स्वीकृत किया जाना आवश्यक है। उदाहरण के लिए लोगों के शिष्टाचार का तरीका जैसे - भोजन करने के हेतु टेबिल-शिष्टाचार, विवाह के अवसर पर स्वागत-सत्कार की पद्धति आदि, अतः ये हमारी संस्कृति के अंग हैं। जब हम समूह में किसी एक व्यवहार में सहभागी होते हैं अर्थात् सभी उसका पालन करते हैं तो हमारा तात्पर्य संस्कृति से होता है। जब हम किसी उप-समूह के बीच पाए जाने वाले व्यवहार में सहभागिता की चर्चा करते हैं तो हमारा तात्पर्य उप-संस्कृति से होता है। जब हम किसी भौगालिक क्षेत्र में व्याप्त सामान्य लक्षणों, व्यवहार, क्रियाओं का उल्लेख करते हैं तो हमारा तात्पर्य संस्कृति के व्यापक अर्थ से है जैसे- पश्चिमी संस्कृति अर्थात् वह संस्कृति जो पश्चिमी देशों में सामान्य है, जिसमें वहाँ के सभी लोग सहभागी हैं। संक्षेप में, संस्कृति समूह के अधिकांश सदस्यों के द्वारा स्वीकृत व मान्य होती है।

(2) संस्कृति सीखी जाती है - जन्म के समय मनुष्य संस्कृति से अनभिज्ञ होता है किन्तु धीरे-धीरे वह समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा उसे सीखता है। समाज के पास संस्कृति को आत्मसात् कराने के लिए संस्थात्मक

व्यवस्था है। सभी वस्तुएं जिनमें सहभागिता है, वे संस्कृति नहीं हैं बल्कि सहभागिता के साथ उसे सीखना भी आवश्यक है। इसी प्रकार भूख लगना संस्कृति नहीं है किन्तु कब खाना, कैसे खाना, क्या खाना यह सांस्कृतिक है | अमेरिका में कुत्ते का माँस खाना या खाने की सोचना भयानक अनुभव है जबकि चीन में कुत्ते का माँस चाव से खाया जाने वाला भोजन है। अमेरिका में सूअर का माँस खाना किसी अवकाश के दिन आनन्द लेने का प्रतीक है जबकि इजरायल व मिस्र में यह सर्वथा वर्जित है। कहने का तात्पर्य है कि खान-पान का प्रत्येक संस्कृति में अपना अलग प्रतिमान होता है जिसे बचपन से उस समाज के लोग सीखते हैं।

(3) संस्कृति सामान्यतया अनुकूलनशील होती है - संस्कृति स्थिर नहीं होती है बल्कि मनुष्यों की भौगोलिक व सामाजिक आवश्यकता के अनुसार बदलती रहती है। वह नयी परिस्थितियों के अनुसार अपना अनुकूलन कर लेती है। चूँकि आज तक समाज और संस्कृति दोनों निरन्तर रूप से चले आ रहे हैं अतः यह कहना उचित होगा कि समय-समय पर संस्कृति ने अपने आपको ढाला है। संस्कृति अनुकूलनशील है इसका तात्पर्य है कि वह एक विशिष्ट भौतिक व सामाजिक परिस्थिति में ही अनुकूलन करती है, एक पर्यावरण के लिए जो संस्कृति अनुकूलनशील होती है, वह आवश्यक नहीं कि दूसरे पर्यावरण के लिए भी हो। यदि हम यह जानने का प्रयास करें कि किसी समाज में कोई विशेष प्रथा क्यों है ? तो उसका उत्तर उस समाज की उन परिस्थितियों में मिलेगा जिनमें संस्कृति ने अनुकूलन कर उन परम्पराओं को स्वीकार किया है। अतः यदि टुण्ड्रा प्रदेश के लोगों के मकान का आकार विशेष प्रकार का होता है तो उसका कारण वहाँ की बर्फीली परिस्थितियाँ हैं जहाँ अन्य प्रकार के मकान उपयुक्त नहीं हो सकते। अथवा राजस्थान के गाँवों में जहाँ तेज गर्मी पड़ती है वहाँ ‘‘फूस‘‘ की छत बनाई जाती है तो वह वहाँ की भौगोलिक परिस्थिति से सामंजस्य कहा जाएगा क्योंकि ऐसी छतें जो फूस से बनती हैं ठण्डी होती हैं। यही संस्कृति की अनुकूलनशीलता है।

(4) संस्कृति संगठित होती है- संस्कृति का कोई भी प्रतिमान अलग-थलग नहीं होता बल्कि एक दूसरे से जुड़ा होता है। हमारा समस्त जीवन जिस प्रकार संगठित है, वैसे ही संस्कृति के भी सभी तत्व, संकुल व प्रतिमान परस्पर जुड़े रहते हैं। जिन तत्वों से संस्कृति बनी है, वे व्यवस्थित रूप से तथा एक दूसरे से सामंजस्य स्थापित करते हुए जुड़े हुए होते हैं। एक तत्व में परिवर्तन दूसरे तत्वों में परिवर्तन को आवश्यक बना देता है। उदाहरण के लिए यदि हम साइकिल के हैण्डिल में ‘‘एक्सीलेटर‘‘ लगा दें तो स्कूटर नहीं बनता उसके लिए हमें एन्जिन, गीयर, शाफ्ट, पैट्रोल, सप्लाई व अनेक परिवर्तन करने होंगे। यह एक भाग का दूसरे भाग से संगठित होने के कारण आवश्यक होता है।

(5) संस्कृति सदा परिवर्तनशील होती है- चूँकि संस्कृति में अनुकूलनशीलता होती है और वह संगठित होती है अतः इससे यह भी स्पष्ट है कि वह परिवर्तनशील होती है अन्यथा अनुकूलन और संगठन कैसे कायम रह सकेगा। संस्कृति का अनुकूलन पर्यावरण के परिवर्तन के कारण उत्पन्न सांस्कृतिक परिवर्तन है। यह भी स्पष्ट है कि संस्कृति के एक पक्ष में परिवर्तन अन्य भागों में परिवर्तन को आवश्यक शर्त बना देता है। संस्कृति में परिवर्तन की आदतों में अथवा संस्कृति करे अस्वीकार किए जाने के कारण उत्पन्न होता है। कई बार कोई नया व्यवहार लोगों को अच्छा लगने लगता है और उसे वे अपना लेते हैं, चेतन अथवा अचेतन रूप में, और वह जब ज्यादातर लोगों द्वारा अपना लिया जाता है तो वही संस्कृति बन जाता है। इस प्रकार संस्कृति में परिवर्तन धीरे-धीरे अक्सर होते रहते हैं।

(6) संस्कृति संचयी है - संस्कृति मनुष्य की सबसे बड़ी उद्विकासीय उपलब्धि है। आज हम जिस तरह के सांस्कृतिक परिवेश में जी रहे हैं वह शनैः शनैः निर्मित हुआ है। संस्कृति सामाजिक विरासत के रूप में मनुष्य को प्राप्त होती है जिसका हस्तान्तरण पीढ़ी-दर-पीढ़ी अनेक माध्यमों व साधनों से किया जाता है। संस्कृति की विशेषता यह भी है कि इसकी प्रकृति संचयी है। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य के द्वारा निर्मित विचार और

वस्तुएँ अगली पीढ़ी में अधिक परिष्कृत रूप से अभिव्यक्त होते हैं, क्योंकि ज्ञान की एक स्थिति से ज्ञान की दूसरी स्थिति को प्राप्त करने के लिए पुनः आरभ से नहीं चलना पड़ता। उदाहरण के लिए जलाने के लिए आदिम मानव की तरह पत्थर से पत्थर नहीं रगड़ना पड़ता बल्कि पीढ़ी दर पीढ़ी हम, आग जलाने की प्रक्रिया के लिए उत्तरोत्तर, बेहतर प्राप्त साधनों का उपयोग करते हैं। पत्थर से पत्थर रगड़ने के पश्चात्, चकमक पत्थर फिर माचिस, फिर बिजली से चलने वाला लाइटर, गैसों से चलने वाला लाइटर और अब इलैक्ट्रानिक लाइटर के माध्यम से आग जलाई जाती है।

(7) प्रत्येक संस्कृति के अपने आचार तत्व या इथोज होते है - हर संस्कृति के अन्दर उसके मानने वाले एक खास विचारधारा, शैली, कार्य-सम्पादन विधि व जीवन पद्धति को मानते हैं। कुछ संस्कृतियों में शुरू से ही कमनीयता, लचीलापन, शर्मीलापन, शिष्टता व सत्य के संस्कार डाले जाते हैं और वहाँ के लोग अपने व्यक्तित्व में इन गुणों को समाहित कर लेते हैं। जबकि कुछ संस्कृतियाँ ऐसी होती हैं जहाँ पर लोगों में क्रूरता, वीरता, परम्परापन, अक्खड़ता प्रकृति विकसित की जाती है| भारतीय संस्कृति में हम देखते हैं कि धर्म की लय है जिसके अन्तर्गत हम देखते हैं कि प्रत्येक कार्य धार्मिक आधार पर होता है। कोई भी क्रिया हो उसमें धर्म निहीत होता है। जैसे जन्म से मृत्यु तक के संस्कार सभी में धार्मिक क्रियाएं और विचारधारा सन्निहित हैं। यौन सम्बन्ध, माता-पिता के प्रति कर्तव्य, भवन-निर्माण, कूप-निर्माण, कृषि का आरम्भ, वाहन की खरीद इन सभी क्रियाओं में हम धार्मिक विधि पाते हैं क्योंकि हमारे देश की संस्कृति में धर्म एक महत्वपूर्ण 'इथोज' है। 'इथोज' का सम्बन्ध कार्य करने की विषय-वस्तु से उतना नहीं है जितना उसके करने की पद्धति से है, अतः इथोज हमारी क्रियाओं को संचालित करते हैं।

4.5 संस्कृति के मूल तत्व

लोवेल जे. कार के अनुसार प्रत्येक संस्कृति में कुछ आधारभूत तत्व होते हैं। ये तत्व सभी संस्कृतियों में पाए जाते हैं। कार ने ऐसे पाँच तत्वों की चर्चा की हैजो निम्नलिखित हैं :-

1. भाषा - भाषा संचार के लिए आवश्यक है। सभी बातचीत, लेखन, शिष्टाचार, प्रौद्योगिकी व विकास को भाषा के माध्यम से समझाया जा सकता है। बिना भाषा के तो मनुष्य पशु समान होता है।

2. भौतिक तत्व व वस्तुएं - इसके अन्तर्गत वे वस्तुएं आती हैं जो देखी जा सकती हैं, जो मानव निर्मित हैं। इस प्रकार प्रत्येक संस्कृति में कुछ भौतिक वस्तुएं होती हैं यथा रहने के लिए घर, खाने के लिए बरतन, घड़े, वस्त्र, भोजन-सामग्री, खिलौने, लकड़ी-पत्थर की सामग्री आदि। कार लिखते हैं कि वस्तुओं का किसी समाज में होना ही पर्याप्त नही है बल्कि उसके उपयोग की विस्तृत जानकारी भी होनी चाहिए। यदि किसी जंगल में निवास करने वाले जनजाति के घरों के बीच, एक लड़ाकू विमान गिर जाता है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह उनकी संस्कृति का अंग हो गया। संस्कृति का भाग होने के लिए यह भी आवश्यक है कि उस संस्कृति के अनुयायियों को उसके निर्माण, उपयोग, सुधारने की तकनीकी आदि प्रक्रियाओं का ज्ञान होना चाहिए।

3. सामंजस्य प्रतिमान - इसका तात्पर्य यह है कि संस्कृति मनुष्य के लिए प्रत्येक परिस्थिति में व्यवहार के तरीके प्रस्तुत करती है। व्यवहार के ये तरीके निम्न प्रकार के हो सकते हैं-

(अ) जिनमे बाध्यता नहीं है - ऐसे तरीकों को समनर ने जनरीति (फोकवेज) कहा है। ऐसे तरीकों में आप पर कोई बाध्यता नहीं है कि आप करें ही। जैसे- आप पलंग पर भी सो सकते हैं और जमीन पर भी। कोई नियम नहीं है पलंग पर ही सोया जाए। चूँकि पलंग पर सोना सुविधाजनक है अतः हम लोग उसे पसंद करते हैं।

(आ) बाध्यता मूलक प्रतिमान - ऐसे कार्यों को करने के लिए व्यक्ति पर समाज या समूह का दबाव पड़ता है| समूह के हित में ऐसे व्यवहार करने के लिए समूह का दबाव होता है। जैसे किसी अजनबी से परिचय कराए जाने पर हम उसे हाथ मिलाते हैं, ऐसे न किया जाना अशिष्टता है। चाहे आप भोजन के लिए टेबिल पर हाथ धोकर बैठे ही हो और उसी समय यदि किसी ने आपका परिचय किसी अपरिचित से कराया है तो उस तथ्य के बावजूद कि यह समय हाथ मिलाने के लिए सर्वथा स्वास्थ्य के नियमों के प्रतिकूल है, आप हाथ मिलाते हैं। फिर आप यह नहीं सोचते हैं कि हाथ मिलाने से आपके हाथों में कीटाणुओं का कुप्रभाव हो सकता है समनर ने ऐसे सामंजस्य को ''रूढ़ि'' कहा है। रूढ़ियों के पीछे तर्क होना आवश्यक नहीं है।

(इ) संगठनात्मक बाध्यता- इसके अन्तर्गत व्यक्ति को किसी संगठन के नियमों के अनुसार कार्य करना होता है। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति व कार्य संगठन के द्वारा निर्देशित तरीकों से ही करता है। ऐसे प्रतिमान को संस्था कहा जाता है।

4. मूल्य और आदर्श - प्रत्येक संस्कृति के कुछ स्वीकृत मूल्य और आदर्श होते हैं, जिन्हें सभी लोग स्वीकार करते हैं, जैसे- ईमानदारी अच्छी बात है, चोरी नहीं; मानवता बर्बरता से श्रेष्ठ होती हैं; जीवन मृत्यु श्रेष्ठ है आदि। हम इन मूल्यों व आदर्शों का पालन करने के लिए हरसंभव कोशिश करते हैं तथा इन्हें पीढ़ी दर पीढ़ी संचारित करते हैं।

5. प्रकार्यों की परस्पर निर्भरता - संस्कृति द्वारा निर्देशित जिन-जिन कार्यों को हम करते हैं उनमें परस्पर अन्तनिर्भरता पाई जाती है, अतः ग्राहक-दूकानदार, छात्र-शिक्षक, वक्ता-श्रोता समूह, मित्र-मित्र में परस्पर एक दूसरे के प्रकार्यों में पूरक सम्बन्ध होता है व एक दूसरे पर अन्तनिर्भर रहते हैं।

4.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में संस्कृति की अवधारणा के विषय पर अध्ययन किया। संस्कृति के अर्थ तथा परिभाषा के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। संस्कृति की विशेषताओं का अध्ययन किया। तत्पश्चात् संस्कृति की प्रकृति के विषय में ज्ञान प्राप्त किया तथा इकाई के अंत में संस्कृति के मूल तत्वों के विषय में अध्ययन किया।

4.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. संस्कृति से आप क्या समझते है ? इसे परिभाषित कीजिए।
2. संस्कृति का अर्थ बताते हुए संस्कृति की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. संस्कृति की प्रकृति की व्याख्या कीजिए।
4. संस्कृति के मूल तत्वों का वर्णन कीजिए।

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्सः नई दिल्ली
2. शर्मा, के. एल. (2011) सामाजिक स्तरीकरण, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
3. राम, एस. पी. (2010) भारतीय सामाजिक समस्याएं: अर्जुन पब्लिशिंग हाउस: नई दिल्ली

4. सिंह, डी. के., पालीवाल, एस एवं मिश्र, आर. (2010) मानव समाजः संगठन एवम् विघटन के मूल तत्वः न्यू रायल बुक कम्पनीः लखनऊ

5. सिंह, ए. के. (2009) उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास: नई दिल्ली

6. सिंह एस. के. (2010) जाति व्यवस्था: निरंतरता एवं परिवर्तन, रावत पब्लिकेशनः जयपुर

7. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर

8. यादव आर. (2005) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिशिंग हाउसः नई दिल्ली

9. मिश्र, पी.डी. (2003) व्यक्ति और समाज, न्यू रायल बुक कम्पनी: लखनऊ

10. मिश्र, पी.डी. एवं मिश्रा बी. (2004) सोशल वर्क प्रोफेशन इन इण्डिया, न्यू रायल बुक कम्पनी: लखनऊ

11. महाजन, एस. (2010) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिसिंग हाउसः नई दिल्ली

इकाई -5

सामाजिक मूल्य एवं प्रतिमान

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 सामाजिक मूल्य

5.2.1 सामाजिक मूल्य की परिभाषाएँ

5.2.2 सामाजिक मूल्य की विशेषताएँ

5.2.3 मूल्यों के प्रकार

5.2.4 सामाजिक मूल्यों का महत्व एवं प्रकार्य

5.3 सामाजिक प्रतिमान

5.3.1 सामाजिक प्रतिमान की परिभाषाएँ

5.3.2 सामाजिक प्रतिमानों का वर्गीकरण

5.4 सामाजिक प्रतिमान एवं मूल्य में अन्तर

5.5 सारांश

5.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

5.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

5.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप -

1. सामाजिक मूल्य एवं प्रतिमानों को समझ सकेंगे।
2. सामाजिक मूल्य की परिभाषाओं तथा विशेषताओं के विषय में जान सकेंगे।
3. सामाजिक मूल्यों के प्रकार, महत्व एवं प्रकार्य को समझ सकेंगे।
4. सामाजिक प्रतिमान की परिभाषाओं एवं वर्गीकरण का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
5. सामाजिक प्रतिमान एवं मूल्यों के मध्य अंतर को स्पष्ट कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक मूल्य एवं प्रतिमान के विषय पर विचार किया गया है। सामाजिक मूल्य वे स्वीकृत इच्छाएं तथा लक्ष्य है जिनका अन्तरीकरण सीखने या सामाजीकरण की प्रक्रिया से होता है जो कि इनके पश्चात् प्रतीक अभिमान्यताएं बन जाती है। सामाजिक प्रतिमान एवं सामाजिक मूल्य यद्यपि एक नहीं हैं फिर भी दोनो में पर्याप्त समानता है। हमारे सामाजिक सम्बन्धों को सन्तुलित बनाए रखने में मूल्य अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सामाजिक मूल्यों के द्वारा ही सामाजिक व्यवहार में एकरूपता बनी रहती है।इसके अलावा समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से मूल्यों को उन कसौटियों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। जिनके माध्यम से समूह अथवा समाज व्यक्तियों, प्रतिमानों, उद्देश्यों और अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक वस्तुओं के महत्व का निर्णय करते है। मूल्यों द्वारा सभी प्रकार की वस्तुओं का मूल्यांकन किया जा सकता है, चाहे वे भावनाएं हो या विचार। इसके अतिरिक्त मूल्यों द्वारा क्रिया, गुण, वस्तु, व्यक्ति, समूह, लक्ष्य या साधनों का भी अध्ययन किया जा सकता है।

5.2 सामाजिक मूल्य

सामाजिक मूल्य व्यवहार का सामान्य तरीका तथा सामान्य प्रतिमान है जो किसी समाज में अच्छे या बुरे, सही या गलत को तय करता है। उदाहरण के लिए सदा सत्य बोलो, सब पर दया करो, स्त्री-पुरुष को समान अधिकार प्राप्त हों, प्रजातन्त्र एक अच्छी शासन व्यवस्था है आदि हमारे समाज में सामान्य मूल्य हैं। हमारे सामाजिक सम्बन्धों को सन्तुलित बनाए रखने में मूल्य अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सामाजिक मूल्यों के द्वारा ही सामाजिक व्यवहार में एकरूपता बनी रहती है।

डा. राधाकमल मुकर्जी सामाजिक मूल्यों की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मूल्य मानव समूहों और व्यक्तियों के द्वारा प्राकृतिक एवं सामाजिक विश्व से सामंजस्य करने के उपकरण है। ऐसे प्रतिमानों को मूल्य कहते हैं जो व्यक्तियों की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु मार्गदर्शन करते हैं। ये सामाजिक अस्तित्व के केन्द्रीय तत्व कहे जा सकते हैं और समूह के सदस्य इनको रक्षित रखने हेतु हर सम्भव त्याग करने को तैयार रहते हैं। मूल्य एक प्रकार से सामूहिक लक्ष्य होते हैं जो प्रत्येक सदस्यों के लिए आस्था का प्रतीक होते हैं।

5.2.1 सामाजिक मूल्य की परिभाषाएँ

सामाजिक मूल्यों की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं-

राधाकमल मुकर्जी के अनुसार, ‘‘मूल्य समाज द्वारा स्वीकृत वे इच्छाएँ तथा लक्षण हैं जिनका अन्तरीकरण सीखने या समाजीकरण की प्रक्रिया से आरम्भ होता है। जो कि इनके पश्चात् अभिमान्यताएँ बन जाती हैं।’’

हेरी एम. जानसन के अनुसार, ‘‘मूल्य की व्याख्या एक विचारधारा या मानदंड की तरह की जा सकती है। यह विचारधारा सांस्कृतिक या व्यक्तिगत हो सकती है|इस धारणा के कारण ही एक वस्तु की तुलना दूसरी वस्तु से की जा सकती है | जिस व्यक्ति का मूल्य विचारधारा के कारण ऊंचा किया जाता है ,नीचाहोता है तो उसे अस्वीकार किया जाता है ’’

वुड्स के अनुसार, ‘‘सामाजिक मूल्य वे सामान्य सिद्धान्त हैं , जो दिन प्रतिदिन के जीवन में व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं। ये मानव व्यवहार को दिशा प्रदान करने के साथ-साथ अपने आप में आदर्श तथा उद्देश्य भी हैं । सामाजिक मूल्य में केवल यही नही देखा जाता कि क्या होना चाहिए बल्कि यह भी देखा जाता है कि क्या सही है या क्या गलत है।’’

हारालाम्बोस के अनुसार, ''एक मूल्य एक विश्वास है जो यह बताता है कि क्या अच्छा और वांछनीय है।''

फिचर के अनुसार, '' समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से मूल्यों को उन कसौटियों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिनके माध्यम से समूह अथवा समाज व्यक्तियों, प्रतिमानों, उद्देश्यों और अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक वस्तुओं के महत्व का निर्णय करते हैं ।''

5.2.2 सामाजिक मूल्य की विशेषताएँ

उपरोक्त परिभाषाओं से सामाजिक मूल्यों की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं-

(1) सामाजिक मूल्यों का सम्बन्ध वैयक्तियक न हो कर सामूहिक होता है।

(2) सामाजिक मूल्य सामूहिक अन्तःक्रिया की उपज एवं परिणाम होते हैं।

(3) सामाजिक मूल्य उच्च स्तरीय सामाजिक प्रतिमान हैं। जिनके माध्यम से हम किसी वस्तु का मापन करते हैं।

(4) समाज और समूह के सभी सदस्य सामाजिक मूल्यों को एक मत से स्वीकार करते हैं। इसी कारण मूल्यों के उल्लंघन पर समाज प्रतिक्रिया व्यक्त करता है।

(5) सामाजिक मूल्यों में समय एवं परिस्थितियों के साथ परिवर्तनशीलता आती है अर्थात् सामाजिक मूल्य गतिशील होते हैं।

(6) अलग-अलग समाजों में अलग-अलग प्रकार के सामाजिक मूल्य होते हैं।

(7) सामाजिक मूल्यों से सामाजिक कल्याण एवं विभिन्न सामाजिक आवश्कताओं की पूर्ति होती है।

(8) सामाजिक मूल्यों की प्रकृति सार्वभौमिक है अर्थात् मूल्य सभी समाजों में विद्यमान होते है।

(9) सामाजिक मूल्य एक सोपान व्यवस्था होती है |

(10) सामाजिक मूल्यों की निरंतरता का कारण व्यक्ति का संवेग और भावनाए होती हैं |

5.2.3 मूल्यों के प्रकार

मूल्यों को मुख्यतः दो प्रकार की वृहद श्रेणियों मे वर्गीकृत किया जा सकता है-

(1) वैयक्तिक मूल्य - वैयक्तिक मूल्य वे मूल्य हैं जो मानव व्यक्तित्व के विकास से सम्बन्धित होते हैं जिसके कारण मानव व्यक्तित्व की रक्षा होती है जैसे ईमानदारी, राजभक्ति सत्यशीलता, सम्मान आदि।

(2) सामूहिक मूल्य - सामूहिक मूल्य, समूह की सुदृढ़ता से सम्बन्धित होते हैं अर्थात् समूह के सामूहिक प्रतिमान होते हैं जैसे -न्याय, सामूहिक दृढ़ता, समानता आदि।

सामाजिक मूल्यों को डा. मुकर्जी ने सोपानिक व्यवस्था के अनुसार दो वर्गो में वर्गीकृत किया है।

(1) साध्य मूल्य -- साध्य मूल्य वे लक्ष्य एवं सन्तुष्टियाँ हैं, जिनको व्यक्ति एवं समाज जीवन और मस्तिष्क के विकास के लिए अपनाता है जो व्यक्ति के व्यावहारिक अंग होते हैं । ये मूल्य पारलौकिक और अमूर्त होते हैं । इनका मानव जीवन में उच्चतम् एवं विशिष्ट स्थान होता है। जैसे- ''सत्यम् शिवम् सुन्दरम्''।

(2) साधन मूल्य -- साधन मूल्य वे होते हैं जिनको व्यक्ति एवं समाज साध्य मूल्यों को प्राप्त करने हेतु, उनकी सेवा एवं उन्हें उन्नत करने के साधन के रूप में अपनाता है। इस प्रकार साधन मूल्यों के समुचित चुनाव पर ही व्यक्ति एवं समाज द्वारा साध्य मूल्यों की प्राप्ति संभव है। स्वास्थ्य, सम्पत्ति, पेशा, सत्ता, सुरक्षा, प्रस्थिति इत्यादि साधन मूल्य हैं क्योकि इनका प्रयोग व्यक्ति द्वारा कुछ लक्ष्य एवं सन्तुष्टियों की प्राप्ति हेतु किया जाता है। प्रायः लोगो का लगाव साध्य मूल्यों की तुलना में साधन मूल्यों से होता है।

5.2.4 सामाजिक मूल्यों का महत्व एवं प्रकार्य

सामाजिक मूल्य हमारे दैनिक व्यवहारात्मक विनिमय के सामान्य सिद्धान्त हैं। ये हमारे व्यवहार को दिशा निर्देशित ही नहीं करते वरन् ये आदर्श भी होते हैं। मूल्यों के महत्व का उल्लेख करते हुए डा. मुकर्जी जी का कथन है कि मूल्यों का सामाजिक विज्ञान के लिए वही महत्व है जो भौतिक विज्ञान के लिए गति एवं गुरूत्वाकर्षण का है तथा शरीर विज्ञान के लिए पाचन क्रिया एवं रक्त संचार का है। गति, गुरूत्वाकर्षण एवं रक्त संचार को तो प्रकृति की घटनाओं से अलग करके मापा जा सकता है और सूत्रबद्ध किया जा सकता है परन्तु मूल्यों को जीवन, बुद्धि, और समाज से अलग करना संभव नहीं हैं। मनुष्य की आधारभूत इच्छाओं एवं आवश्यकताओं की संतुष्टि करने में मूल्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक मूल्य समाज को एकत्रित, संगठित एवं नियन्त्रित बनाए रखते हैं। इमाइल दुर्खीम ने सामाजिक मूल्यों को आदर्श माना है। आपका मत है कि मूल्य की विवेचना एक सामाजिक तथ्य के रूप में होनी चाहिए। दुर्खीम के अनुसार सामाजिक तथ्य की तरह सामाजिक मूल्य की दो अनिवार्य विशेषताएँ हैः बाह्यता और बाध्यता । दुर्खीम का कहना है कि मूल्य सामाजिक सदस्यों की मानसिक अन्तः क्रिया का फल है। सामाजिक मूल्य किसी एक व्यक्ति का मूल्य नही होता अतः यह व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित करता है और व्यक्ति को एक विशेष ढंग से व्यवहार करने को बाध्य करता है।

सामाजिक मूल्यों के मुख्य प्रकार्य निम्नलिखित हैं-

(1) सामाजिक मूल्य समाज में एक विशेष प्रकार के मापदण्डीय एवं स्वीकृत व्यवहारों की उत्पत्ति करते हैं।

(2) समूह एवं व्यक्ति की क्षमता एवं योग्यता का मूल्यांकन सामाजिक मूल्यों द्वारा ही संभव है। व्यक्ति की समाज में स्थिति एवं संस्तरण का मूल्याँकन मूल्यों द्वारा होता है।

(3) सामाजिक मूल्य समाज का निर्माण एवं सामाजिक सम्बन्धों में समानता लाते हैं।

(4) ये समाज के सदस्यों के व्यवहारों को निश्चित एवं निर्धारित करते हैं।

(5) व्यक्ति की विभिन्न प्रस्थितियों एवं उससे जुड़ी भूमिकाओं का निर्देशन मूल्यों के द्वारा ही होता है।

(6) सामाजिक मूल्य, समाज के सदस्यों के अनौपचारिक नियन्त्रण में सहायक होते हैं।

(7) सामाजिक मूल्य मानव व्यवहारों की अनुरूपता एवं विचलन को स्पष्ट करते हैं।

5.3 सामाजिक प्रतिमान

समाज में सभी व्यक्तियों के सम्बन्धों में एक निश्चित व्यवस्था पाई जाती है। सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण के लिए व्यक्तियों से विशिष्ट प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा की जाती है। विभिन्न सामाजिक स्थितियों में विभिन्न पद और परिस्थिति के व्यक्तियों में परस्पर अन्तःक्रिया होती रहती है। व्यक्तियों की अन्तःक्रिया की प्रक्रिया कुछ निर्धारित सामाजिक नियमों के अनुसार होती है। यह नियम समूह के लिए आदर्श होते हैं इसलिए इन्हें आदर्श नियम या सामाजिक प्रतिमान या सामाजिक मानदण्ड कहा जाता है। हमारे दैनिक जीवन के सभी आयाम लघु या महान्

प्रतिमानों पर निर्भर करते हैं। शिक्षक एवं शिष्य के बीच परस्पर अभिवादन जैसे लघु प्रतिमानों से लेकर व्यक्ति की व्यक्तिगत सम्पत्ति उपभोग जैसे महत् प्रतिमान हमारे जीवन के प्रत्येक पक्ष पर प्रभाव डालते हैं। विभिन्न सामाजिक प्रतिमान परिवार में माता-पिता, भाई-बहन, खाने -पीने के तरीके, कपड़े पहनने की शैली, बातचीत के तौर-तरीकों, व्यवसाय में अपने पदानुसार व्यवहारों आदि के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं।

साधारण शब्दों में हम उन नियमों को सामाजिक प्रतिमान कहते हैं, जो किसी समाज के सांस्कृतिक मूल्यों, सांस्कृतिक विशेषताओं और व्यक्तियों की अपेक्षाओं के अनुरूप किसी विशेष दशा में विशेष प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ये व्यक्ति के व्यवहार को निर्देशित करते हैं।

समाजशास्त्रीय अर्थ में सामाजिक प्रतिमान वे तत्व हैं जिनके द्वारा समाज अपने सदस्यों के व्यवहार पर इस प्रकार नियन्त्रण करता है कि वे अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए अपनी प्रक्रियाओं को सम्पादित करते हैं।

5.3.1 सामाजिक प्रतिमान की परिभाषाएँ

राबर्ट बीयरस्टेड के अनुसार, ‘‘सामाजिक प्रतिमान एक प्रमापित कार्य प्रणाली का रूप है। वह कार्य सम्पन्न करने का एक तरीका है जो हमारे समाज द्वारा स्वीकृत है।’’ इस प्रकार बीयरस्टेड ने सामाजिक प्रतिमानों को सामाजिक व्यवहार नापने के पैमाने के रूप में देखा है।

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, ‘‘सामाजिक प्रतिमान के बिना निर्णय का भार असहनीय होगा तथा आचरण की तरंगें पूरी तरह से बौखला देने वाली होगीं।’’ इस प्रकार उन्होंने स्पष्ट किया है कि व्यक्ति का जीवन प्रतिमानों के आधार पर चलता है।

डेविस के अनुसार, ‘‘सामाजिक प्रतिमानों के माध्यम से मानव समाज अपने सदस्यों के व्यवहारों को इस प्रकार नियमित करता है जिससे वे समाज से सम्बन्धित आवश्यकताओं को पूर्ण करने हेतु क्रियाएं सम्पादित कर सके और जैविक आवश्यकताओं के मूल्य भी।’’

किम्बल यंग के अनुसार, ’’सामाजिक प्रतिमानों से हमारा अभिप्राय समाज द्वारा रखी जाने वाली अपेक्षाएँ हैं।’’

ग्रीन के अनुसार, ‘‘सामाजिक प्रतिमान परिस्थितिजन्य दशाओं में अपेक्षित आचरणों के विषय मे मानक सामान्यीकरण हैं।’’

वुड्स के अनुसार, ‘‘सामाजिक प्रतिमान का तात्पर्य उन नियमों से है जो मानव व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं, सामाजिक व्यवस्था में पारस्परिक सहयोग में बृद्धि करते हैं और किसी विशेष दशा में व्यक्ति के व्यवहारों का पूर्वानुमान करने में सहायक होते हैं।’’

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि समाज ने हमारे दैनिक जीवन की अनेक क्रियाओं को नियमित करने हेतु कुछ सामाजिक प्रतिमान बना रखे हैं। हम किसी भी सामाजिक स्थिति के अनुकूल निर्धारित प्रतिमानों पर विचार करके अन्तःक्रिया के स्वरूप की भविष्यवाणी कर सकते हैं।

उपरोक्त परिभाषाओं से सामाजिक प्रतिमानों की निम्नलिखित मुख्य विशेषताएं स्पष्ट होती हैं-

(1) सामाजिक प्रतिमान संस्कृति का अंग होता हैं |सामाजिक प्रतिमान समाज के ऐसे समान्य नियम हैं जिन्हें सांस्कृतिक मूल्यों के अनुसार समाज की स्वीकृति मिली होती है।

(2) सामाजिक प्रतिमानों की क्रियान्विति सकारात्मक तथा नकारात्मक होती है|

(3) प्रत्येक सामाजिक प्रतिमान में व्यक्ति एवं समूह के प्रति कर्तव्यों एवं नैतिकता का समावेश होता है।

(4) सामाजिक प्रतिमानों से व्यक्तियों को कार्य सम्पन्न करने के लिए मार्गदर्शन मिलता है।

(5) सामाजिक प्रतिमान विभिन्न समाजों में भिम्न-भिन्न हो सकते हैं।

(6) सामाजिक प्रतिमान व्यक्ति एवं समाज के लिए उपयोगी होते हैं।

(7) सामाजिक प्रतिमानों की प्रकृति सरल होने के कारण उनके अनुरूप व्यवहार आदत बन जाते हैं।

(8) किसी विशेष कार्य के लिए भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए प्रतिमान अलग-अलग होकर भी सभी के लिए एक समान होते हैं।

(9) सामाजिक प्रतिमानों से समाज के सभी सदस्यों का आचरण सामाजिक अपेक्षाओं के अनुरूप बना रहता है।

(10)सामाजिक प्रतिमानों के अनुकूल ही समाज अपने सदस्यों का समाजीकरण करता है।

(11)सामाजिक प्रतिमानों के माध्यम से सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताएं पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती हैं।

5.3.2 सामाजिक प्रतिमानों का वर्गीकरण

सामाजिक प्रतिमानों के स्वरूप को इनके विभिन्न प्रकारों से और अधिक रूप से स्पष्ट समझा जा सकता है। यद्यपि सामाजिक प्रतिमानों का कोई सर्वमान्य वर्गीकरण नही है फिर भी इसके कुछ प्रकार ऐसे हैं जो सभी समाजों में पाये जाते हैं। जिसमें कुछ सामाजिक प्रतिमान सकारात्मक तथा कुछ नकारात्मक होते हैं। सकारात्मक प्रतिमान वे होते हैं जो किन्ही व्यवहारों को करने के लिए प्रेरित करते हैं जैसे आफिस में अधिकारी के आने पर कर्मचारियों का खड़ा होना| नकारात्मक प्रतिमान वे होते हैं जो किन्हीं व्यवहारों की मनाही करते हैं, जैसे परम्परागत भारतीय समाज में पत्नी द्वारा पति का नाम न लेना।

बीयरस्टेड का वर्गीकरण

बीयरस्टेड ने सामाजिक प्रतिमानों को तीन प्रकारो में बाँटा है-

(1) जनरीतियां

(2) रूढ़ियां

(3) विधान या क़ानून

जिसमें जनरीतियाँ एवं रूढ़ियाँ अनौपचारिक सामाजिक प्रतिमान के प्रकार हैं और कानून औपचारिक प्रकार का प्रतिमान है।

नार्मन स्टोरर का वर्गीकरण

नार्मन स्टोरर ने चार प्रकार के प्रतिमानों की चर्चा की है-

(1) निर्धारित प्रतिमान- निर्धारित प्रतिमान, समाज द्वारा प्रत्येक व्यक्ति से आपेक्षित व्यवहार होते हैं जैसे पुत्र को बूढ़े मां बाप की देखभाल करनी चाहिए।

(2) स्वीकृत प्रतिमान - स्वीकृत प्रतिमान, वे व्यवहार हैं जिनका पालन करना अनिवार्य नहीं है परन्तु यदि किया जाता है तो उन्हें सहन करते है जैसे कभी-कभी देर रात से घर वापस लौटना।

(3) अधिमान प्रतिमान- अधिमान प्रतिमान वे व्यवहार हैं यद्यपि जिनका पालन करना अनिवार्य नहीं हैं परन्तु यदि उनका पालन किया जाता ह तो अच्छा समझा जाता है जैसे माँ बाप को चाहिए कि वह अपने बच्चों को अच्छे वस्त्र पहनाएं।

(4) निषेधात्मक प्रतिमान- निषेधात्मक प्रतिमान वे व्यवहार हैं जो किसी व्यवहार को करने पर निषेध लगाते हैं जैसे शौच क्रिया प्रत्येक स्थान पर नहीं करनी चाहिए।

किंग्सले डेविस का वर्गीकरण

डेविस (1960) ने सामाजिक प्रतिमानों का समाजशास्त्रीय एवं प्रायः स्वीकृत वर्गीकरण प्रस्तुत किया है जो निम्नलिखित हैं-

(1) जनरीतियां

(2) रूढ़ियाँ

(3) कानून

(4) धर्म, नैतिकता एवं प्रथा

(5) संस्थाएं

(6) परिपाटी एवं शिष्टाचार

(7) फैशन एवं धुन

5.4 सामाजिक प्रतिमान एवं मूल्य में अन्तर

सामाजिक प्रतिमान एवं सामाजिक मूल्य यद्यपि समान हैं फिर भी दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। अब प्रश्न उठता है कि सामाजिक मूल्य एवं सामाजिक प्रतिमानों में क्या अन्तर हैं? मूल्य व्यवहार का सामान्य तरीका है और वह सामान्य प्रतिमान है जो किसी समाज में अच्छे या बुरे, सही या गलत को निर्धारित करता है। जैसे सदा सच बोलो, सब पर दया करो, स्त्री पुरूष को समान अधिकार प्राप्त हों आदि हमारे समाज में सामाजिक मूल्य हैं।

मूल्य सामान्य होते हैं जबकि प्रतिमान विशेष होते हैं। किसी समाज में किसी मूल्य के पालन करने के लिए अनेक सामाजिक प्रतिमान पाये जा सकते हैं । अतः मूल्य साध्य है जब कि प्रतिमान साधन है मूल्यों की प्राप्ति सामाजिक प्रतिमानों के माध्यम से होती है। उदाहरण के लिए ईश्वर मे आस्था रखना एक मूल्य है, जिसे पाने के लिए कुछ प्रतिमान बने हैं जैसे मन्दिर में जूते चप्पल उतार कर जाना, वहाँ जाकर नतमस्तष्क होना, और पवित्र वस्तुओं को न छूना।

5.5 सारांश

इकाई में सर्वप्रथम सामाजिक समूह के अर्थ एवं परिभाषा, का अध्ययन है। इसके बाद समूह की विशेषताओं, वर्गीकरण का ज्ञान प्राप्त किया । तत्पश्चात् समूह के प्रकार, महत्व, का भी अध्ययन किया। इसके बाद सामाजिक परिवर्तन के अर्थ, परिभाषा तथा कारकों की भी चर्चा की गई। संस्कृति के अर्थ को परिभाषित करते हुए उसकी विशेषताओं का भी ज्ञान प्राप्त किया। अंत में सामाजिक मूल्य एवं प्रतिमान के अर्थ, विशेषताओं तथा महत्व का भी अध्ययन किया है।

5.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सामाजिक मूल्य से आप क्या समझते है? परिभाषा दीजिए।
2. सामाजिक मूल्य की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
3. मूल्यों के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
4. सामाजिक मूल्यों का महत्व एवं -प्रकार्यों का उल्लेख कीजिए।
5. सामाजिक प्रतिमान से आप क्या समझते है? वर्गीकरण कीजिए।
6. सामाजिक प्रतिमान एवं मूल्यों में अंतर स्पष्ट कीजिए।

5..7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सिंह, अरुण कुमार, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यूरायल बुक कम्पनी, लखनऊ 2009
2. अग्रवाल, जी. के. एवं पाण्डेय, एस.एस., ग्रामीण समाजशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लि., 2006
3. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
4. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
5. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
6. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर
7. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स: नई दिल्ली
8. शर्मा, के. एल. (2011) सामाजिक स्तरीकरण, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
9. राम, एस. पी. (2010) भारतीय सामाजिक समस्याएं: अर्जुन पब्लिशिंग हाउस: नई दिल्ली
10. सिंह, डी. के., पालीवाल, एस एवं मिश्र, आर. (2010) मानव समाजः संगठन एवम् विघटन के मूल तत्वः न्यू रायल बुक कम्पनीः लखन
11. सिंह, ए. के. (2009) उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास: नई दिल्ली
12. सिंह एस. के. (2010) जाति व्यवस्था: निरंतरता एवं परिवर्तन, रावत पब्लिकेशनः जयपुर
13. मिश्र, पी.डी. (2003) व्यक्ति और समाज, न्यू रायल बुक कम्पनी: लखनऊ

14. मिश्र, पी.डी. एवं मिश्रा बी. (2004) सोशल वर्क प्रोफेशन इन इण्डिया, न्यू रायल बुक कम्पनी: लखनऊ

इकाई -6

समाज की विशेषताएं

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 समाज का अर्थ

6.3 समाज की विशेषताएं

6.4 सारांश

6.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

6.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

6.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के पश्चात् समाज की अवधारणा को समझ सकेंगे। तत्पश्चात् समाज की विशेषताओं के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे जिसमें मुख्यतः पारस्परिक जागरूकता, अमूर्तता, समाज में समरूपता आदि बिन्दुओं के अर्थ को समझ सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में समाज की विशेषताओं के विषय पर वर्णन किया गया है। समाज शब्द का प्रयोग विभिन्न लोगों ने अपने-अपने ढंग से किया है। किसी ने इसका प्रयोग व्यक्तियों के समूह के रूप में, किसी ने समिति के रूप में, तो किसी ने संस्था के रूप में किया है। इसी वजह से समाज के अर्थ में अनिश्चितता बनी हुयी है। किसी भी संगठित या असंगठित समूह को समाज कह दिया जाता है, जैसे, आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, हिन्दू समाज, जैन समाज, विद्यार्थी समाज, महिला समाज, आदि। समाज की अनेक विशेषताएं होती है। जो निम्न हैं- पारस्परिक जागरूकता, अमूर्तता, समाज में समरूपता तथा विषमरूपता, सहयोग एवं संघर्ष, जटिलता, जीवन की महत्ता, समाज की रीतियां तथा विधियां, तथा समूह, वर्ग, संगठन इत्यादि।

6.2 समाज का अर्थ

'समाज' शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया गया है। यहां व्यक्ति के बीच पाये जाने वाले सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर निर्मित व्यवस्था को समाज कहा गया है।

व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्तियों के साथ अन्तःक्रिया करते और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। ये लोग विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों के आधार पर एक-दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं, कुछ क्रियाएं और प्रतिक्रियाएं करते हैं, यह सब कुछ निश्चित नियमों के आधार पर ही होता है। इनमें कुछ पारस्परिक अपेक्षाएं सम्मिलित हैं। इन सबसे मिलकर बनने वाली व्यवस्था को ही समाज कहा गया है। मैकाइवर एवं पेज ने समाज को सामाजिक सम्बन्धों के जाल या ताने-बाने के रूप में परिभाषित किया है।

सामाजिक और भौतिक सम्बन्धों के बीच एक प्रमुख अन्तर पाया जाता है, और वह है-पारस्परिक जागरूकता। सामाजिक सम्बन्धों का प्रमुख आधार पारस्परिक जागरूकता है। भौतिक सम्बन्धों में इस प्रकार की जागरूकता नहीं पायी जाती। इसे हम एक उदाहरण के द्वारा भली-भांति समझ सकते हैं। एक टेबुल पर टेबुल-लेम्प, किताबें, डायरी, पेन, पेंसिल, आदि रखे हुए हैं। इन सबका टेबुल के साथ एक सम्बन्ध आवश्यक है। इसी प्रकार आग और धुंए का तथा सूर्य और पृथ्वी का सम्बन्ध है, परन्तु यह सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इसमें मानसिक चेतना का अभाव होता है। इसका तात्पर्य यह है कि टेबुल उस पर रखी वस्तुओं की उपस्थिति से अपरिचित है और किताब, पेन, पेंसिल, आदि टेबुल की उपस्थिति से। इसी प्रकार पृथ्वी सूर्य की और आग धुंए की उपस्थिति के प्रति जागरूक नहीं हैं। इन सबमें पारस्परिक जागरूकता का अभाव पाया जाता है। इस पारस्परिक जागरूकता के बिना कोई भी सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्ध नहीं हो सकता और सामाजिक सम्बन्ध के बिना समाज नहीं हो सकता। जहां सामाजिक प्राणी पारस्परिक रूप से जागरूक रहते हुए और एक-दूसरे की अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए व्यवहार करते हैं, वहीं समाज पाया जाता है। पारस्परिक जागरूकता के आधार पर ही किसी सम्बन्ध को सामाजिक सम्बन्ध कहा जा सकता है।जब असंख्य सामाजिक सम्बन्धों का जाल अनेक रीतियों एवं सामाजिक मूल्यों द्वारा व्यवस्था में बदल जाता है तो उसे समाज कहते हैं।

6.3 समाज की विषेषतायें

सामान्य रूप से समाज में निम्नलिखित विषेशतायें पायी जाती है:

1. **पारस्परिक जागरूकता:-** पारस्परिक जागरूकता के अभाव में न तो सामाजिक सम्बन्ध बन सकते हैं और न ही समाज। जब तक लोग एक-दूसरे की उपस्थिति से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परिचित नहीं होंगे, तब तक उनमें जागरूकता नहीं पायी जा सकती और अन्तःक्रिया भी नहीं हो सकती। इस जागरूकता के अभाव में वे न तो एक-दूसरे से प्रभावित होंगे और न ही प्रभावित करेंगे अर्थात् उनमें अन्तःक्रिया नहीं होगी। अतः स्पष्ट है कि सामाजिक सम्बन्धों के लिए पारस्परिक जागरूकता का होना अत्यन्त आवश्यक है।

2. **अमूर्तता**:- समाज व्यक्तियों का समूह नहीं होकर उनमें पनपने वाले सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त हैं। इन्हें न तो देखा जा सकता है और न ही छुआ जा सकता है। इन्हें तो केवल अनुभव किया जा सकता है। अतः सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर निर्मित समाज भी अमूर्त है। यह तो अमूर्त सामाजिक सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था है। राइट के अनुसार, समाज व्यक्तियों का समूह नहीं है, यह तो समूह के व्यक्तियों के बीच सम्बन्धों की व्यवस्था है। र्यूटर ने लिखा है कि जिस प्रकार जीवन एक वस्तु नहीं है बल्कि जीवित रहने की एक प्रक्रिया है, उसी प्रकार समाज एक वस्तु नहीं है बल्कि सम्बन्ध स्थापित करने की प्रक्रिया है अतः स्पष्ट है कि समाज एक अमूर्त धारणा है।

3. **समाज में समरूपता**:- समरूपता समाज का महत्वपूर्ण लक्षण है इसका अस्तित्व समान तरह के एवं विचारों में ही सम्भव है यदि ऐसा न हो तो व्यक्ति अपने उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर सकता है साथ ही साथ यदि

समान विचारों का अभाव रहेगा तो एक दूसरे के प्रति सम्मान , मित्रता, घनिष्टता, अपनत्व और सम्पर्क इत्यादि सम्भव नहीं हो पायेगा। व्यक्ति अपनी मेधा और संसाधनों के द्वारा समरूपी लोगों को खोज लेता है।

4. **समाज में विषमरूपता**:- विषमरूपता भी समरूपता का सहायक होता है। समरूपता से तात्पर्य व्यक्तियों के समान उद्देश्यों से होता है। जैसे-प्रजनन करता, शिशु का पालन-पोषण , इत्यादि। परन्तु इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मार्ग भिन्न-भिन्न होते हैं। धनोपार्जन के लिए कोई व्यापार करता है तो कोई नौकरी करता है, कोई खेती करता है, मगर मुख्य उद्देश्य धनोपार्जन करके परिवार का पालन-पोषण करना होता है| इसी प्रकार समाज के अलग –अलग व्यक्तियों के उद्देश्य भी अलग –अलग होते हैं | अगर व्यक्ति के उद्देश्यों में भिन्नता न हो तो समाज में अव्यवस्था व्याप्त हो सकती है। क्योंकि यदि सभी व्यक्ति एक ही कार्य करने लगे तो समाज और व्यक्ति की आवश्यकताएं पूर्ण नहीं हो पायेंगी। अतः यह विषमरूपता उद्देश्यों की समरूपता के लिए पूरक का कार्य करती है।

5. **अन्योन्याश्रितता पर आधारित:-** अन्योन्याश्रितता समाज की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता है। अन्य शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि अन्योन्याश्रितता समाज की उत्पत्ति एवं विकास में एक आधारभूत तत्व है। मनुष्य को अपनी प्राणिशास्त्रीय या शारीरिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक -दूसरों के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने और उन पर निर्भर रहना पड़ता है। आदिम से आदिम और छोटे एवं सरल से सरल प्रकार के समाजों में भी व्यक्ति को यौन-संतुष्टि, शिकार एवं जीवन-रक्षा के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ा है। आधुनिक जटिल समाजों में तो श्रम-विभाजन के बढ़ने से मनुष्यों की और साथ ही समाज के विभिन्न अंगों की एक-दूसरे पर निर्भरता और बढ़ गयी है।

6. **सहयोग एवं संघर्ष**:- प्रत्येक समाज में सहयोग और संघर्ष सार्वभौमिक प्रक्रियाओं के रूप में पाये जाते हैं।

(अ) सहयोग: प्रत्येक कार्य या उद्देश्य में सफलता का आधार सहयोग ही है। पारिवारिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, आदि विभिन्न क्षेत्रों में हर समय सहयोग देखने को मिलता है। सहयोग के अभाव में न तो कोई परिवार अपने इच्छित लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है और न ही कोई राजनीतिक दल अपने इच्छित लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। चुनावों में कई राजनीतिक दलों की हार का एक प्रमुख कारण उनके सदस्यों में सहयोग का अभाव है। किसी भी कार्य में सफलता सहयोग पर ही निर्भर करती है।

(ब) **संघर्ष:-** समाज में सहयोग के साथ-साथ संघर्ष भी देखने को मिलता है। संघर्ष का प्रमुख कारण कुछ शारीरिक या वैयक्तिक भिन्नताएं, सांस्कृतिक भिन्नताएं, विरोधी स्वार्थ या स्वार्थों का टकराना एवं तीव्र गति से होने वाले सामाजिक परिवर्तन हैं। एक समाज और दूसरे समाज की संस्कृति में भी अन्तर पाया जाता है। साथ ही लोगों या समूहों के एक-दूसरे के विपरीत स्वार्थ भी होते हैं अर्थात कई बार उनके स्वार्थ आपस में टकराते हैं। ये विभिन्न प्रकार की भिन्नताएं, स्वार्थ एवं सामाजिक परिवर्तन संघर्ष के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी हैं। यह संघर्ष कभी प्रत्यक्ष रूप से मार-पीट, हिंसा व लड़ाई-झगड़े के रूप में हो सकता है। तो कभी शीत-युद्ध, आदि के रूप में अप्रत्यक्ष रूप में भी।

7. **परिवर्तनशील एवं जटिल व्यवस्था :-** समाज की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता इसकी सदैव परिवर्तशील प्रकृति है। विभिन्न कारणों से सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन आता रहता है, व्यक्तियों की प्रस्थितियाँ एवं भूमिकाएँ बदलती रहती हैं, पारस्परिक अपेक्षाओं में भी समय के साथ-साथ बदलाव आता रहता है। कोई भी समाज आज ठीक वैसा समाज नहीं जैसा वह एक हजार वर्ष पहले था या एक हजार वर्ष पश्चात् होगा। भारत का

वैदिक कालीन समाज आधुनिक समय के जटिल औद्योगिक समाज से काफी भिन्न था। स्पष्ट है कि समाज सदैव परिवर्तनशील है।

साथ ही समाज एक जटिल व्यवस्था है जो अनेक प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों से निर्मित या गंथी हुई है। एक ही व्यक्ति सैकड़ों व्यक्तियों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होता है। जब एक व्यक्ति अनेक प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों में बंधा होता है तो ऐसी स्थिति में निर्मित होने वाली व्यवस्था निश्चित रूप से जटिल होगी, इसमें किसी प्रकार का कोई संदेह नहीं है।

समाज केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं होकर पशुओं में भी पाये जाते हैं। मैकाइवर एवं पेज ने ठीक ही कहा है कि ''जहां कहीं जीवन है, वहीं समाज है।'' इसका तात्पर्य यही है कि सभी जीवधारियों के अपने-अपने समाज होते हैं। चींटियों, मधुमक्खियों, हाथियों, नर-वानरों एवं पशु-पक्षियों के भी समाज होते हैं। इनमें सामाजिक जीवन की अनेक विशेषताएं देखने को मिलती हैं। इतना अवश्य है कि जीवन के निम्नतम स्तर वाले जीवधारियों में सामाजिक जागरूकता बहुत ही कम और सामाजिक सम्पर्क बहुत ही अल्पकालीन होता है। जहां सामाजिक या पारस्परिक जागरूकता का अभाव है, वहां समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

8. **जीवन की महत्ता:-** जीवधारियों के द्वारा ही समाज का अस्तित्व सम्भव होता है| मानव शिशु में सामाजिकता के कोई गुण सहज रूप विद्यमान नहीं होते हैं। सामाजीकरण के फलस्वरूप शिशु एक सामाजिक प्राणी बनता है। इसके लिए वह समरूप जीवधारियों के बीच में पलता है | समाज में ही उसकी आवश्यकतायें पूर्ण होती हैं।

9. **समाज केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है:-** समाज केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है बल्कि सभी छोटे-बड़े प्राणियों में समाज पाया जाता है ,क्योंकि जहाँ जागरुकता, सहयोग, संघर्ष, निर्भरता है वहाँ समाज है। यह अलग बात है कि मानव तथा अन्य प्राणियों के समाज में व्यापक अन्तर होता है। मानव के अलावा दूसरी सभी प्राणियों में पारस्परिक जागरूकता काफी निम्न स्तर की होती है। मानव समाज ही एक जागरूक एवं सुव्यवस्थित समाज का प्रतिनिधित्व करता है। यही कारण है कि समाजशास्त्र में हम केवल मानव समाज का ही अध्ययन करते हैं। मैकाइवर एवं पेज का कथन जहाँ जीवन है वहीं समाज है से स्पष्ट होता है कि समाज केवल मानव तक ही सीमित नहीं है।

10. **रीतियां एवं कार्यविधियां:-** समाज में भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु रीतियां एवं कार्यविधियां पायी जाती हैं। जैसे-विवाह की रीति, रहन-सहन की विधियां।

हेनरी एम. जॉनसन ने समाज की निम्न विशेषताएं बताई हैं:

1. **निश्चित भू-क्षेत्र:-** समाज एक निश्चित भू-क्षेत्रीय समूह है। कुछ समाज एक निश्चित स्थान पर रहने की अपेक्षा एक विस्तृत क्षेत्र में भ्रमण करते रहते हैं। वे उस सारे क्षेत्र को अपना देश मानते हैं। जैसे गोत्र, पड़ोस, गांव, शहर आदि के आधार पर क्षेत्रीय समूह होते हैं।

2. **सन्तति:** अपने जन्म के आधार पर मनुष्य एक समूह का सदस्य होता है। अनेक समाजों में बाहर से नए सदस्यों को भी लिया जाता है। जैसे गोद लेना, दासता, अप्रवास आदि परन्तु समूह में नए सदस्यों की भर्ती पुनरूत्पादन से ही मुख्य रूप से होती है।

3. **सर्वव्यापी संस्कृति**:- प्रत्येक समाज की संस्कृति सर्वव्यापी होती है| उसमें समस्त मानव सांस्कृतिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होते हैं। जैसे एक समाज दूसरे समाज से व्यापार कर सकता है परन्तु सांस्कृतिक प्रतिमानों का प्रयोग समाज की संस्कृति के एक भाग के रूप में होता है। एक संस्कृति में कई उपसंस्कृतियां होती हैं जैसे भारतीय परिवेश में पंजाबी, गुजराती, असमी, राजस्थानी आदि और प्रत्येक उपसंस्कृति की अपनी पहचान होती है।

4. **निर्भरता:-** समाज किसी और समूह का उपसमूह नहीं होता है। हम समाज को एक स्थाई, स्वयं में निहित तथा एकीकृत समूह के रूप में पारिभाषित कर सकते हैं।

6.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के पश्चात् आपने समाज की अवधारणा और उसके अर्थ के विषय में जानकारी प्राप्त की। इसके पश्चात् समाज की अनेक विशेषताओं के विषय में ज्ञान प्राप्त किया।

6.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. समाज की अवधारणा का वर्णन कीजिए।
2. समाज की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
3. हेनरी एवं जानसन की समाज की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

6.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।
2. लवानिया, एम.एम. एवं राठौड़, ए.एस. (1999) भारतीय समाज, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
3. लवानिया, एम.एम. एवं पडियार, जी. (2010) भारत में सामाजिक समस्यायें, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
4. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा
5. गुप्ता, एम. एल. एवं शर्मा डी.डी., मानव समाज, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2001।
6. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।
7. आहूजा, राम, सामाजिक समस्याऐं, रावत पब्लिकेशन्स, द्वितीय संस्करण, जयपुर एवं नई दिल्ली, 2000।
8. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
9. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
10. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
11. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर।
12. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटस

इकाई -7

सामाजिक समूह :अर्थ ,विशेषतायें एवं प्रकार

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 सामाजिक समूह

7.2.1 अर्थ एवं परिभाषा

7.3 सामाजिक समूह की विशेषताएँ

7.4 सामाजिक समूह, सामाजिक समुच्चय तथा सामाजिक श्रेणी में अन्तर

7.5 समूहों का वर्गीकरण

7.6 सारांश

7.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

7.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

7.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप--

1. सामाजिक समूह के अर्थ एवं परिभाषा का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
2. सामाजिक समूह की विशेषताओं को समझ सकेंगे।
3. सामाजिक समूह, सामाजिक श्रेणी तथा सामाजिक समुच्चय के बीच अंतर को स्पष्ट कर सकेंगे।
4. समूह के वर्गीकरण के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक समूह के विषय में विचार किया गया है। समूह एक सामाजिक इकाई है | समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन काल में किसी न किसी प्रकार के समूह से अवश्य जुड़ा रहता है | वह अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति समूह के द्वारा ही करता है। यद्यपि सामाजिक समूह में व्यक्तियों का संकलन होता है परन्तु उनके बीच आपस में किसी न किसी प्रकार का सम्बंध अवश्य होता है। इसके साथ-साथ इसके सदस्यों में सहभागिता एवं अंतःक्रिया का होना भी आवश्यक होता है। एक सामाजिक समूह दो या दो से अधिक व्यक्तियों

का योग होता है ,जिनके कुछ समान उद्देश्य होता है, समूह के प्रति समान भक्ति रखते है तथा समूह की क्रियाओं में समान रूप से भाग लेते हैं।

7.2 सामाजिक समूह

हमारे सामाजिक जीवन में समूह का एक महत्वपूर्ण स्थान है| समाज में रहने वाले व्यक्ति किसी न किसी समूह के सदस्य होते हैं। जार्ज सी. होमन्स के अनुसार ऐसे व्यक्तियों से है जो स्थापित प्रतिमानों के अनुसार अन्तःक्रिया करते हैं।

साधारण बोलचाल की भाषा में समूह का अर्थ दो या दो से अधिक व्यक्तियों के संग्रह से समझा जाता है। परन्तु समूह के लिए न केवल दो या दो से अधिक व्यक्तियों का होना आवश्यक है बल्कि सभी सदस्यों की समान भागीदारी एवं उनमे अन्तः क्रिया का होना भी आवश्यक दशा है। कहने का तात्पर्य यह है कि समूह का निर्माण ऐसे व्यक्तियों से होता है जों अपने विभिन्न स्वार्थो अथवा आवश्यकताओं के कारण एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं तथा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं उदाहरण के लिए, व्यक्तियों की भीड़ को हम समूह नही कह सकते क्योंकि इस एकीकरण में कोई भी व्यक्ति एक दूसरे को प्रभावित नही करता है। वास्तव में सामाजिक समूह का अर्थ व्यक्तियों में शारीरिक समीपता का होना मात्र नहीं है बल्कि समूह की प्रमुख विशेषता कुछ व्यक्तियों का एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करना या एक दूसरे के व्यवहारों को प्रभावित करना है। उदाहरण के लिए एक जाति, सामाजिक वर्ग, पड़ोस, गाँव, श्रोतासमूह, प्रजाति, और राजनैतिक दल कुछ विशेष प्रकार के सामाजिक समूह हैं जिसके अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य दूसरे से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्बन्धित रहता है और अन्य समूहों की तुलना में अपने समूह के सदस्यों के प्रति सहानुभूति रखता है।

इस दृष्टिकोण से सभी व्यक्ति निम्न आधारों पर किसी न किसी समूह में विभाजित हैं-

1. व्यावसायिक आधार पर- मजदूर, क्लर्क, कलाकार, अध्यापक, इन्जीनियर, डाक्टर, और व्यापारी समूह आदि में विभाजित हैं।
2. आयु के आधार पर- बच्चों, युवा, प्रौढ़ समूहों के सदस्य होते हैं।
3. लिंग के आधार पर- स्त्री और पुरूष समूहों में विभक्त हैं।

इसी प्रकार समाज धर्म में विश्वास रखने वाले, एक साथ कक्षा में पढ़ने वाले, समान रूचियों रखने वाले व्यक्ति भी एक विशेष समूह का निर्माण करते हैं।

7.2.1 अर्थ एवं परिभाषा

सामाजिक समूह न केवल दो या दो से अधिक व्यक्तियों का संकलन है बल्कि उनके बीच आपस में किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य होता है। इसके साथ-साथ सदस्यों सहभागिता एवं अन्तःक्रिया का होना भी आवश्यक होता है। सामाजिक समूह के सन्दर्भ में कुछ परिभाषायें निम्न है-

बोगार्डस ई.एस. के अनुसार, ‘‘एक सामाजिक दो या दो से अधिक व्यक्तियों का योग होता है जिनका ध्यान कुछ समान उद्देश्यों पर होता है और जो एक दूसरे को प्रेरणा दें , जिनमें समान निष्ठा हो तथा जो सामान्य क्रियाओं में सम्मिलित हों ।’’

आगबर्न डब्लू.एफ. एण्ड निम्काफ के अनुसार, “ जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्रित होते हैं और एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं , तो वे एक समूह का निर्माण करते है।”

मैकाइवर और पेज के अनुसार, “समूह से हमारा तात्पर्य व्यक्तियों के किसी भी ऐसे संग्रह से है। जो सामाजिक बन्धनों के कारण एक-दूसरे के समीप है।”

एड्रिल और मेरिल के अनुसार, “सामाजिक समूह दो या दो से अधिक व्यक्तियों का ऐसा समूह है। जिसका एक लम्बी अवधि से संचार होता रहा है और जो एक सामान्य कार्य या प्रयोजन के अनुसार कार्य करते है|”

शैरिफ एवं शैरिफ के अनुसार, “ समूह एक सामाजिक इकाई है जिसका निर्माण ऐसे व्यक्तियों से होता है जिनके बीच (न्यूनाधिक)निश्चित प्रस्थिति एवं भूमिका विषयक सम्बन्ध हो तथा व्यक्ति या सदस्यों के आचरण को , कम से कम समूह के लिए महत्वपूर्ण मामलों में ,नियमित करने के लिए जिसके अपने कुछ मूल्य या आदर्श नियम हों |”

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते है कि समूह का निर्माण दो या दो से अधिक व्यक्तियों के मिलने से होता है। उनमें अन्तःक्रिया होती है और सम्बन्धों को स्पष्ट स्वरूप होता है।

समूह के द्वारा समान उद्देश्यों एवं आवश्यकताओं की पूर्ति होती है तथा सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण होता है।

7.3 सामाजिक समूह की विशेषताएँ

सामाजिक समूह की विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाओं के आधार पर निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती है-

(1) एक से अधिक व्यक्तियों का संग्रह - समूह में सदैव एक से अधिक व्यक्ति होते हैं अर्थात् कम से कम दो व्यक्ति तो जरूरी हैं जो किसी भी समूह की प्राथमिक विशेषता कही जा सकती है जैसे- परिवार समूह का निर्माण पति-पत्नी के द्वारा होता है।

(2) पारस्परिक सम्बन्ध - मनुष्यों के किसी भी संग्रह मात्र को समूह नही माना जा सकता है। समूह के सदस्यों मे परस्पर अन्तः सम्बन्ध होने चाहिए। वास्तव में ये सामाजिक सम्बन्ध ही तो समूह है। यही कारण है कि किसी मेले या भीड़ को सामाजिक समूह नहीं कहा जाता है।

(3) सामान्य हित और उद्देश्य- समूह के सदस्य सामान्य हित और लक्ष्य के कारण एक साथ रहते हैं। वास्तव में व्यक्ति सामाजिक समूह का सदस्य समान हित व उद्देश्य होने पर ही बनता है। समूह में प्रत्येक व्यक्ति का कुछ न कुछ अपना स्वार्थ जुड़ा होता है परन्तु यह स्वार्थ वैसा होता है जो समूह के सभी सदस्यों का समान रूप से होता है।

(4) एकता की भावना - सामाजिक समूह के सभी सदस्य एकता और परस्पर सहानुभूति की भावना से बंधे रहते हैं।

(5) सापेक्षिक स्थायित्व - प्रत्येक समूह सापेक्षिक दृष्टि से विभिन्न व्यक्तियों के एकत्रीकरण की तुलना में अधिक स्थाई प्रकृति का होता है। जैसे किसी मेले या भीड़ की तुलना में परिवार, गाँव, आदि में अधिक स्थायित्व होता है।

(6) समूह के समान आदर्श नियम- प्रत्येक प्रकार के समूह में अपने सदस्यों के व्यवहार हेतु निश्चित नियम होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि यह नियम लिखित रूप में ही हों। समूह अपने स्थायित्व हेतु सदस्यों से यह अपेक्षा रखता है कि वे समूह के नियमों का पालन ठीक से करें।

(7) कार्य विभाजन - समूह के सभी सदस्यों के अलग-अलग कार्य होते हैं जिनके पूर्ण होने पर ही समूह के उद्देश्य की प्राप्ति होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि समूह के सदस्य पारस्परिक सम्बन्धों से जुड़े रहते हैं इसका मतलब यह नहीं है कि सभी सदस्य एक ही प्रकार का कार्य भी करते है। समूह के सदस्यों के कार्यों का विभाजन उनकी प्रस्थिति के अनुसार होता है |

(8) ऐच्छिक तथा अनिवार्य सदस्यता - सामाजिक समूह का सदस्य होना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विभिन्न हितों और उद्देश्यों के अनुसार समूह का सदस्य होना स्वीकार या अस्वीकार करता है। परन्तु कुछ समूह ऐसे होते हैं जिनकी सदस्यता व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं बल्कि उसके जन्म पर निर्भर करता है जैसे परिवार, नातेदारी,जाति ,प्रजाति आदि | इस प्रकार कुछ समूह ऐसे होते हैं जिसकी सदस्यता व्यक्ति जब चाहे त्याग सकता है अथवा ग्रहण कर सकता है। परन्तु कुछ प्राथमिक समूहों जैसे परिवार, नातेदारी आदि की सदस्यता आसानी से छोड़ी या ग्रहण नहीं की जा सकती है।

(9) सामाजिक पहचान - प्रत्येक सामाजिक समूह की अपनी एक विशिष्ट पहचान होती है। जिसके फलस्वरूप लोग यह जानते हैं कि अमुक व्यक्ति अमुक समूह का सदस्य है। यह आवश्यक नहीं है कि किसी समूह के सदस्यों में भली-भाँति आपस में जान पहचान हो। परन्तु समूह या समूह के बाहर के लोग किसी व्यक्ति को उसके समूह के सदस्य के रूप में उसे एक सामाजिक पहचान देते हैं।

(10) हम की भावना- सामाजिक समूह की एक विशेषता हम भावना का होना है। समान लक्ष्य, स्वार्थ व दृष्टिकोण के कारण सदस्यों में परस्पर सहयोग पाया जाता है जो हम की भावना का विकास करता है।

सामाजिक समूहों के वर्गीकरण मे चार्ल्स कूले द्वारा दिये गये वर्गीकरण को सबसे अधिक वैज्ञानिक और महत्वपूर्ण माना जाता है। कूले ने अपनी पुस्तक 'Social Organization ,1909' में सभी समूहों को दो भागों में विभाजित किया है- प्राथमिक समूह तथा द्वैतीयक समूह । यह वर्गीकरण समूह के सदस्यों की संख्या, समूह के महत्व और सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर किया गया है।

7.4 सामाजिक समूह, सामाजिक समुच्चय तथा सामाजिक श्रेणी में अन्तर

सामाजिक समूह , सामाजिक श्रेणी अथवा सामाजिक समुच्चय नहीं है। इन तीनों की अवधारणाओं में अन्तर है। गिडेन्स ने स्पष्ट किया कि इन तीनों का प्रयोग एक ही अर्थ में नहीं किया जाना चाहिए। उनके अनुसार-

सामाजिक समुच्चय

यह व्यक्तियों का ऐसा समग्र है जिसके अन्तर्गत अनेक लोगों के मध्य किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं होता है। जैसे- रेलवे स्टेशन, बस स्टेशन, मेला आदि सामाजिक समुच्चय के उदाहरण हैं- इनको सामाजिक समूह नहीं कहा जा सकता।

सामाजिक श्रेणी

यह व्यक्तियों का एक संख्यात्मक समूह है, जिसके अन्तर्गत लोगों के मध्य पाये जाने वाली कुछ समानताओं के अनुसार उन्हे विभिन्न वर्गों में बाँटा जा सकता है। जैसे- समान आय या समान पद या समान शिक्षा वाले व्यक्तियों का समूह, सामाजिक श्रेणी कहलाता है, सामाजिक समूह नहीं।

7.5 समूहों के प्रकार

समाज में पाये जाने वाले समूहों की विभिन्न समाजशास्त्रियों ने अपने दृष्टिकोण के अनुसार वर्गीकृत किया है। परन्तु कूले ने पारस्परिक घनिष्टता को सर्वोपरी मानते हुए दो प्रकार के समूहों का वर्णन किया है

(I) प्राथमिक समूह

प्राथमिक समूहों से तात्पर्य उस समूह से है जिसमें सम्बन्ध आमने-सामने के होते है जिनमें परस्पर सहयोग की भावना होती है। प्राथमिक समूह सही अर्थों में प्राथमिक ही है। सदस्यों में सम्बन्ध सामान्य से सम्पूर्णता लिए हुए होते हैं। यह सम्पूर्णता हम की भावना का विकास करती है। व्याहारिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्राथमिक समूह अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं। इन समूहों के द्वारा व्यक्ति समाज के सदस्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। प्राथमिक समूह के माध्यम से आदतों, भावनाओं, मूल्यों, आवश्यकताओं के प्रत्यक्षीकरण की बुनियाद बनती है। इसी वजह से कूले ने इसे मानव स्वभाव की पोषिका कहा है। प्राथमिक समूह के अन्तर्गत परिवार, गांव, समुदाय खेल-कूद के साथी, पड़ोस इत्यादि आते हैं।

(ii) द्वितीयक समूह

द्वितीयक समूह आधुनिक समाज की देन है| आधुनिक समाज में द्वितीयक समूह भी व्यक्ति के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं |ये समूह व्यक्ति की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करते हैं | द्वितीयक समूह आकार में बड़े होते हैं | इस प्रकार के समूह में सदस्यों के बीच सम्बन्धों में अपनत्व और घनिष्ठता का अभाव होता है| द्वितीयक समूहों में व्यक्तियों में अव्यैक्तिक सम्बन्ध होते हैं। व्यक्ति अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु इनका सदस्य बनता है |द्वितीयक समूहों के प्रमुख उदाहरण हैं नगर , राज्य , निगम , राजनीतिक दल ,व्यावसायिक संगठन,अधिकारी तंत्र आदि |

(iii) सन्दर्भ समूह

समाजशास्त्र में सन्दर्भ समूह की अवधारणा का अत्यन्त महत्व है। व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से तुलना तथा दूसरे के व्यवहार का अनुकरण करने की जन्मजात तथा सहज प्रवृत्ति होती है | इसी प्रवृत्ति के कारण कारण मनुष्य स्वयं की तुलना अपने से ऊचें पद तथा प्रस्थिति के लोगों या अपने समूह से बेहतर समूह से करता है, और उस व्यक्ति या समूह के व्यवहार प्रतिमानों का अनुसरण करता है | जिन व्यक्तियों या समूहों का वह अनुसरण करता है ,वे उस व्यक्ति के लिए ‘सन्दर्भ समूह’ होते हैं |

समाजशास्त्र में संदर्भ समूह की अवधारणा का प्रयोग सर्वप्रथम हाईमैन ने किया था | हाईमैन के अनुसार, “प्रत्येक समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं , जिनके मूल्य और मानक अन्य व्यक्तियों के लिए आदर्श बन जाते हैं , जिनका वे अनुकरण करते हैं|” हाईमैन के बाद टर्नर ,मर्टन एवं शैरिफ ने संदर्भ समूह की अवधारणा की व्याख्या की है | शैरिफ ने संदर्भ व्यवहार का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है | शैरिफ के अनुसार संदर्भ समूह वे समूह हैं जिनसे व्यक्ति अपने को समूह के अंग के रूप में सम्बंधित करता है अथवा मनोवैज्ञानिक रूप में सम्बंधित करता है |”

7.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक समूह के विषय पर अध्ययन किया गया है । सामाजिक समूह के अर्थ, परिभाषा तथा सामाजिक समूह की विशेषताओं के बारे में अध्ययन किया। सामाजिक समूह, सामाजिक समुच्चय तथा सामाजिक श्रेणी के बीच अंतर को स्पष्ट किया गया हैं तथा अंत में समूहों के वर्गीकरण का भी ज्ञान प्राप्त किया।

7.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सामाजिक समूह क्या है ? परिभाषित कीजिए।
2. सामाजिक समूह की विशेषताओं का वर्णन कीजिए
3. सामाजिक समुच्चय तथा सामाजिक श्रेणी में अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. समूहों के वर्गीकरण को स्पष्ट कीजिए।

7.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. मिश्र, पी.डी. (2003) व्यक्ति और समाज, न्यू रॉयल बुक कम्पनी: लखनऊ
2. मिश्र, पी.डी. एवं मिश्रा बी. (2004) सोशल वर्क प्रोफेशन इन इण्डिया, न्यू रॉयल बुक कम्पनी: लखनऊ।
3. मिश्र, पी॰ डी॰, सामाजिक सामूहिक कार्य, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, वर्ष 1977।
4. महाजन, एस. (2010) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिसिंग हाउसः नई दिल्ली
5. यादव आर. (2005) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिशिंग हाउसः नई दिल्ली
6. अहूजा, आर (1999) सामाजिक समस्याएं, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
7. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
8. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।
9. लवानिया, एम.एम. एवं राठौड़, ए.एस. (1999) भारतीय समाज, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
10. लवानिया, एम.एम. एवं पडियार, जी. (2010) भारत में सामाजिक समस्यायें, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
11. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा
12. गुप्ता, एम. एल. एवं शर्मा डी.डी., मानव समाज, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2001।
13. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।

इकाई -8

समूह के वर्गीकरण

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 समूह के प्रकार

8. 2.1 बोगार्डस का वर्गीकरण

8.2.2 मिलर का वर्गीकरण

8.2.3 गिडिन्स का वर्गीकरण

8.2.4 एलवुड का वर्गीकरण

8.2.5 लेस्टर वार्ड का वर्गीकरण

8.2.6 समनर का वर्गीकरण

8.2.7 गिलिन और गिलिन का वर्गीकरण

8.2.8 टानीज का वर्गीकरण

8.2.9 न्यूकाँम्ब का वर्गीकरण

8.2.10 राबर्ट. के. मर्टन का वर्गीकरण

8.2.11 मैकाइवर और पेज का वर्गीकरण

8.3 कूले का वर्गीकरण

8. 3.1 प्राथमिक समूह

8.3.2 द्वितीयक समूह

8.4 सामाजिक नियन्त्रण मे समूहों की भूमिका

8.5 सारांश

8.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

8.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप -

1. समूह के प्रकार को समझ सकेंगे। जिसके अन्तर्गत बोगार्डस, मिलर, गिडिन्स, एलवुड, लेस्टर वार्ड, समनर, गिलिन एवं गिलिन, टानीज, न्यूकाम्ब राबर्ट के मर्टन, मैकाइवर एवं पेज तथा कूले के वर्गीकरण का अध्ययन कर सकेंगे।
2. कूले के वर्गीकरण के अन्तर्गत प्राथमिक समूह तथा द्वितीयक समूहों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
3. सामाजिक नियंत्रण में समूहों भी भूमिका का अध्ययन कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में समूह के विभिन्न प्रकारों पर विचार किया गया है। समूह का निर्माण ऐसे व्यक्तियों से होता है जों अपने विभिन्न स्वार्थो अथवा आवश्यकताओं के कारण एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं तथा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं उदाहरण के लिए, व्यक्तियों की भीड़ को हम समूह नही कह सकते क्योंकि इस एकीकरण में कोई भी व्यक्ति एक दूसरे को प्रभावित नही करता है। वास्तव में सामाजिक समूह का अर्थ व्यक्तियों में शारीरिक समीपता का होना मात्र नहीं है बल्कि समूह की प्रमुख विशेषता कुछ व्यक्तियों का एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करना या एक दूसरे के व्यवहारों को प्रभावित करना है। किसी समाज में विभिन्न प्रकार के समूह होते हैं जिनकी संरचना तथा उद्देश्य अलग –अलग होते हैं |

8.2 समूह के प्रकार

भिन्न-भिन्न समाजशास्त्रियों ने समूहों के प्रकारों का वर्णन भिन्न-भिन्न आधारों पर किया है। किसी ने समय को वर्गीकरण का आधार माना है तो किसी ने इसकी स्थाई प्रकृति को। सबसे प्रमुख आधार सामाजिक सम्बन्धों की गहनता का रहा है। इस प्रकार विभिन्न मतों को देखते हुए समूहो का वर्गीकरण निम्नलिखित चार आधारों पर किया जा सकता है:

सदस्यों की संख्या का आधार

समाज में अनेक छोटे या बडे समूह होते हैं। सामाजिक सम्बन्ध समूह में सदस्यों की संख्या पर निर्भर करते हैं। अर्थात् बड़े समूह की अपेक्षा छोटे समूह में सम्बन्ध ज्यादा घनिष्ठ व व्यवस्थित । छोटे से छोटे समूह का निर्माण दो व्यक्तियों का हो सकता है। दो व्यक्तियों के आपसी सम्बन्ध को जर्मन समाजशास्त्री सिमैल ने युग्म कहा है।

आवश्यकता का आधार

कुछ आवश्यकतायें सार्वभौमिक तथा अनिवार्य होती हैं, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति स्वेच्छा से उन समूहों का सदस्य बनता जो उसकी ये आवश्यकतायें पूरी करते हैं । दूसरे शब्दों में ये वे समूह होते हैं जो स्थाई होते हैं। परिवार, शिक्षण संस्थाएं, नातेदारी समूह, धार्मिक समूह, राज्य आदि स्थाई एवं आवश्यक समूह हैं। इसके विपरीत कुछ समूह व्यक्ति की इच्छा पर आधारित होते हैं अर्थात् समय विशेष के लिए बनते हैं। जिनकी प्रकृति अस्थाई होती है जेसे भीड़, श्रोता समूह, खेल समूह, मनोरंजन समूह आदि।

सामाजिक स्थिति का आधार

व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति के आधार पर भी समूहो का निर्माण होता है। समाज में कुछ समूह ऐसे भी होते हैं जिनमें लगभग सभी सदस्यों का समान स्तर होता है। दूसरी ओर कुछ ऐसे समूह भी होते हैं जो विभिन्न हैसियत और पेशे वाले व्यक्तियों को एक साथ जोड़ते हैं। जैसे मजदूर संघ, शिक्षक संघ आदि समान स्तर के समूह हैं और जाति समूह विभिन्न हैसियत वाले लोगो के समूह का सर्वोत्तम उदाहरण है।

दृष्टिकोण का आधार

व्यक्तियों को एक दूसरे के प्रति विचार, भाव तथा दृष्टिकोण के आधार पर भी समूहों को वर्गीकृत किया जा सकता है। जैसे अन्तः समूह एवं बाह्य समूह, तथा हम समूह एवं वे समूह।

इस प्रकार समाजशास्त्रियों द्वारा समूहों का वर्गीकरण अनेक आधारों पर किया गया है। यहाँ पर कुछ प्रमुख समाजशास्त्रियों द्वारा दिए गए वर्गीकरण का वर्णन किया गया है |

8.2.1 बोगार्डस का वर्गीकरण

बोगार्डस ने समूहों को छः वर्गों में विभक्त किया है-

(1) औपचारिक , अनौपचारिक और प्रशासकीय

(2) ऐच्छिक और अनैच्छिक

(3) जननिक और समूहीकृत

(4) प्राथमिक और द्वितीयक

(5) विभाजनकारी और अतिक्रमणकारी

(6) सामाजिक, आसामाजिक ,अर्ध सामाजिक, सामाजिक पक्षधर और सामाजीकृत

8.2.2 मिलर का वर्गीकरण

मिलर ने समूहों को दो भागों में बाटा है-

(अ) क्षैतिज समूह – इस प्रकार के समूह विशाल तथा अंतर्मुखी होते हैं जैसे – राष्ट्र ,धार्मिक संगठन आदि |

(ब) उग्रद समूह – इस प्रकार के समूह छोटे उपविभाग होते हैं जैसे –आर्थिक वर्ग आदि |

8.2.3 गिडिन्स का वर्गीकरण –

गिडिन्स ने दो प्रकार के समूह बताएं हैं:

(अ) जननिक समूह- जननिक समूह परिवार है जिसमें व्यक्ति का जन्म होता है , जोकि उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं होता |

(ब) इकठ्ठे समूह – यह एच्छिक समूह होता है जिसमें व्यक्ति अपनी इच्छा से शामिल होता है |

8.2.4 एलवुड का वर्गीकरण

एलवुड के अनुसार सामाजिक समूहों को निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया है -

(अ) एच्छिक एवं अनैच्छिक

(ब) संस्थागत एवं असंस्थागत

(स) अस्थायी तथा स्थायी समूह

8.2.5 लेस्टर वार्ड का वर्गीकरण

लेस्टर वार्ड ने समूह के विभिन्न स्वरूपों को ध्यान में रखकर उसे मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा है।

(अ) ऐच्छिक समूह

ऐच्छिक समूह से तात्पर्य उन समूहो से है जिनका निर्माण व्यक्तियों द्वारा किन्हीं विशेष हितों को ध्यान में रखकर किया जाता हैं। ऐसे समूहो की सदस्यता ऐच्छिक होती है। इसके लिए उनके ऊपर कोई दबाव नहीं होता है। जैसे क्लब की सदस्यता, सहकारी समिति, ट्रेड यूनियन, महाविद्यालय आदि।

(ब) अनिवार्य समूह

अनिवार्य समूह वो हैं जिनका विकास स्वतः या प्राकृतिक रूप से हुआ है जिसमें शामिल होने या न होना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं करता है। बल्कि सामान्य जीवन निर्वाह के लिए सदस्यता अनिवार्य होती है| परिवार, जाति, समुदाय ऐसे ही समूह हैं।

8.2.6 समनर का वर्गीकरण

समनर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ''फोकवेज'' में दो प्रकार के समूहों की चर्चा की है।

(1) अन्तः समूह

(2) बाह्य समूह

(1) अन्तः समूह -

हम उन समूहों को अन्तः समूह कहते हैं जिनके सदस्य आपस में अपने को 'हम' शब्द के द्वारा सम्बोधित करते हैं। समूह के कार्यो को 'हमारे कार्य', समूह के दृष्टिकोण को 'हमारा दृष्टिकोण' तथा उद्देश्य को 'हमारा उद्देश्य' आदि शब्दों द्वारा स्पष्ट करते हैं। उदाहरण के लिए, जब हम कहते हैं कि यह हमारा परिवार, हमारा साथी, हमारा व्यवसाय, हमारा गाँव, हमारी जाति अथवा हमारा मन्दिर है, तब ये सभी सम्बोधन एक अन्तः समूह की ओर संकेत करते हैं। अन्तः समूह के सभी सदस्य यह विश्वास करते हैं कि समूह के कल्याण में ही उनका कल्याण है। इस भावना के कारण वे सदैव अपने समूह के सदस्यों का ही पक्ष लेते हैं। उदाहरण के लिए, परिवार एक अन्तः समूह है और इसीलिए हम अपने परिवार के सदस्य की कुछ गलती होने पर भी किसी दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा उसी का पक्ष लेते है और उसे न्यायोचित दिखाने का प्रयत्न करते हैं। अन्तःसमूह का कोई निश्चित आकार नहीं बतलाया जा सकता। यह स्थान और परिस्थिति के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। यदि दो परिवारों के बीच संघर्ष हो, तब हमारा परिवार हमारे लिए अन्तःसमूह हो जाता है। यदि यही संघर्ष दो गाँवों के बीच हो, तब जिस गाँव में हम रहते हैं वह हमारा अन्तः समूह बन जाता है और यही संघर्ष यदि दो देशों के बीच है तो हमारा सम्पूर्ण देश हमारे लिए अन्तःसमूह हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि किसी स्थान अथवा परिस्थिति विशेष में हम जिस समूह से बहुत समीपता और अपनापन महसूस करते हैं, वही हमारे लिए अन्तःसमूह होता है।

(2) बाह्य समूह

बाह्य समूह वह है जिसके प्रति हमारी भावनाएँ और मनोवृत्तियाँ भेदभावपूर्ण की होती हैं। अक्सर इन समूहों के सदस्यों को हम सन्देह और घृणा की दृष्टि से देखते हैं। हम उन्हें किसी बाहरी समूह के रूप में देखते हैं। ऐसे समूहो के सदस्यों को हम कम आदरपूर्ण भाव रखते हैं | तात्पर्य यह है कि जब हम किसी विशेष कारण के बिना ही कुछ व्यक्तियों से सामाजिक दूरी का अनुभव करते हैं तब ऐसे व्यक्तियों के समूह को ही हम 'बाह्य समूह' कहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जिस समूह के साथ भी हमारे सम्बन्ध कम मित्रतापूर्ण, घृणा अथवा संघर्ष के होते हैं, वही हमारे लिए बाह्य समूह हो जाता है।

8.2.7 गिलिन और गिलिन का वर्गीकरण

गिलिन और गिलिन ने विभिन्न विशेषताओं के आधार पर समूहो को चार वर्गो में बाँटा है।

(1) नातेदारी या रक्त सम्बन्ध वाले समूह

(2) शारीरिक विशेषताओं वाले समूह

(3) स्थानीय निकटता पर आधारित समूह

(4) सांस्कृतिक हितों पर आधारित समूह

8.2.8 टानीज का वर्गीकरण

एफ. टानीज ने अपनी पुस्तक ''कम्यूनिटी एण्ड एसोसियेशन'' में दो प्रकार के समूहों के बीच विभेद किया है।

(1) गैमिनशैफ्ट

गैमिनशैफ्ट वह सामाजिक व्यवस्था है जिसमें धनिष्ठ, निजी अपवर्जी सम्बन्ध पाये जाते हैं। जैसे परिवार, नातेदारी समूह, पड़ोस, मित्र समूह आदि।

(2) गैसलशैफ्ट

गैसलशैफ्ट का सम्बन्ध सार्वजनिक जीवन ही है। ऐसा जीवन जिसमें जागरूक होकर और सप्रयास प्रवेश किया जाता है।

इन दोनों के सम्बन्धों को हम निम्नलिखित प्रकार से और स्पष्ट रूप से समझ सकते है:

गैमिनशैफ्ट सम्बन्ध	गैसलशैफ्ट सम्बन्ध
व्यक्तिगत	अवैयक्तिक
अनौपचारिक	औचारिक
परम्परागत	उपयोगितावादी
भावनापरक	व्यावहारिक
सामान्य	विशेष

8.2.9 न्यूकॉम्ब

न्यूकाम्ब ने दो प्रकार के समूहों का प्रतिपादन किया है-

(अ) सकारात्मक समूह --

न्यूकाम्ब के अनुसार व्यक्ति का कुछ समूहों के प्रति अधिक झुकाव होता है। वह सरलता पूर्वक ऐसे समूह के मूल्यों और प्रतिमानों को ग्रहण करता है। ऐसे समूह सकारात्मक समूह हैं।

(ब) नकारात्मक समूह--

ऐसे समूह हैं जिन्हें व्यक्ति द्वारा पसन्द नही किया जाता है। उन्हें नकारात्मक समूह कहते हैं।

8.2.10 राबर्ट. के. मर्टन का वर्गीकरण

मर्टन ने निम्न दो प्रकार के समूहों का प्रतिपादन किया है-

(अ) सदस्यता समूह -

मर्टन के अनुसार व्यक्ति परिवार में जन्म लेता है। जन्म के द्वारा वह कुछ समूहों का सदस्य बन जाता है जैसे गाँव, कस्बा, जाति और धर्म आदि। इन समूहों को सदस्यता समूहों के नाम से जाना जाता है।

(ब) असदस्यता समूह -

जैसे-जैसे व्यक्ति बड़ा होता है वह अन्य दूसरे समूहों जैसे क्लब, राजनीतिक दल आदि की सदस्यता ग्रहण करता है। मर्टन ने इन्हें असदस्यता समूह माना है।

8.2.11 मैकाइवर और पेज का वर्गीकरण

मैकाइवर ने अपनी पुस्तक 'सोसाइटी' में अनेक आधारों पर विभिन्न समूहों को चार मुख्य भागों मे विभाजित करके स्पष्ट किया है-

(अ) क्षेत्रीय समूह

क्षेत्रीय समूह वे होते हैं जिनके सदस्य एक निश्चित क्षेत्र के अन्दर रहकर सम्बन्धों की स्थापना करते हैं। इस क्षेत्र के अन्दर ही उस समूह के सभी सदस्यों के हितों की पूर्ति होती है। जैसे गाँव पड़ोस, जनजाति, समुदाय, नगर आदि क्षेत्रीय समूह हैं।

(ब) हितों के प्रति चेतन समूह

ये समूह वे हैं, जिनके सदस्य अपने समूह के हितों के लिए बहुत जागरूक होते हैं। अपने समूह को लाभ पहुँचाने के लिए अक्सर इन समूहों के सदस्य दूसरे समूहों का अहित करने में भी संकोच नही करते। ऐसे समूह के सभी सदस्यों की मनोवृत्तियाँ लगभग समान होती हैं और सम्पूर्ण समूह के कल्याण में ही व्यक्ति अपना कल्याण देखता है। उदाहरण के लिए श्रमिक वर्ग, एक विशेष जाति, प्रजातीय समूह , शरणार्थी समूह और धार्मिक समूह इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

(स) अनिश्चित संगठन वाले समूह

ये समूह वे हैं, जिनमें बहुत से व्यक्ति किसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए एकाएक संगठित हो जाते हैं और उद्देश्य पूरा हो जाने के बाद तुरन्त एक-दूसरे से पृथक हो जाते हैं। इन समूहों के सदस्यों में भी समान मनोवृत्तियाँ पायी

जाती हैं, लेकिन इनका संगठन बहुत अनिश्चित और अस्थिर प्रकृति का होता है। ऐसे समूहों का सबसे अच्छा उदाहरण 'भीड़' है जो एकाएक संगठित होती है और जल्दी ही समाप्त हो जाती है।

(द) निश्चित संगठन वाले समूह

कुछ समूहों का संगठन बहुत निश्चित प्रकृति का होता है। इनका विकास बहुत धीरे-धीरे होता है, और इन समूहों के सदस्य अपने समूह की सदस्यता के प्रति काफी जागरूक होते हैं। इसके उपरान्त भी इन समूहों को दो प्रमुख भागो मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम तो वे जिनके अन्दर केवल सीमित हितों के पूर्ति होती है, जैसे परिवार, पड़ोस, खेल के साथी और क्लब आदि। दूसरे, वे हैं जो काफी संगठित होते ही हैं, साथ ही इनके अन्य सदस्यों के बहुत से हितों की पूर्ति होती है। इनका आकार पहले वाले समूहों की तुलना में काफी बड़ा होता है। उदाहरण के लिए, राज्य, आर्थिक संघ, श्रमिक संघ और धार्मिक संघ इसी प्रकार के समूह हैं।

8.3 कूले का वर्गीकरण

सामाजिक समूहों के वर्गीकरण मे चार्ल्स कूले द्वारा दिये गये वर्गीकरण को सबसे अधिक वैज्ञानिक और महत्वपूर्ण माना जाता है। कूले ने अपनी पुस्तक 'social organization,1990' में सभी समूहों को दो भागों में विभाजित किया है- प्राथमिक समूह तथा द्वैतीयक समूह । यह वर्गीकरण समूह के सदस्यों की संख्या, समूह के महत्व और सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर किया गया है। निम्नांकित विवेचन में हम इन दोनों प्रकार के समूहों की प्रकृति व अन्तर को विस्तार से स्पष्ट करेंगे।

8.3.1 प्राथमिक समूह: कूले की अवधारणा

प्राथमिक समूह से चार्ल्स हर्टन कूले का तात्पर्य ऐसे समूह से था जिसके सदस्य के बीच आमने-सामने के प्रत्यक्ष संबंध हों और जिनके अन्तर्गत हमारे मित्र, साथी, परिवार और प्रतिदिन मिलने वाले लोग हों।

प्राथमिक समूह का अर्थ

प्राथमिक समूह को पारिभाषित करते हुए स्वंय कूले ने कहा है कि ''प्राथमिक समूहों से हमारा तात्पर्य उन समूहों से है, जिनमें सदस्यों के बीच आमने-सामने के घनिष्ठ सम्बन्ध एवं पारस्परिक सहयोग उस समूह की विशेषता होती है। ऐसे समूह अनेक अर्थो में प्राथमिक होते हैं, लेकिन विशेष रूप से इस अर्थ में कि ये व्यक्ति के सामाजिक स्वभाव और विचार के निर्माण में बुनियादी योगदान देते हैं।''

आरम्भ में कूले ने 'प्राथमिक समूह' शब्द का प्रयोग केवल खेल के साथियों, परिवार और पड़ोस की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए किया था, लेकिन बाद में इस शब्द का व्यापक रूप से उपयोग किया जाने लगा। उदाहरण के लिए, परिवार इसलिए प्राथमिक समूह है कि इसके सदस्यों के सम्बन्ध सबसे अधिक घनिष्ठ और पारस्परिक त्याग के होते हैं। परिवार के सदस्य ही बच्चे में वे गुण उत्पन्न करते हैं जो उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। क्रीड़ा-समूह व्यक्ति के विचारों, आदतों और मनोवृत्तियों के निर्माण में सबसे अधिक प्रभावपूर्ण होता है। खेल के साथियों में घनिष्ठता और समीपता के सम्बन्ध होते हैं और उनके द्वारा लगाया जाने वाला प्रत्येक नियन्त्रण प्राथमिक होता है। इसलिए क्रीड़ा समूह भी एक प्राथमिक समूह है। पड़ोस में भी व्यक्तियों के सम्बन्ध आमने सामने के और घनिष्ठ होते हैं, इसीलिए इसे भी प्राथमिक समूह कहा जाता है। इन उदाहरणों के आधार पर प्राथमिक समूह को पारिभाषित करते हुए लुण्डबर्ग का कथन है कि ''प्राथमिक समूह का तात्पर्य दो या दो से अधिक ऐसे व्यक्तियों से है जो घनिष्ठ, सहभागी ओर वैयक्तिक ढंग से आपस में व्यवहार करते हों।''

प्राथमिक समूह की विशेषताएँ

प्राथमिक समूह की प्रकृति को इसकी कुछ प्रमुख विशेषताओं के द्वारा अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। इन विशेषताओं में कुछ बाह्य और कुछ आन्तरिक हैं।

प्राथमिक समूह की विशेषताएँ या दशाएँ

	बाह्य	आन्तरिक
1.	शारीरिक निकटता	1. उद्देश्यों की समानता
2.	छोटा आकार	2. वैयक्तिक सम्बन्ध
3.	स्थायित्व	3. सम्बन्धों में पूर्णता
4.	प्राथमिक नियन्त्रण	
5.	स्वाभाविक सम्बन्ध	
6.	स्वंय साध्य सम्बन्ध	

1. शारीरिक निकटता

प्राथमिक समूह के सदस्य घनिष्ठ तथा आमने-सामने के सम्बन्धों द्वारा बँधे रहते हैं। इन सदस्यों में शारीरिक समीपता के कारण ही अपनेपन की भावना का विकास हो जाता है, जिसके फलस्वरूप समूह अधिक स्थायी रूप ले लेता है।

2. छोटा आकार

प्राथमिक समूहों का आकार अथवा सदस्य-संख्या बहुत सीमित होती है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, प्राथमिक समूह में सदस्यों का एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानना और उनके समीप रहना आवश्यक है। इसका प्रभाव यह होता है कि समूह की सदस्य संख्या केवल उतनी ही रह पाती है, जिससे सभी व्यक्ति एक-दूसरे के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध रख सके। किंग्सले डेविस ने छोटे आकार को प्राथमिक समूह की सबसे प्रमुख विशेषता माना है।

3. तुलनात्मक स्थायित्व

अन्य समूहों की अपेक्षा प्राथमिक समूह अधिक स्थायी होते हैं। वास्तव में प्राथमिक समूह के सदस्यों के बीच सम्बन्ध इतने अधिक घनिष्ठ और व्यक्तिगत होते हैं कि किसी भी सदस्य के लिए इन समूहों की सदस्यता को छोड़ना बहुत कठिन होता है। इसी विशेषता के कारण ही ये समूह अपनी प्रकृति से अधिक स्थायी होते हैं।

4. उद्देश्यों की समानता

प्राथमिक समूह के सदस्यों में एक-दूसरे के साथ विचार-विमर्श होते रहने से उनका दृष्टिकोण समान बना रहता है और इस प्रकार वे समान उद्देश्यों के द्वारा अपने कार्यो को पूरा करते हैं। यही कारण है कि प्राथमिक समूहों में पारस्परिक मतभेद और संघर्ष की घटनाएँ बहुत कम देखने को मिलती हैं।

5. वैयक्तिक सम्बन्ध

प्राथमिक समूह में एक सदस्य का दूसरे से सम्बन्ध व्यक्ति के रूप में होता है, उसके पद अथवा धन के कारण नहीं। उदाहरण के लिए, परिवार में हम किसी व्यक्ति का आदर इसीलिए करते हैं, क्योकि वह हमसे आयु, नातेदारी अथवा अनुभव में बड़ा है, इसीलिए नहीं कि वह धनी है अथवा किसी ऊँचे पद पर आसीन है।

6. संबंधों की सम्पूर्णता

प्राथमिक समूहों के हमारे सम्बन्ध किसी विशेष उद्देश्य से स्थापित नहीं किये जाते। सम्बन्ध स्थापित कर लेना ही व्यक्ति का लक्ष्य नहीं होता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्राथमिक समूह में व्यक्ति जो सम्बन्ध स्थापित करता है, उनका उद्देश्य किसी एक या दो हितों को पूरा करना नहीं होता, बल्कि इनके द्वारा व्यक्ति को जो कुछ भी प्राप्त हो जाता है, वह उसी में सन्तुष्ट रहता है।

7. प्राथमिक नियन्त्रण

ऐसे समूहों में सभी सदस्यों का एक-दूसरे पर प्राथमिक और प्रभावशाली नियन्त्रण होता है। अनुभव बतलाता है कि मनुष्य के जिन व्यवहारों को कानून बिलकुल भी नियन्त्रित नहीं कर सकते, परिवार और क्रीड़ा-समूह के सदस्य उनको पूरी तरह से नियन्त्रण में रखते हैं। इसका कारण प्राथमिक समूह के सदस्यों में पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति और त्याग के गुण होना है। व्यक्ति अचेतन रूप से प्राथमिक समूह के सदस्यों के आदेशों का पालन करता रहता है।

8.स्वाभाविक रूप से विकसित सम्बन्ध

प्राथमिक समूह की स्थापना किसी प्रलोभन अथवा दबाव के कारण योजनाबद्ध रूप से नहीं की जाती, बल्कि ये समूह स्वाभाविक रूप से विकसित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, परिवार एक प्राथमिक समूह है जो हजारों वर्षो तक त्रुटि और सुधार की प्रक्रिया के पश्चात् ही वर्तमान रूप में आ सका।

9. सम्बन्ध स्वयं साध्य

प्राथमिक समूह के सदस्यों के सम्बन्ध अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए नही होते हैं। ये सम्बन्ध स्वंय साध्य होते हैं। इससे दोनो पक्षों को मानसिक सन्तोष एवं सुख मिलता है। परिवार के सम्बन्ध ऐसे ही होते हैं। इसी प्रकार साथ खेलने-कूदने वाले और साथ-साथ पढ़ने वाले लोगो की दोस्ती किसी स्वार्थ से नहीं होती बल्कि स्वंय एक साध्य होती है।

प्राथमिक समूहों के कुछ उदाहरण

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने प्राथमिक समूहों के अनेक उदाहण प्रस्तुत किए हैं जिनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं:

कूले के अनुसार -परिवार ,क्रीड़ा समूह ,पड़ोस या समुदाय|

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार-परिवार ,खेल समूह ,मित्र समूह ,गपसप समूह ,साझेदारी समूह ,अध्ययन समूह ,गिरोह .जनजातीय परिषद ,स्थानीय भाई-चारा

डेविस के अनुसार- परिवार ,खेल समूह ,पड़ोस या गाँव

प्राथमिक समूहों का सामाजिक महत्व

किम्बाल यंग का कथन है कि प्राथमिक समूह मानव संघों के सबसे मौलिक प्रतिनिधि हैं। सम्भवतः ये उतने ही अधिक प्राचीन हैं, जितना कि स्वंय मनुष्य का जीवन। प्राथमिक समूह सबसे सरल रूप में ऐसे समुदायों का निर्माण करते हैं जो सदैव से व्यक्ति की सभी आवश्यकताओं को पूरा करने में सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं।'' इसी आधार पर कूले ने प्राथमिक समूहों को 'मानव-स्वभाव की परिचारिका' कहा है। इस दृष्टिकोण से व्यक्ति और समूह के लिए प्राथमिक समूहों के सामाजिक महत्व को निम्नांकित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है-

(1) व्यक्ति का समाजीकरण - प्रत्येक मनुष्य में घृणा, लालच, भय, क्रूरता और अनुशासनहीनता की प्रवृत्तियाँ जन्मजात रूप से पायी जाती हैं। प्राथमिक समूह व्यक्ति की समाज-विरोधी मनोवृत्तियों पर नियन्त्रण लगाये रखते हैं और व्यक्ति के सामाजिक नियमों का पालन करने की प्रेरणा देते हैं। इसके फलस्वरूप व्यक्ति सरलतापूर्वक अपनी सामाजिक दशाओं से अनुकूलन कर लेता है।

(2) संस्कृति की शिक्षा - प्राथमिक समूहों को एक प्रमुख कार्य व्यक्ति की अपनी संस्कृति और आदर्श-नियमों से परिचित कराना है। उदाहरण के लिए प्राथमिक समूह ही व्यक्ति को बताते हैं कि उनका धर्म, नैतिकता, लोकाचार, जनरीति ,परम्पराएँ तथा रीति-रिवाज क्या हैं तथा ये व्यक्ति से किस प्रकार के व्यवहारों की माँग करते हैं। इन सांस्कृतिक नियमों से परिचित होने से ही व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी बन पाता है।

(3) क्षमता और रूचि का विकास - प्राथमिक समूहों के अतिरिक्त दूसरे सभी समूह अपने-अपने स्वार्थों से बँधे रहते हैं जिनके कारण इनके सदस्यों में कुण्ठा, निराशा और कभी-कभी हीनता की भावना पैदा हो जाती है। इसके विपरीत, प्राथमिक समूह अपने सदस्यों से उनकी क्षमता और रूचि के अनुसार ही कार्य लेते हैं। इसके फलस्वरूप प्राथमिक समूह के सदस्यों को अपनी कुशलता और रूचि में वृद्धि करने का ही अवसर नहीं मिलता, बल्कि उनमें आत्मविश्वास की भावना का भी विकास होता है।

(4) भावनात्मक सुरक्षा - केवल प्राथमिक समूह ही एक ऐसा वातावरण बनाते हैं जिसमें व्यक्ति अपने आपको मानसिक रूप से सुरक्षित महसूस करता है। व्यक्ति चाहे बच्चा हो या वृद्ध, शक्तिशाली हो या रोगी, सम्पन्न हो या निर्धन, प्राथमिक समूह उसे सभी तरह की सुविधाएँ प्रदान करके मानसिक रूप से सुरक्षित बनाते हैं।

(5) मनोरंजन की सुविधाएँ - व्यक्ति के लिए स्वस्थ मनोरंजन देने में भी प्राथमिक समूहों ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। प्राथमिक समूहों के कार्य अपने आप में ही सुखद होते हैं। इन कार्यों में सभी सदस्य हिस्सा बँटाना चाहते हैं तथा साथ ही ये कार्य शिक्षाप्रद भी होते हैं। प्राथमिक समूह द्वारा दिया जाने वाला यह मनोरंजन अक्सर प्रेरणा, उत्साह, हास्य, व्यंग्य, लोकगाथाओं, परिहास और सांस्कृतिक उत्सवों के रूप में देखने को मिलता है।

(6) मानवीय गुणों का विकास - मेरिल का कथन है कि प्राथमिक समूहों का सबसे महत्वपूर्ण कार्य व्यक्तित्व का विकास करना है। प्राथमिक समूह व्यक्ति में सहानुभूति, दया, प्रेम, सहनशीलता और सहयोग के गुण उत्पन्न करते हैं। इन्हीं गुणों की सहायता से व्यक्ति का सामाजीकरण होता है।

(7) विचारों को स्पष्ट करने की क्षमता का विकास - व्यक्ति अपने जीवन में तभी सफल हो सकता है जब आरम्भ से ही उसमें अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की क्षमता और कुशलता पैदा हो जाये। यह कार्य सबसे सुन्दर ढंग से प्राथमिक समूहों के द्वारा ही होता है। उदाहरण के लिए, परिवार ही बच्चे को भाषा का ज्ञान कराता है। भाषा के माध्यम से ही व्यक्ति के विचार बनते हैं और यही विचार उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं।

8.14.2 द्वितीयक समूह

साधारण रूप से कहा जा सकता है कि वे सभी समूह द्वैतीयक हैं, जिनमें प्राथमिक समूह की विशेषताएँ नहीं पायी जातीं। ये समूह प्राथमिक समूहों की तुलना में कहीं अधिक बड़े होते हैं और इसके सदस्य एक-दूसरे से सैकड़ों मील दूर रहकर भी अपने बीच सम्बन्धों को बनाये रख सकते हैं। फलस्वरूप द्वैतीयक समूहों के सदस्यों के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्धों का होना आवश्यक नहीं होता, बल्कि साधारणतया उनके सम्बन्ध डाक, तार, टेलीफोन और संचार के विभिन्न तरीकों के द्वारा स्थापित होते हैं। द्वैतीयक समूह के सदस्यों में घनिष्ठता का अभाव होने के कारण ,उनका कार्यक्षेत्र इतना विस्तृत होता है कि एक-दूसरे से प्रत्यक्ष सम्पर्क न रखते हुए भी सभी सदस्य अपने-अपने हितों को पूरा करते रहते हैं। उदाहरण के लिए, वर्तमान समाज में श्रमिक संघ, राजनीतिक दल, व्यापारिक संगठन और विभिन्न सामाजिक वर्ग, द्वैतीयक समूहों के उदाहरण हैं। आधुनिक शिक्षण संस्थाएँ भी द्वैतीयक समूह के उदाहरण हैं जहाँ एक-दूसरे से काफी दूर रहते हुए भी विद्यार्थी पत्राचार पाठ्यक्रम के द्वारा विभिन्न परीक्षाएँ पास कर लेते हैं।

द्वितीयक समूह की परिभाषाएं निम्नलिखित हैं-

कूले के अनुसार, ''यह वे समूह हैं जिनमें घनिष्ठता और प्राथमिक विशेषताओं का पूर्ण अभाव होता है।''

डेविस के अनुसार, ''द्वितीयक समूह उस सबका विरोधी रूप है, जो प्राथमिक समूहों के बारे में कहा गया है।''

ऑगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार, ''जो समूह घनिष्ठता की कमी का अनुभव करते हैं उन्हें द्वितीयक समूह कहा जाता है।''

स्टिवर्ट के अनुसार, ''द्वितीयक समूहों की परिभाषा उन समूहों के रूप में की जा सकती है, जिनका निर्माण विशेष हितों की पूर्ति के लिए किया गया हो तथा जिनकी रूचि अपने सदस्यों में प्रमुखतः उद्देश्यों की पूर्ति हेतु उनके योगदान में हों।''

द्वितीयक समूहों की विशेषताएं

द्वितीयक समूहों की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए उसकी प्रमुख विशेषताओं को समझना आवश्यक है। जो इस प्रकार हैं-

(1) बड़ा आकार - द्वितीयक समूह का आकार बड़ा होता है। आकार बड़ा होने के कारण इस समूह में सदस्य संख्या लाखो में हो सकती है। जैसे - राज्य, राष्ट्र आदि।

(2) अप्रत्यक्ष एवं अवैयक्तिक सम्बन्ध - द्वितीयक समूह का आकार बड़ा होने से सदस्यों में भौतिक समीपता नही होती है। जिसके कारण सदस्यों के पास्परिक सम्बन्ध अप्रत्यक्ष होते हैं और इनकी स्थापना से संचार के साधनों जैसे- टेलीफोन, रेडियो, पत्र, प्रेस आदि का विशेष महत्व होता है। अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होने से सम्बन्ध भी अवैयक्तियक हो जाते हैं। इस प्रकार सदस्यों की व्यक्तिगत घनिष्ठता केवल औपचारिकता तक सीमित रहती है।

(3) ऐच्छिक सदस्यता - प्रायः द्वितीयक समूहों की सदस्यता ऐच्छिक होती है। व्यक्ति अपनी इच्छा से इन समूहों का सदस्य बनता है ओर छोड़ देता है।

(4) स्थायित्व की कमी- ये समूह कम स्थाई होते हैं क्योंकि एक विशेष स्वार्थ के पूरा हाने अथवा न होने की स्थिति मे सदस्य इनकी सदस्यता को कभी भी छोड़ सकते हैं।

(5) योजनाबद्ध व्यवस्था - इन समूहों का निर्माण जान-बूझ कर किया जाता है जिससे व्यक्ति अपने हितों को पूरा कर सके। समाज में कुछ लोग अपने सामान्य उद्देश्यों को पूरा करने के लिए विचार विमर्श कर योजनाबद्ध तरीके से इन समूहों का निर्माण करते हैं।

(6) सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति - द्वितीयक समूहों में सदस्यों का स्वार्थ बहुत सीमित होता है। ये दूसरे सदस्यों से उतना ही सम्बन्ध रखते हैं जितना उनके स्वार्थो को पूरा करने के लिए आवश्यक होता है।

(7) परिवर्तनशीलता - द्वितीयक समूहों की प्रकृति परिवर्तनशील होती है। इस समूहों का निर्माण व्यक्तियों की आवश्यकताओं के अनुसार होता है। अतः व्यक्तियों की आवश्यकताओं में परिवर्तन होने के साथ इन समूहों के रूप में भी परिवर्तन हो जाता है।

(8) प्रतिस्पर्धा की भावना - इस प्रकार के समूहों में सदस्यों के मध्य प्रतियोगी भावना विद्यमान रहती है। चाहे किसी प्रकार का द्वितीयक समूह हो, व्यक्ति अपनी योग्यता एवं क्षमता को बढ़ाकर सदैव आगे निकलने का प्रयास करता है।

(9) औपचारिक नियम - इस प्रकार के समूह में पद एवं भूमिकाओं में स्पष्ट विभाजन होता है। समूहों का संगठन औपचारिक नियमों से नियमित होता है।

द्वितीयक समूहों के प्रकार

द्वितीयक समूहों को संस्कृति के आधार पर निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है-

(क) सांस्कृतिक संगठित समूह-

(1) प्रस्थिति समूह - सामाजिक वर्ग, जाति

(2) राष्ट्रीयता समूह - राज्य, राष्ट्र

(3) निवास समूह - विभिन्न समुदाय, विभिन्न शहर, व क्षेत्रीय समूह

(4) रूचि एवं उद्देश्य समूह - विभिन्न धार्मिक समूह, औद्योगिक समूह, श्रमिक संघ, शैक्षिक संगठन, सामुदायिक संगठन, क्लब आदि।

(ख) सांस्कृतिक असंगठित समूह -

(1) जैविक समूह - आयु, जाति एवं प्रजाति समूह

(2) सामयिक समूह - भीड़, श्रोता समूह, जनसमूह या सभा आदि।

अर्द्धसमूह (Quasi Group)

अर्द्धसमूह प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों के मध्य में आते हैं। बोटोमोर ने अपनी पुस्तक ‘‘सोशियोंलॉजी’’ में अर्द्ध समूह की सामाजिक समूहों के वर्गीकरण में शामिल किया है। उनके अनुसार ऐसे कई मानवीय संकलन होते हैं जिनका कोई अन्य ढाँचा नही होता परन्तु उनके सदस्यों में समान रूचियाँ और समान व्यवहार प्रतिमान होते हैं। जिसके फलस्वरूप वे कभी भी वे निश्चित एवं विशिष्ट संगठित समूह का निर्माण कर सकते हैं। ऐसे समूहों को अर्द्धसमूह कहते हैं। उन्होने सामाजिक वर्ग और जनता को अर्द्धसमूह में रखा है।

जींसबर्ग ने भी अर्द्धसमूह की व्याख्या की है, उन्होंने समूह के संगठन के आधार पर अर्द्धसमूह को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार अर्द्धसमूह में सदस्यों के मध्य मनोवैज्ञानिक चेतना या संगठन का अभाव होता है। उन्होंने ने सामाजिक वर्ग, प्रस्थिति समूह, आयु एवं लिंग समूह आदि को अर्द्धसमूह की श्रेणी में रखा है। क्योंकि इन समूहों के सदस्यों में काफी कुछ समान विशेषता होने के बाद भी परस्पर संगठन एवं जागरूकता का अभाव पाया जाता है। उनके अनुसार जैसे-जैसे ये अर्द्धसमूह संगठित होते जाते हैं वैसे-वैसे ही सामाजिक समूह बनते जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर अर्द्धसमूह की निम्नलिखित विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं-

(1) अर्द्धसमूह के सदस्यों की संख्या अनिश्चित होती है।

(2) अर्द्धसमूह के सदस्यों का कोई निश्चित संगठन नहीं होता है।

(3) अर्द्धसमूह के सदस्यों में किसी न किसी आधार पर समानता पाई जाती है। जैसे- आयु, शिक्षा,, जाति वर्ग, राज्य आदि की।

(4) अर्द्धसमूह के सदस्य व्यापक क्षेत्र मे विस्तृत होते हैं।

(5) अर्द्धसमूह के सदस्यों के मध्य सम्पर्क की निरन्तरता का अभाव पाया जाता है।

8.4 सामाजिक नियन्त्रण मे समूहों की भूमिका

सामाजिक समूहों की धारणा और इसके विभिन्न रूपों को देखने के बाद प्रश्न यह उठता है कि सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र में इन समूहों की क्या भूमिका है| वास्तविकता यह है कि कोई समूह चाहे प्राथमिक हो अथवा द्वैतीयक वह किसी न किसी क्षेत्र में व्यक्तियों के व्यवहारों को अवश्य ही नियन्त्रित करता है। प्राथमिक समूह घनिष्ठता, स्नेह, प्रेम, त्याग और कल्याण की भावना पर आधारित होने के कारण छोटे-छोटे समुदायों पर नियन्त्रण रखने के अच्छे साधन हैं, जबकि द्वैतीयक समूह औपचारिक नियन्त्रण के द्वारा वर्तमान जटिल समाजों के लिए बहुत प्रभावपूर्ण सिद्ध हुए हैं।

जीवन के आरम्भ से अन्त तक विभिन्न समूह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखते हैं और एक समूह के सभी सदस्यों के व्यवहारों में समानता बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। आरम्भ में हमारे ऊपर परिवार का प्रभाव सबसे अधिक होता है जो वास्तव में एक छोटा सामाजिक समूह है। इसके उपरान्त खेल के साथियों का समूह और पड़ोस भी आग्रह, प्रशंसा, आरोप तथा दबाव के द्वारा हमारे व्यवहारों को नियन्त्रित करते हैं। कुछ बड़े होने पर अनेक आर्थिक और राजनीतिक संघ अपने विभिन्न नियमों के द्वारा हमारे व्यवहारों पर अंकुश रखने लगते हैं यदि ध्यान से देखा जाय तब स्पष्ट हो जाता है कि एक सामान्य व्यक्ति का जीवन यह समझे बिना ही व्यतीत हो जाता है कि कानून क्या है? इसके बाद भी उसका पूरा जीवन अनुशासित रहता है और वह समाज के नियमों के अनुसार अपना कार्य करता रहता है। ऐसा केवल इसलिए है कि प्रत्येक पग पर कोई न कोई सामाजिक समूह व्यक्तियों के व्यवहारों पर नियन्त्रण लगाये रहता है।

विभिन्न सामाजिक समूह नियन्त्रण की स्थापना में इसीलिए भी महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं कि उनके द्वारा व्यक्तियों की बहुत सी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। यह स्वाभाविक है कि जिस समूह में हमारी जितनी अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, उसका हमारे लिए उतना ही अधिक महत्व होता है। परिवार का हमारे ऊपर सबसे अधिक नियन्त्रण इसलिए होता है क्योंकि परिवार ही हमारी जैविकीय और मनोरंजन सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति किसी भी दूसरे समूह द्वारा नही हो सकती। वास्तव में, विभिन्न समूह हमारे

विभिन्न उद्देश्य को पूरा करने के महत्वपूर्ण साधन हैं। व्यक्ति कितना भी मेधावी, पराक्रमी और कार्यकुशल क्यों न हो लेकिन समूहों की अनुपस्थिति में उसका सामाजिक जीवन किसी प्रकार भी सफल नहीं हो सकता। जो समूह व्यक्ति के जीवन में जितने अधिक महत्वपूर्ण होते हैं, वे निश्चित ही उसपर उतना ही नियन्त्रण की स्थापना में भी महत्वपूर्ण सिद्ध होंगे ।

समकालीन युग में व्यक्तिवादिता के कारण द्वैतीयक समूहों की संख्या में लगातार वृद्धि होती जा रही है। कुछ क्षेत्रों में यह समूह हानिकारक भी सिद्ध होते हैं, लेकिन सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र में इनके महत्व की अवहेलना नही की जा सकती। द्वैतीयक समूहों के पास कानून और दण्ड की शक्ति होती है। इन समूहों की सदस्यता प्राप्त करने के बाद व्यक्ति के लिए इनके आदेशों का पालन करना अनिवार्य हो जाता है। जो व्यक्ति इन समूहों के आदेशों का पालन नहीं करते उनके दोषी प्रमाणित होने पर उन्हें राज्य की ओर से दण्ड दिया जाता है। इस प्रकार द्वैतीयक समूहों का प्रमुख कार्य किसी समूह विशेष के हितो की रक्षा करना न होकर, सम्पूर्ण समुदाय के हितो की रक्षा करना होता है। इससे समाज का सम्पूर्ण जीवन नियन्त्रित बना रहता है। वास्तव में विभिन्न समूह समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार व्यक्तियों के व्यवहारों में परिवर्तन उत्पन्न करते रहते हैं और इस प्रकार समाज में संगठन बनाये रखने में सहायता देते हैं। यही कारण है कि सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र में सामाजिक समूहों को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है।

8.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई में समूह के प्रकार का अध्ययन किया। समूह के वर्गीकरण में अनेक विद्वानों के वर्गीकरण के विषय में ज्ञान प्राप्त किया जिसमें बोगार्डस, गिलिन एवं गिलिन, गिडिन्स, समनर, मर्टन तथा मैकाइवर एवं पेज, कूले तथा एलवुड के वर्गीकरण के बारे में अध्ययन किया गया है। तत्पश्चात् टानीज, न्यूकाम्ब तथा लेस्टर वार्ड के वर्गीकरण का भी अध्ययन किया।

8.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. समूह से आप क्या समझते है ? समूह के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
2. बोगार्डस एवं मिलर के वर्गीरिकण को समझाइये।
3. गिडिन्स एवं एलवुड के वर्गीकरण को समझाइये।
4. लेस्टर वार्ड, समनर एवं गिलिन और गिलिन के वर्गीकरण की विवेचना कीजिए।
5. टानीज, राबर्ट के. मार्टन एवं मैकाइवर और पेज के वर्गीकरण की व्याख्या कीजिए।
6. न्यूकाम्ब एवं कूले के वर्गीकरण को समझाइये।

8.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अहूजा, आर (1999) सामाजिक समस्याएं, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
2. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
3. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
4. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

5. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर

6. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स: नई दिल्ली

7. राम, एस. पी. (2010) भारतीय सामाजिक समस्याएं: अर्जुन पब्लिशिंग हाउस: नई दिल्ली

9. सिंह, डी. के., पालीवाल, एस एवं मिश्र, आर. (2010) मानव समाजः संगठन एवम् विघटन के मूल तत्वः न्यू रायल बुक कम्पनीः लखनऊ

10. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।

11. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।

12. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर

इकाई -9

सामाजिक परिवर्तन :अर्थ एवं कारक

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा

9.2.1 सामाजिक परिवर्तन की परिभाषाएं

9.3 सामाजिक परिवर्तन के कारक

9.3.1 सामाजिक परिवर्तन के प्रौद्योगिकीय कारक

9.3.2 सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारक

9.3.3 सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक कारक

9.3.4 सामाजिक परिवर्तन के शैतिक कारक

9.4 सारांश

9.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

9.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

9.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप-

1. सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा एवं परिभाषाओं को समझ सकेंगे।
2. सामाजिक परिवर्तन के कारकों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
3. सामाजिक परिवर्तन के कारकों में मुख्यतः प्रौद्योगिकीय कारक, आर्थिक कारक, सांस्कृतिक कारक तथा भौतिक कारकों के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक परिवर्तन के विषय में चर्चा की गई है। सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य सामाजिक संरचना और सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन से है, इसलिए सामाजिक संस्थाओं, प्रस्थिति, भूमिका और प्रतिमानों में समय-समय में होने वाले परिवर्तन की प्रक्रिया को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। मानव सभ्यता के प्रारम्भ में परिवर्तन की गति धीमी रही, विकास के साथ-साथ परिवर्तन में तीव्रता आयी है। परिवर्तन के बिना

विकास सम्भव नहीं है। इस प्रकार सकते है कि सामाजिक संस्थाओं, मूल्यों, नियमों, कार्यविधियों, विचारों आदि में होने वाला कोई भी परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन है। सामाजिक परिवर्तन का अर्थ, सामाजिक से है, जैसे - समाज का आकार, इसके भागों की बनावट तथा उनमें संतुलन या इसके संगठन के प्रकार। इसके अतिरिक्त सामाजिक परिवर्तन स्वीकृत विधियों में होने वाले परिवर्तनों से है, चाहे वह परिवर्तन भौगोलिक दशाओं के कारण हो, सांस्कृति साधनों, जनसंख्या के रूप में अथवा एक समूह में अविष्कार या सांस्कृतिक प्रसार से उत्पन्न हुए हो।

9.2 सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा

समाज सदैव परिवर्तनशील रहा है। सभ्यता के प्रारम्भ से ही परिवर्तन की प्रक्रिया अनवरत् रूप से चली आ रही है जिसके फलस्वरूप विकास की प्रक्रिया भी चलती रहती है। व्यक्तियों के रहन-सहन, विचारों, मूल्यों में परिवर्तन होते रहते हैं। ये परिवर्तन अनेक कारकों से प्रभावित होते हैं, जिसके कारण इनकी गति धीमी अथवा तीव्र होती रहती है परन्तु किसी काल में सामाजिक परिवर्तन की गति स्थिर नहीं होती हैं। सुख और सुविधाजनक जीवन का प्रयास मानव के स्वभाव में है| इसकी खोज में ही समाज निरन्तर विकास करता रहा तथा समाज के अन्दर सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं, समूहों, सामाजिक संरचना, सामाजिक प्रतिमानों, रीतियों तथा तरीकों में सदैव परिवर्तत होता रहा है। मानव सभ्यता के प्रारम्भ में परिवर्तन की गति धीमी रही, विकास के साथ-साथ परिवर्तन में तीव्रता आयी है। परिवर्तन के बिना विकास सम्भव नहीं है। इस प्रकार हम कह सकते हैं, कि सामाजिक संस्थाओं, मूल्यों, नियमों, कार्यविधियों, विचारों आदि में होने वाला कोई भी परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन है।

9.2.1 सामाजिक परिवर्तन की परिभाषाएं

समाजिक परिवर्तन एक वृहद अवधारणा है | सर्वप्रथम 1922 में ऑगबर्न ने अपनी पुस्तक ‘Social Change’ में सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को स्पष्ट किया था |सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य सामाजिक संरचना में और समाज में होने वाले सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन से है, इसलिए सामाजिक संस्थाओं, प्रस्थिति, भूमिका और प्रतिमानों में समय-समय में होने वाले परिवर्तन की प्रक्रिया को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। सामाजिक परिवर्तन की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं-

किंग्सले डेविस के अनुसार, ‘‘सामाजिक परिवर्तन का अर्थ सामाजिक संगठन अर्थात् समाज के ढाँचे और कार्यों में उत्पन्न होने वाले परिवर्तन से है।’’ समाज के ढाँचे का निर्माण व्यक्ति की प्रस्थिति और भूमिका, विभिन्न संस्थाओं तथा सांस्कृतिक विशेषताओं द्वारा होता है। डेविस के अनुसार इन्ही विशेषताओं में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों को हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन का अर्थ समाज के ढाँचे का निर्माण करने वाली इकाईयों में परिवर्तन होना है।

गिन्सबर्ग के शब्दों में, ‘‘सामाजिक परिवर्तन का अभिप्राय सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन अर्थात् समाज के आकार, इसके बनावट अथवा इसके संगठन के स्वरूप अथवा इसके भागों के संतुलन में होने वाले परिवर्तन से है।’’

बाटोमोर के अनुसार, ‘‘सामाजिक परिवर्तन में हम उन परिवर्तनों को सम्मिलित करते हैं जो सामाजिक संरचना, सामाजिक संस्थाओं अथवा उनके पारस्परिक सम्बन्धों में घटित होते हैं।’’

जोन्स ने सामाजिक परिवर्तन को समझाते हुए कहा है कि ‘‘सामाजिक परिवर्तन वह शब्द है जिसका प्रयोग सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक अन्तःक्रियाओं और सामाजिक संगठन के किसी भी पक्ष में उत्पन्न होने वाले परिवर्तन को समझाने के लिए किया जाता है।’’

गिलिन और गिलिन के अनुसार, ''सामाजिक परिवर्तन का अर्थ जीवन की स्वीकृत विधियों में होने वाले परिवर्तन से है, चाहे ये परिवर्तन भौगोलिक दशाओं के कारण हों, सांस्कृतिक उपकरणों, जनसंख्या के रचना अथवा विचारों में परिवर्तन के कारण हों, अथवा समूह के अंदर हुए आविष्कारों या संस्कृति के प्रसार से उत्पन्न हुए हों।''

मेरिल और एल्ड्रिज के अनुसार, ''सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य यह है कि समाज के अधिकतर व्यक्ति इस प्रकार के कार्यों में संलग्न हैं जो उनके पूर्वजों से भिन्न हैं।''

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, ''समाजशास्त्री के रूप में हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध केवल सामाजिक सम्बन्धों से है इसलिए हम उन परिवर्तनों को हम सामाजिक परिवर्तन मानेंगे जो कि सामाजिक सम्बन्धों में हों।''

एच.टी. मजूमदार के अनुसार, ''सामाजिक परिवर्तन, व्यक्तियों के जीवन अथवा समाज की क्रिया के पुराने ढंग को विस्थापित या परिवर्तित करने वाला नए ढंग अथवा शोभाचार है।''

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं-

(1) सामाजिक परिवर्तन एक लगातार चलने वाली सर्वव्यापी प्रक्रिया है।

(2) सामाजिक परिवर्तन एक अनिवार्य घटना है |

(3) सामाजिक परिवर्तन, समाज की संरचना एवं प्रकार्यों में परिवर्तन को कहते हैं।

(4) सामाजिक परिवर्तन समाज के अधिकांश सदस्यों द्वारा अपने जीवन व्यवहार एवं विश्वासों में स्वीकार किए जाने पर ही स्वीकार्य है|

(5) सामाजिक परिवर्तन की गति असमान और सापेक्षिक होती है जैसे ग्रामीण समाज की अपेक्षा शहरी समाज में परिवर्तन ज्यादा तीव्र गति से होता है।

(6) सामाजिक परिवर्तन की निश्चित भविष्यवाणी करना संभव नहीं है क्योंकि सामाजिक परिवर्तन समाज में विद्यमान परिवर्तन के कारकों और उन कारकों का समाज में सापेक्षिक महत्व पर निर्भर करता है। एक आकस्मिक कारक भी सामाजिक परिवर्तन की स्थिति पैदा कर सकता है|

(7) सामाजिक परिवर्तन श्रृंखला- प्रतिक्रिया-अनुक्रम को दर्शाता है | समाज के सभी अंग आपस में अंतर्संबंधित होते हैं |समाज के एक अंग में परिवर्तन दूसरे अंग पर प्रतिक्रिया करते हैं |

(8) सामाजिक परिवर्तन आने सामाजिक अंगों या तत्वों की अंतर्क्रिया का परिणाम होता है |

(9) सामाजिक परिवर्तन प्रमुखतया प्रमुखतया प्रतिस्थापन अथवा रूपान्तरण प्रकार के होते हैं |

9.3 सामाजिक परिवर्तन के कारक

9.3.1 सामाजिक परिवर्तन के प्रौद्योगिकीय कारक

सभ्यता के प्रारम्भ से ही मानव अपने कार्यों को आसान बनाने, जीवन को सुखमय बनाने और मानव श्रम को कम करने के लिसे प्रयासरत् रहा है। इसी प्रयास में, वह अनेक नवीन साधनों, यन्त्रों व तकनीकी का प्रयोग करता रहा है। जिससे नित नयी प्रौद्योगिकी का आविष्कार व विकास होता गया। वर्तमान समय में प्रौद्योगिकी का विकास इतना अधिक हो गया है कि वह मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित कर रहा है। जिन देशों में आज प्रौद्योगिकी का

विकास जितना अधिक हो गया है वे उतने ही विकसित हो गये हैं तथा सम्पूर्ण संसार का नेतृत्व कर रहे हैं। प्रौद्योगिकी के विकास से उत्पादन के तरीकों, संस्थागत नियमों, व्यवहारों, सामाजिक सम्बन्धों, परिवार की संरचना और मनोवृत्ति, आदि में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। ये परिवर्तन हमारे परिवारों, ग्रामीण व शहरी समुदायों, सामाजिक मूल्यों आदि को प्रभावित कर रहे हैं, जिससे लोगों के सोचने के तरीके, रहन-सहन, विचारधारायें, दृष्टिकोण व नजरिये में तेजी से परिवर्तन हो रहा है। प्रौद्योगिकी के विकास ने गत् 100 वर्षों में इतना अधिक सामाजिक परिवर्तन किया है, जितना कि विगत् 1000 वर्षों में नहीं हुआ था।

प्रौद्योगिकी का अर्थ

मानव द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये प्रयोग किए गए तरीकों, साधनों, यन्त्रों व ज्ञान को प्रौद्योगिकी कहते हैं। प्रौद्योगिकी की प्रकृति स्थिर नहीं होती, इसमें सदैव परिवर्तन व विकास की सम्भावनाएं रहती है।

कार्ल मार्क्स के अनुसार, ''प्रौद्योगिकी, प्रकृति के साथ मनुष्य के व्यवहार करने के ढ़ंग तथा उत्पादन करने के उस तरीके को व्यक्त करती है, जिसके द्वारा व्यक्ति जीवित रहता है और अपने सामाजिक सम्बन्धों तथा मानसिक धारणाओं के स्वरूप को निर्धारित करता है।''

प्रो. सरन के अनुसार, ''किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये, अप्रत्यक्ष तथा उच्च श्रेणी के साधनों की व्यवस्था को हम प्रौद्योगिकी कहते हैं।''

प्रौद्योगिकी का समाज पर प्रभाव

प्रौद्योगिकी निरन्तर परिवर्तित होती रहती है और इसमें होने वाला परिवर्तन जीवन के अनेक क्षेत्रों को प्रभावित करता है। प्रौद्योगिकी निम्नवत् रूप से समाज को प्रभावित कर सामाजिक परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न करती है:

1. सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन

प्रौद्योगिकी के विकास ने सामाजिक सम्बन्धों में गतिशीलता ला दी है। प्रारम्भ में उत्पादन के तरीके सरल थे। कृषि से लोगों की आवश्यकताएं पूर्ण होती थीं। लोगों के सामाजिक सम्बन्धों का दायरा भी सीमित था। औद्योगीकरण ने व्यक्ति के जीवन में बहुत सी नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न की। उदाहरणस्वरूप जीविकोपार्जन के लिये उद्योगों व कारखानों में बहुत से लोगों के साथ कार्य करने के अवसर मिले तथा नये सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण हुआ। इसी प्रकार व्यवसाय व बाजार में भी अधिकाधिक लोगों से सम्पर्क करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रौद्योगिकी के कारण तीव्र यातायात के साधनों का विकास हो गया है, जिससे लोग सम्बन्धियों के यहाँ आसानी से पहुँच जाते हैं। वर्तमान में, व्यक्ति के प्राथमिक समूहों के सम्बन्धों व द्वितीयक समूहों के सम्बन्धों में गतिशीलता व जटिलता आ गयी है।

2. ग्रामीण जीवन में परिवर्तन

औद्योगिक क्रान्ति ने शान्त और सुस्त ग्रामीण जीवन में नयी ऊर्जा भर दी है। गाँवों में सूचना, संचार, मनोरंजन व कृषि की नयी तकनीकी पहुँच जाने से लोगों में जागरूकता बढ़ी है। उनके परम्परागत विचारों और व्यवहार के ढ़ंगों में परिवर्तन हो गया है। अब व्यक्ति समस्या के कारणों को दैवी प्रकोप न मानकर, तार्किक दृष्टिकोण से सोचता है तथा समाधान के लिये नवीन प्रौद्योगिकी द्वारा उपलब्ध साधनों का उपयोग करता है। इस प्रौद्योगिकी के उपयोग से ग्रामीण विकास को बल मिला है तथा ग्रामीण जीवन पहले से बेहतर हो गया है।

3. श्रमिक वर्ग में परिवर्तन

प्रौद्योगिकी की उन्नति से उद्योगों को बढ़ावा मिला, जिससे कार्य करने के अधिकाधिक अवसर उपलब्ध हुये और लाखों व्यक्ति औद्योगिक श्रमिकों के रूप में कार्य करने लगे है। इन औद्योगिक श्रमिकों में कार्य के घन्टों का महत्व, अपने अधिकारों की चेतना व संगठन के प्रति जागरूकता पायी जाती है, जिससे कि असंगठित श्रमिकों की अपेक्षा औद्योगिक श्रमिकों के शोषण में कमी और कार्य की दशाओं में सुधार हुआ है। इस प्रकार प्रौद्योगिकी ने समाज के एक बड़े वर्ग की स्थिति में परिवर्तन किया है।

4. कार्य का विशेषीकरण

प्रौद्योगिकी के विकास के कारण उत्पादन कार्य बड़ी-बड़ी मशीनों से किया जाने लगा, जिसमें कार्य करने वाले श्रमिकों के लिये विशेष शिक्षण व प्रशिक्षण आवश्यक हो गया। प्रत्येक कार्य के लिये शारीरिक श्रम के अतिरिक्त विशेष ज्ञान व दक्षता की भी आवश्यकता पड़ने लगी। इस प्रकार विशेष कार्य के लिये विशेष श्रमिकों की आवश्यकता पड़ने लगी तथा श्रम का स्वरूप बदल गया। दुर्खीम के अनुसार, ''श्रम वास्तव में समाज की आधारभूत इकाई है और इसका प्रौद्योगिकी से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण प्रौद्योगिकी में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन 'श्रमिकों की दशाओं' तथा दूसरे शब्दों में समाज को परिवर्तित कर देता है।''

5. गतिशीलता में वृद्धि

प्रौद्योगिकी के विकास ने विश्व में व्यक्तियों के मध्य दूरियाँ कम कर दी हैं। यातायात व संचार के साधनों द्वारा व्यक्ति कुछ ही समय में एक स्थान से दूसरे स्थान जा सकता है तथा कुछ ही क्षणों में विश्व में किसी से भी सम्पर्क कर सकता है। प्रौद्योगिकी की इस देन से समाज में गतिशीलता बढ़ी है तथा विश्व समुदाय में आपस में अधिकाधिक सम्पर्क होने लगे हैं, जिससे लोगों को अन्य समूहों के विचारों, संस्कृति आदि का जानना सुलभ हो गया है। इस प्रकार अधिकांश व्यक्ति दूसरे स्थानों की विशेषताओं व विचारों से परिचित होने लगे। इस स्थिति ने सामाजिक परिवर्तन को प्रोत्साहित किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि प्रौद्योगिकी के परिवर्तन ने सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये हैं। प्रौद्योगिकी के कारण गत् एक शताब्दी में सामाजिक जीवन में इतने परिवर्तन हुये हैं, जितने विगत् दस शताब्दियों में नहीं हुये थे, परन्तु प्रौद्योगिकी का विकास ही सामाजिक परिवर्तन का एक मात्र कारक नहीं है क्योंकि प्रौद्योगिकी हमारे भौतिक पर्यावरण, विचारों और सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करती है| वहीं हमारी संस्कृति, समाज की संरचना और भौतिक पर्यावरण भी प्रौद्योगिकी के रूप का निर्धारण करता है। अतः हम कह सकते हैं कि प्रौद्योगिकी सामाजिक परिवर्तन के अन्य कारकों की भाँति एक परस्पर निर्भर किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक है।

9.3.2 सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारक

व्यक्ति की आर्थिक स्थिति में उतार-चढ़ाव, उसके रहन सहन, जीवन स्तर, उनकी अभिवृत्तियों, प्रथाओं, जनरीतियों व रीति-रिवाजों को प्रभावित करती है, जिसके फलस्वरूप उसके व्यवहार व सामाजिक संरचना में भी परिवर्तन होता है। अनेक अध्ययनों से भी यह पाया गया है कि समाज में लोगों की आर्थिक उन्नति और अवनति सामाजिक परिवर्तन का एक कारक है। आर्थिक पक्ष, प्रत्येक समाज का एक महत्वपूर्ण घटक है तथा यह समाज के सदस्यों के दिन-प्रतिदिन के जीवन को प्रभावित करता है। निम्नलिखित आर्थिक दशायें सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करती हैं:

1. उच्च जीवन स्तर की आकांक्षा

उच्च जीवन स्तर से तात्पर्य जीवन से सम्बन्धित सुविधाओं तथा वस्तुओं की पर्याप्त मात्रा में, उपलब्धता एवं उनका दैनिक जीवन में उपयोग से है। ये सभी सुविधाएं एवं वस्तुएं व्यक्ति को धन से ही प्राप्त होती है। इसी कारण धनी व्यक्तियों का जीवन स्तर प्रायः उच्च पाया जाता है तथा निर्धन व अभावग्रस्त व्यक्ति निम्न जीवन स्तर की श्रेणी में आ जाते हैं। उच्च जीवन स्तर प्राप्त करने के लिये मानव सदैव प्रयत्नशील रहता है। अपनी आर्थिक स्थिति को और बेहतर करने के लिये व्यक्ति परिश्रम करता है। वह नैतिकता, सामाजिक मूल्यों, अतार्किक व्यवहारों, प्रथाओं और लोकाचारों की उपेक्षा आर्थिक स्वार्थों को अधिक महत्व देने लगता है। इस प्रकार व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति में परिवर्तन के प्रयास में सामाजिक परिवर्तन की भी स्थिति ला देता है।

2. औद्योगीकरण एवं उत्पादन का स्वरूप

औद्योगीकरण का उद्देश्य अधिक से अधिक उत्पादन करना और अधिक से अधिक आर्थिक लाभ प्राप्त करना है। अधिक से अधिक उत्पादन की प्रवृत्ति ने कुशल श्रमिकों को रोजगार के अपार अवसर उपलब्ध कराये तथा बाजार में भी व्यक्तियों के कार्य की संलग्नता बढ़ी। वास्तव में औद्योगीकरण ने श्रम के महत्व को और अधिक स्पष्ट किया तथा लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार किया है। इसी प्रकार व्यापक औद्योगीकरण के फलस्वरूप श्रमिक वर्ग को संगठित स्वरूप मिला, जो अपने अधिकारों और लाभ के प्रति अधिक सचेत रहने लगा तथा जनसामान्य की जागरूकता में वृद्धि हुई। उसके विचारों व मनोवृत्तियों में परिवर्तन हुये, उनके व्यवहारों, वेश-भूषा, खान-पान, शिष्टता के ढंगों में व्यापक परिवर्तन हुये।

3. वितरण व्यवस्था

वितरण व्यवस्था से तात्पर्य, आवश्यक वस्तुओं व संसाधनों का समाज के व्यक्तियों में विभाजन पद्धति से है। प्रारम्भ में व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति, वस्तुओं के आदान-प्रदान से करते थे, बाद में वस्तुओं को प्राप्त करने का साधन मुद्रा ने ले लिया तथा इसमें राज्य का हस्तक्षेप हो गया। राज्य का कार्य आर्थिक संसाधनों को समान रूप से वितरित करने का होता है, जिससे कि समाजवाद को बढ़ावा मिले। स्वतंत्रता के पश्चात हम जैसे-जैसे समाजवादी दिशा की ओर बढ़ रहे हैं, सामाजिक परिवर्तन में भी तीव्रता आती जा रही है।

4. आर्थिक नीतियां

किसी देश की आर्थिक नीतियों का निर्धारण राज्य द्वारा किया जाता है। आर्थिक नीतियाँ राजस्व, उत्पादन व अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करती हैं परन्तु इनका प्रभाव सामाजिक व्यवस्था पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है। उदाहरण स्वरूप यदि राज्य स्वतंत्र अर्थव्यवस्था के स्थान पर नियंत्रित अर्थव्यवस्था को महत्व देने लगें तो सामाजिक व्यवस्था में सभी वर्गों को समान अधिकार प्राप्त होने लगते हैं| समृद्ध वर्ग का एकाधिकार कम हो जाता हैं| सामाजिक संस्थायें रूढ़िवादिता के घेरे से बाहर निकलने लगती हैं| सामाजिक स्तरीकरण मुक्त स्वरूप ग्रहण कर लेता है तथा सामाजिक सम्बन्धों का क्षेत्र व्यापक बनने लगता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्थिक कारक सामाजिक जीवन को बहुत प्रभावित करता हैं। व्यक्ति की आय में परिवर्तन, उसके सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं, नियंत्रण के स्वरूपों, मनोवृत्तियों, व्यवहार के प्रतिमानों में परिवर्तन ला देते हैं। आर्थिक कारक इसी प्रकार समस्त समाज को प्रभावित करते हैं तथा सामाजिक परिवर्तन को प्रोत्साहित करते हैं।

9.3.3 सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक कारक

संस्कृति का अर्थ भौतिक व अभौतिक तत्वों की उस जटिल सम्पूर्णता से है, जिसका निर्माण व्यक्ति ने सैकड़ों वर्षों में सभ्यता के विकास के साथ किया है तथा जिसे वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करता आया है। व्यक्ति जीवनपर्यन्त संस्कृति के मध्य रहता है तथा समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से संस्कृति से समायोजन करता रहता है। संस्कृति भी नवीन परिस्थितियों आवश्यकताओं और मनोवृत्तियों के अनुरूप अनुकूल करती रहती है। इस प्रकार संस्कृति में भी आंशिक परिवर्तन होता रहता है। संस्कृति में होने वाला यही परिवर्तन, सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख आधार है। सांस्कृतिक परिवर्तन की निम्नलिखित दशायें सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करती हैं:

1. सांस्कृतिक विलम्बना

ऑगबर्न ने सामाजिक परिवर्तन की सांस्कृतिक विलम्बना की अवधारणा दी है | ऑगबर्न के अनुसार संस्कृति के भौतिक तत्वों में अभौतिक तत्वों की अपेक्षा तीव्रता से परिवर्तन होते हैं। उदाहरणस्वरूप जीवनोपयोगी वस्तुओं, खेती, उद्योग के ढंग, रहन-सहन खाना बनाने के तरीके, यन्त्र आदि में बहुत तेजी से परिवर्तन होते हैं। दूसरी ओर संस्कृति के अभौतिक तत्व-लोकाचार, विश्वास, प्रथाओं आदि में अपेक्षाकृत धीमी गति से परिवर्तन होते हैं। सामान्यतः सामाजिक संस्थायें संस्कृति के अभौतिक पक्ष हैं, जो पुराने सामाजिक मूल्यों पर आधारित होती हैं, इसलिये वे परिवर्तन का विरोध करती हैं। इस प्रकार ऐसी दशायें उत्पन्न हो जाती हैं कि संस्कृति का एक पक्ष दूसरे से पीछे रह जाता है। इस स्थिति को cultural lag या सांस्कृतिक विलम्बना कहते हैं। सांस्कृति विलम्बना से समाज में असन्तुलन दशाएं उत्पन्न हो जाती हैं। प्रत्येक व्यक्ति इन दशाओं से अनुकूलन व समायोजन का प्रयत्न करता है, जिससे व्यक्तियों की मनोवृत्तियों, व्यवहार के ढ़ंगों और रहन-सहन पर इसका प्रभाव पड़ता है और सामाजिक परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

2. प्रौद्योगिकी पिछड़ापन

प्रौद्योगिकी पिछड़ापन का अर्थ, संस्कृति के भौतिक तत्वों के विभिन्न भागों में उत्पन्न होने वाली असन्तुलन की स्थिति और उसका सामाजिक परिवर्तन पर पड़ने वाले प्रभाव से है। उदाहरण- प्रौद्योगिकी की उन्नति से कृषि व अन्य वस्तुओं का उत्पादन कई गुना बढ़ जाये परन्तु नये गोदामों का निर्माण न हो। आधुनिक तकनीकी की नई कारें आ जायें, परन्तु सड़कों व ट्रैफिक की स्थिति में सुधार न हो, पर्यावरण व वन सम्पदा का अधिकाधिक उपयोग हो रहा हो, परन्तु उतनी ही कुशलता से जंगल की देखभाल व अनुरक्षण न हो रहा हो। स्वाभाविक है कि ऐसी स्थितियों से उत्पादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया के विकास में बाधा पड़ेगी जो किसी न किसी रूप में आर्थिक सम्बन्धों को प्रभावित करेंगे, जिनसे अनुकूल के भी प्रयत्न किये जायेंगे। ये समस्त क्रियायें, प्रक्रियायें सामाजिक संगठन को प्रभावित करके परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न करती है।

3. प्रौद्योगिकी प्रतिरोध

प्रौद्योगिकी प्रतिरोध शब्द का प्रयोग उस स्थिति के लिये किया जाता है जबकि पहले से ही स्थापित कुछ स्वार्थों के कारण व्यक्ति उत्पादन के नये उपकरणों, पद्धतियों, एजेन्सियों तथा आधुनिक कुशल साधनों का बहिष्कार करते हैं अथवा उनकी प्रगति रोकने का प्रयत्न करते हैं। मैकाइवर के अनुसार ऐसे तीन प्रमुख प्रतिरोध हैं:

(i)नौकरशाही द्वारा स्वार्थ निर्धारित प्रतिरोध

परम्परागत व्यवस्था में अधिकारी/कर्मचारी हस्तक्षेप हर स्तर पर होता है। नयी तकनीकी में पारदर्शिता अधिक है। अतः निहीत स्वार्थवश शासन व प्रशासन में संलग्न व्यक्ति कुशल विधियों का विरोध करते हैं।

(ii)आर्थिक स्वार्थ द्वारा निर्धारित प्रतिरोध

कुछ व्यक्ति नयी प्रविधियों का विरोध इसलिये करते हैं जिससे उनके लाभ की मात्रा कम न हो। उदाहरण- श्रमिक वर्ग नयी मशीनों का विरोध इसलिये करते हैं कि श्रमिकों की संख्या कम न हो जाये। इसी प्रकार व्यापारी नये नियमों का विरोध इसलिये करते हैं कि उनके लाभ की मात्रा कम हो जायेगी तथा कर्मचारियों को सुविधायें देनी पड़ेंगी।

(iii)सांस्कृतिक स्वार्थ द्वारा निर्धारित प्रतिरोध

किसी समाज में जब कोई ऐसी प्रविधि प्रवेश करती है जो उसकी पुरानी परम्पराओं व प्रथाओं के विरूद्ध हो, उसका सर्वप्रथम विरोध होता है। उदाहरण स्वरूप हमारे देश में प्राचीन काल से बच्चों के जन्मों का स्वागत किया जाता रहा है, परन्तु बदली हुयी परिस्थितियों में जब बच्चे के जन्मों को रोकने के लिये गर्भ निरोधकों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ, तो यह हमारी संस्कृति व परम्परा के विपरीत महसूस किया गया तथा इसका विरोध हुआ। इसी प्रकार कुटीर उद्योगों के स्थान पर, भारी उद्योगों के आगमन पर भी भारी उद्योगों को विरोध का सामना करना पड़ा।

4.सांस्कृतिक संघर्ष

जब एक देश में अन्य स्थानों से अन्य संस्कृति के लोग आकर बसते हैं, तो सांस्कृतिक भिन्नता के कारण संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है तथा कभी-कभी स्थिति गृह युद्धों व क्रान्ति तक पहुँच जाती है। सांस्कृतिक संघर्ष के उपरान्त व्यक्ति नवीन परिस्थितियों से सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयास करता है। वह नयी परिस्थितियों में नये सिरे से जीवन से अनुकूलन का प्रयास करता है। फलस्वरूप सामाजिक परिवर्तन हेतु वातावरण उत्पन्न हो जाता है।

5.सांस्कृतिक उभयवृत्तिता

व्यक्ति को नये जीवन के प्रारम्भ से ही अपनी संस्कृति के साथ-साथ अन्य संस्कृतियों के प्रतिमानों का सामना भी करना पड़ता है, जब व्यक्तिगत रूप से वह इस स्थिति से समायोजन करने में असफल हो जाता है तो इस स्थिति को सांस्कृतिक उभयवृत्तिता कहते हैं। इस स्थिति में व्यक्ति के विश्वासों, सामाजिक मूल्यों, विभिन्न नियमों व सामाजिक सम्बन्धों में घनिष्ट सम्बन्ध होता है। विश्वासों और संस्थाओं में होने वाला कोई भी परिवर्तन सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करके सामाजिक परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न करता है।

9.3.4 सामाजिक परिवर्तन के शैक्षणिक कारक

शिक्षा व्यक्ति में एक ऐसे परिवर्तन को जन्म देती है, जिससे उसका बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास होता है तथा वह समाज के विभिन्न निर्णायक तत्वों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेता है। एक शिक्षित व्यक्ति अपने सामने उपस्थित समस्याओं का समाधान अधिक सफलता के साथ कर लेता है तथा वह भविष्य की

गतिविधियों के बारे में अनुमान लगाकर अपनी योजनाओं व व्यवहार का निर्धारण करता है। इसी कारण शिक्षित व्यक्ति लोकाचार में अधिक सफल होते हैं तथा उनमें जागरूकता अधिक पायी जाती है।

शिक्षा एक ऐसा कारक है जो सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को और तेज कर देता है। शिक्षा से व्यक्ति का जहाँ नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास होता है, उसमें आत्म नियंत्रण तथा संयम बढ़ता है वहीं इसके द्वारा समाज में भौतिक समृद्धता भी सम्भव हो पाती है। शिक्षा का सामाजिक परिवर्तन में निम्नवत् प्रमुख योगदान है:

1.परिस्थितियों से सामंजस्य

शिक्षा व्यक्ति को इस योग्य बनाती है कि व्यक्ति बदली हुयी परिस्थितियों से अनुकूलन कर सके। शिक्षा द्वारा व्यक्ति को किसी भी परिस्थिति के बारे में तार्किक एवं वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त होता है तथा उसे बदली हुयी परिस्थिति में अपने विचारों, मूल्यों व व्यवहार में परिवर्तन कर सामंजस्य स्थापित करने को प्रेरित किया जाता है। व्यक्ति का यह व्यवहार सामाजिक परिवर्तन को प्रोत्साहित करता है।

2.संस्कृति का संचरण

संस्कृति का संचरण शिक्षित समुदाय में अधिक प्रभावकारी ढंग से होता है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में सांस्कृतिक तत्वों का हस्तान्तरण भी शिक्षित व्यक्तियों में अधिक होता है। संस्कृति का संचरण सुगम होने से जहाँ एक ओर व्यक्ति को परम्पराओं की जानकारी होती है वहीं दूसरी ओर शिक्षित व्यक्ति इसमें यथा आवश्यक परिवर्तन करके अंगीकृत करता है।

3.सामाजिक संतुलन

शिक्षा द्वारा परम्परागत व्यवहारों को अपनाये जाने के साथ-साथ वर्तमान व्यवस्था के व्यवहारों से सन्तुलन बनाये रखा जाता है जिससे परिवर्तन सुगम हो जाता है। कार्ल मैनहीम के अनुसार समाज की संरचना सदैव परिवर्तन के ही प्रक्रम में नहीं अपितु बहुत कुछ संतुलन पर भी आधारित रहती है।

4.सहयोग की भावना

परिवर्तित समाज में सामाजिक संगठन की सुदृढ़ता आवश्यक है। सामाजिक संगठन के लिये आपसी सहयोग होना आवश्यक है। शिक्षा का उद्देश्य समाज में सृजनात्मक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देना है। शिक्षित समाज में सहयोग की भावना अधिक होती है तथा सामाजिक परिवर्तन आसानी से होता है।

5.तार्किक शक्ति का विकास

शिक्षा के द्वारा, वास्तविक ज्ञान का अध्ययन कर व्यक्ति अपने व्यवहारों को तर्कपूर्ण बनाता है। शिक्षा के ही कारण व्यक्ति किसी ज्ञान को प्राप्त करने के लिये उसकी उचित अध्ययन विधि को अपनाता है। समाज की वास्तविक स्थिति क्या है समाज के परिवर्तन की दिशा क्या है, आदि बातों की जानकारी शिक्षा के द्वारा ही कराई जाती है, ताकि व्यक्ति उसके अनुरूप व्यवहार कर सके।

इस प्रकार शिक्षा लोगों की मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाकर उन्हें उस प्रकार के व्यवहार के लिये प्रेरित करती है जो व्यवहार सामाजिक परिवर्तन में सहयोग प्रदान करते हों। शिक्षा समाज के प्रचलित मूल्यों में वांछनीय मोड़ देकर समाज को नये उद्देश्यों के प्रति अधिक सक्रिय बनाती है। शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके

अन्तर्गत व्यक्ति सहनशीलता ग्रहण कर, एक तार्किक व्यक्ति के रूप में उभरता है। शिक्षा व्यक्ति को उसकी भूमिका के बारे में भी सजग करती है तथा सामाजिक परिवर्तन को सदैव प्रोत्साहित करती है।

9.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा, अर्थ एवं परिभाषाओं का अध्ययन किया है। सामाजिक परिवर्तन के कारकों के विषय में जानकारी प्राप्त की है। सामाजिक परिवर्तन के प्रौद्योगिकीय, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं भौतिक कारकों के विषय में भी अध्ययन किया है।

9.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

1.सामाजिक परिवर्तन से आप क्या समझते है ? परिभाषित कीजिए।

2.सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न कारकों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

3.सामाजिक परिवर्तन के प्रौद्योगिकी कारक की व्याख्या कीजिए।

4.सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक एवं भौतिक कारक की विवेचना कीजिए।

5.सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारक का वर्णन कीजिए।

9.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सिंह, जे. पी. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, पी.एच.आई. लरनिंग प्रा. लि., न्यू डेल्ही, 2010।
2. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर
3. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स: नई दिल्ली
4. शर्मा, के. एल. (2011) सामाजिक स्तरीकरण, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
5. राम, एस. पी. (2010) भारतीय सामाजिक समस्याएं: अर्जुन पब्लिशिंग हाउस: नई दिल्ली
6. सिंह, डी. के., पालीवाल, एस एवं मिश्र, आर. (2010) मानव समाजः संगठन एवम् विघटन के मूल तत्वः न्यू रायल बुक कम्पनीः लखनऊ
7. सिंह, ए. के. (2009) उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास: नई दिल्ली
8. सिंह एस. के. (2010) जाति व्यवस्था: निरंतरता एवं परिवर्तन, रावत पब्लिकेशनः जयपुर
9. मिश्र, पी.डी. (2003) व्यक्ति और समाज, न्यू रा ॅयल बुक कम्पनी: लखनऊ
10. मिश्र, पी.डी. एवं मिश्रा बी. (2004) सोशल वर्क प्रोफेशन इन इण्डिया, न्यू रा ॅयल बुक कम्पनी: लखनऊ
11. महाजन, एस. (2010) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिसिंग हाउसः नई दिल्ली
12. यादव आर. (2005) सामाजिक समस्याएं, अर्जुन पब्लिशिंग हाउसः नई दिल्ली

इकाई -10

सामाजिक परिवर्तन : स्रोत एवं प्रक्रियायें

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 सामाजिक परिवर्तन

10.3 सामाजिक परिवर्तन के मुख्य स्रोत

10.4 सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ

10.4.1 उद्विकास

10.4.2 प्रगति

10.4.3 विकास

10.4.4 सामाजिक आन्दोलन

10.4.5 क्रांन्ति

10.5 सारांश

10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

10.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

10.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के उपरांत आप

1. सामाजिक परिवर्तन के अर्थ तथा मुख्य स्रोतों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

2. सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के अंतर्गत उद्विकास, प्रगति, विकास, सामाजिक आंदोलनों तथा क्रांति के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव के विषय में चर्चा की गई है। परिवर्तन एक व्यापक प्रक्रिया है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक, भौतिक आदि सभी क्षेत्रों में होने वाले किसी भी प्रकार के

परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा जा सकता है। यह परिवर्तन स्वयं प्रकृति के द्वारा या मानव समाज द्वारा योजनाबद्ध रूप में हो सकता है। परिवर्तन या तो समाज के समस्त ढाँचे में आ सकता है अथवा समाज के किसी विशेष पक्ष तक ही सीमित हो सकता है। परिवर्तन एक सार्वकालिक घटना है। यह किसी न किसी रूप में हमेशा चलने वाली प्रक्रिया है। जिटलिन ने बताया है कि सामाजिक परिवर्तन के अध्यन का सम्बन्ध उन प्रक्रियाओं से है जिनके द्वारा समाज और संस्कृति में बदलाव आता है। इनके इस विचार से ऐसा लगता है कि सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत हम मुख्य रूप से तीन तथ्यों का अध्ययन करते हैं:- (क) सामाजिक संरचना में परिवर्तन, (ख) संस्कृति में परिवर्तन एवं (ग) परिवर्तन के कारक। इस प्रकार कह सकते है कि सामाजिक परिवर्तन के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ कुछ प्रमुख परिभाषाओं पर विचार करेंगे। सामाजिक परिवर्तन को बहुत ही संक्षिप्त एवं अर्थपूर्ण शब्दों में स्पष्ट करते हुए बताया है कि मूल अर्थों में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ संरचनात्मक परिवर्तन है। उनके अनुसार , ''बुनियादी अर्थ में सामाजिक परिवर्तन से अभिप्राय सामाजिक संरचना में परिवर्तन है।''

10.2 सामाजिक परिवर्तन

समाज और उसकी संस्कृति में हमेशा परिवर्तन होता रहा है। प्रत्येक समाज में चाहे-अनचाहे यह प्रक्रिया अबाध गति से चलती रहती है। विश्व में ऐसा कोई भी समाज नहीं है, जो परिवर्तन से अछूता है। यही कारण है कि प्राचीन काल से ही चिन्तकों ने अपनी कृतियों में सामाजिक परिवर्तन को चर्चा का एक महत्वपूर्ण विषय बनाए रखा है। चूंकि परिवर्तन समाज का एक शाश्वत नियम है, अतः विभिन्न समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों ने इस विषय पर कुछ ज्यादा ही प्रकाश डाला है। किन्तु परिवर्तन की प्रक्रिया पर सिलसिलेवार ढंग से चिन्तन की शुरूआत 19वीं सदी के मध्य में ही हुई, जब विद्वानों ने यूरोपीय समाज में उद्योगीकरण एवं राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातांत्रिक पद्धति की स्थापन से उत्पन्न विभिन्न प्रक्रियाओं को समझने का प्रयास किया, जैसा कि गार्डन मार्शन (1998ः 64-65) ने बताया है। फलस्वरूप उस समय से लेकर आज तक सामाजिक परिवर्तन से जुड़े विभिन्न प्रकार के विचारों का ढेर-सा लग गया है। विभिन्न समाज वैज्ञानिकों में सबसे पहले इस विषय पर ध्यान सम्भवतः ब्रिटिश इतिहासकार हेनरी समनर मेन का गया, जिन्होंने बताया कि समाज एक सरल व्यवस्था से जटिल व्यवस्था की ओर बढ़ता है। उनके समकालीन मानवशास्त्री मार्गन का विचार भी कुछ वैसा ही था। समाजशास्त्र के क्षेत्र में भी ऐसे कई विद्वान हैं, जिन्होंने यह दलील पेश की है कि समाज सरलता से जटिलता की ओर बढ़ता है। खैर, जो भी हो उनके विचारों से यह स्पष्ट होता है कि समाज एक परिवर्तनशील व्यवस्था है।

किसी युग के आदर्श एवं मूल्य में अगर पिछले युग के मुकाबले कुछ नयापन या परिवर्तन दिखाई पड़े तो उसे आन्तरिक परिवर्तन कहेंगे और अगर किसी सामाजिक अंग, जैसे-परिवार, वर्ग, जातीय हैसियत, समूहों के स्वरूपों एवं आधारों में परिवर्तन परिलक्षित हो तो उसे संरचनात्मक परिवर्तन कहेंगे। लेकिन यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि समाज के जो बुनियादी सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्व हैं, जैसे-परिवार, वर्ग, राजनीति, आर्थिक एवं सांस्कृतिक संस्थाएँ वे सदैव मौजूद रहते हैं। वे समाज के स्थायी तत्व हैं। जो परिवर्तन होता है वह इसके बाह्य स्वरूप तथा आन्तरिक अंतर्वस्तु में होता है। व्यापक दृष्टि से देखें तो पता चलेगा कि समाज की प्रत्येक संरचना, संगठन एवं सामाजिक सम्बन्ध में निरन्तर परिवर्तन होता है।

चूंकि सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक एवं अनिवार्य प्रक्रिया है, मध्यकालीन समाज प्राचीन काल से और आधुनिक समाज मध्यकालीन समाज से तुलनात्मक रूप में विश्व स्तर पर काफी भिन्न है। यह बात दूसरी है कि सामाजिक परिवर्तन की गति कभी भी एक समान नहीं रही, पर सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया की गति कमोवेश हर काल में चलती रहती है। ऐन्थनी गिडेन्स का कहना है कि लगभग 18वीं सदी से सामाजिक परिवर्तन की गति

मानव के इतिहास में सापेक्षिक रूप से सबसे तेज रही है और 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में सामाजिक परिवर्तन की गति कुछ और भी ज्यादा तेज हो गयी। विज्ञान और प्रौद्योगिकी की तरक्की ने सामाजिक परिवर्तन की गति को तेज करने में सबसे अधिक महत्वपूर्ण योगदान दिया है|

सामाजिक परिवर्तन समाजशास्त्र के क्षेत्र में प्रारम्भ से लेकर आज तक एक बहुत ही महत्वपूर्ण विषय रहा है। ऑगस्त कौंत एवं 19वीं सदी के अन्य समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन जैसे विषयों में इतनी अधिक रुचि दिखायी कि समाजशास्त्र के प्रारम्भिक काल में ही सामाजिक परिवर्तन के बहुत सारे सिद्धान्त आ गए। उन सभी सिद्धान्तों में ऐतिहासिक भौतिकवाद एवं उद्विकासीय सिद्धान्त सबसे अधिक लोकप्रिय रहे हैं। आज समाजशास्त्र के क्षेत्र में सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्तों के प्रवर्तक मुख्य रूप से इन्हीं दो सम्प्रदायों में कहीं न कहीं रखे जाते हैं।

जिटलिन (1981: 352) ने बताया है कि सामाजिक परिवर्तन के अध्यन का सम्बन्ध उन प्रक्रियाओं से है जिनके द्वारा समाज और संस्कृति में बदलाव आता है। इनके इस विचार से ऐसा लगता है कि सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत हम मुख्य रूप से तीन तथ्यों का अध्ययन करते हैं:- (क) सामाजिक संरचना में परिवर्तन, (ख) संस्कृति में परिवर्तन एवं (ग) परिवर्तन के कारक।

एच. एम. जॉनसन ने सामाजिक परिवर्तन को बहुत ही संक्षिप्त एवं अर्थपूर्ण शब्दों में स्पष्ट करते हुए बताया है कि मूल अर्थों में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ संरचनात्मक परिवर्तन है। उनके (1983: 626) ही शब्दों में, ''बुनियादी अर्थ में सामाजिक परिवर्तन से अभिप्राय सामाजिक संरचना में परिवर्तन है।'' गिडेन्स ने कहा है कि सामाजिक परिवर्तन का अर्थ बुनियादी संरचना या बुनियादी संस्था में परिवर्तन है।

10.3 सामाजिक परिवर्तन के मुख्य स्रोत

कुछ समाजशास्त्रियों के अनुसार सामाजिक परिवर्तन के मुख्य स्रोत निम्नलिखित हैं:-

1. खोज

मनुष्य ने अपने ज्ञान एवं अनुभवों के आधार पर अपनी समस्याओं को सुलझाने और एक बेहतर जीवन व्यतीत करने के लिए बहुत तरह की खोज की है। जैसे शरीर में रक्त-संचालन, बहुत सारी बीमारियों के कारणों, खनिजों, खाद्य पदार्थों, पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण की क्षमता आदि हजारों किस्म के तथ्यों की मानव ने खोज की, जिनसे उनके भौतिक एवं गैर-भौतिक जीवन में काफी परिवर्तन आया। मनुष्य एक खोजी प्रवृत्ति का जीव है और वह आज भी नयी-नयी खोजों में लगा है। इन खोजों की सामाजिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

2. आविष्कार

विज्ञान और प्रौद्योगिकी के जगत में मनुष्य के आविष्कार इतने अधिक हैं कि उनकी गिनती करना मुश्किल है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी-क्षेत्र के आविष्कारों ने मानव समाज में एक युगान्तकारी एवं क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया है। आज विश्व में शायद ही कोई व्यक्ति या समाज होगा, जिसका जीवन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित न हुआ हो। मानव समाज में जितने भी परिवर्तन आए हैं, उन परिवर्तनों के मुख्य स्रोत भौतिक जगत् के आविष्कार रहे हैं।

3. प्रसार

सांस्कृतिक जगत् के परिवर्तन में प्रसार का प्रमुख योगदान रहा है। पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण एवं भूमण्डलीकरण जैसी प्रक्रियाओं का मुख्य आधार प्रसार ही रहा है। आधुनिक युग में प्रौद्योगिकी का इतना अधिक विकास हुआ हे कि प्रसार की गति बहुत तेज हो गयी है। यही कारण है कि आज हम एकल विश्व, एकल सरकार या विश्व ग्राम जैसी आवधारणाओं पर विचार करने लगे हैं।

4. आन्तरिक विभेदीकरण

जब हम सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हैं तो ऐसा लगता हे कि परिवर्तन का एक चैथा स्रोत भी सम्भव है- वह है आन्तरिक विभेदीकरण। इस तथ्य की पुष्टि उद्विकासीय सिद्धान्त के प्रवर्तकों के विचारों से होती है। उन लोगों का मानना है कि समाज में परिवर्तन समाज के स्वाभाविक उद्विकासीय प्रक्रिया से भी होता है। हर एक समाज अपनी आवश्यकताओं के अनुसार धीरे-धीरे विशेष स्थिति में परिवर्तित होता रहता है। प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों, जैसे-स्पेन्सर, हाबहाउस, दुर्खीम एवं बहुत सारे मानवशास्त्रियों ने अपने उद्विकासीय सिद्धान्त में स्वतः चलने वाली आन्तरिक विभेदीकरण की प्रक्रिया पर काफी बल दिया है। इसमें कोई संदेह की बात नहीं है कि इस आन्तरिक विभेदीकरण की प्रक्रिया में खोज एवं आविष्कार का अपना एक अलग महत्व है।

10.4 सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया कई रूपों में प्रकट होती हैं, जैसे-उद्विकास प्रगति, विकास, सामाजिक आन्दोलन, क्रांति इत्यादि। चूंकि इन सामाजिक प्रक्रियाओं का सामाजिक परिवर्तन से सीधा सम्बन्ध है या कभी-कभी इन सम्बन्धों को सामाजिक परिवर्तन का पर्यायवाची माना जाता है, इसलिए इन शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में काफी उलझनें हैं। इसका एक दूसरा कारण यह भी है कि प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों ने अपनी पुस्तकों में इन अवधारणाओं का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। इस बात की पुष्टि बाटमोर की निम्नलिखित उक्ति से होती है, ‘‘प्रारम्भिक समाजशास्त्रीय सिद्धांतों में ‘परिवर्तन’, ‘उद्विकास’, ‘विकास’ एवं ‘प्रगति’ की धारणा कभी-कभी तो उलझी हुई नजर आती है और तो कभी एक ही अवधारणा के अन्तर्गत वे सभी सम्मिलित दिखायी पड़ती हैं। चूंकि वे सभी शब्द एक-दूसरे से आधुनिक समाजशास्त्र में भिन्न हैं, इसलिए इनकी चर्चा यहाँ अलग-अलग की जा रही है।’’

10.4.1 उद्विकास

उद्विकास शब्द का प्रयोग सबसे पहले जीव-विज्ञान के क्षेत्र में चार्ल्स डार्विन ने किया था। डार्विन के अनुसार उद्विकास की प्रक्रिया में जीव की संरचना सरलता से जटिलता की ओर बढ़ती है। यह प्रक्रिया प्राकृतिक चयन के सिद्धान्त पर आधारित है। समाजशास्त्री हर्बर्ट स्पेन्सर ने जैविक परिवर्तन की भांति ही सामाजिक परिवर्तन को भी कुछ आन्तरिक शक्तियों के कारण सम्भव माना है और कहा है कि उद्विकास की प्रक्रिया धीरे-धीरे निश्चित स्तरों से गुजरती हुई पूरी होती है। संक्षेप में, उद्विकास की मान्यताओं को हम इस ढंग से प्रकट कर सकते हैं- आरम्भ में सभी जीव या वस्तु का स्वरूप सरल होता है और उद्विकास की प्रक्रिया जैसे-जैसे आगे बढ़ती है उस वस्तु या जीव के निर्णायक अंग पृथक् और स्पष्ट रूप से अपना काम करते हैं।

उद्विकास की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए मैकाइवर एवं पेज ने लिखा है कि ‘‘उद्विकास विकास से आगे के स्तर की चीज है’’ अर्थात् उद्विकास भी एक प्रकार का विकास है। पर प्रत्येक विकास उद्विकास नहीं है क्योंकि विकास की एक निश्चित दिशा होती है, पर उद्विकास की कोई निश्चित दिशा नहीं होती है। मैकाइवर एवं पेज ने

बताया है कि उद्विकास सिर्फ आकार में ही नहीं बल्कि संरचना में भी विकास है। उद्विकास तो एक आन्तरिक प्रक्रिया है जो स्वतः प्राकृतिक नियमों से संचालित होती रहती है। वर्ण व्यवस्था का जाति व्यवस्था की तुलना में जाति व्यवस्था में विकास के फलस्वरूप अधिक जटिलता आयी है।

10.4.2 प्रगति

परिवर्तन जब अच्छाई की दिशा में होता है तो उसे हम प्रगति कहते हैं। प्रगति सामाजिक परिवर्तन की एक निश्चित दिशा को दर्शाता है। प्रगति में समाज-कल्याण और सामूहिक हित की भावना छिपी होती है। ऑगबर्न एवं निमकॉफ ने बताया है कि प्रगति का अर्थ अच्छाई के निमित्त परिवर्तन है। इसलिए प्रगति इच्छित परिवर्तन है। इसके माध्यम से हम पूर्व-निर्धारित लक्ष्यों को पाना चाहते हैं।

मैकाइवर एवं पेज ने यह सुझाव दिया है कि हम लोगों को उद्विकास और प्रगति को एक ही अर्थ में प्रयोग नहीं करना चाहिए। दोनों बिल्कुल अलग-अलग अवधारणाएं हैं। प्रगति कहने से एक निश्चित दिशा में विकास का बोध होता है और वह विकास हमेशा इच्छित विकास होता है। वैज्ञानिक शिक्षा का प्रचार-प्रसार होना प्रगति का एक उदाहरण है, क्योंकि इसके माध्यम से समाज को हम एक इच्छित दिशा में ले जाना चाहते हैं। प्रगति एक योजनाबद्ध सामाजिक परिवर्तन है। मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि होना उद्विकास कहा जाएगा, प्रगति नहीं। इस बात की पुष्टि मैकाइवर एवं पेज के निम्नलिखित विचार से होती है कि जब हम प्रगति की बात करते हैं तो इससे हमारा तात्पर्य सिर्फ परिवर्तन की दिशा मात्र से नहीं बल्कि किसी निश्चित उद्देश्य की दिशा में परिवर्तन से होता है। किसी दिशा में कार्यरत कारकों के वस्तुपरक आधार को ध्यान में रखकर ही नहीं बल्कि कभी-कभी कुछ दिशाओं का निर्धारण तो काल्पनिक ढंग से भी किया जाता है।

सामाजिक प्रगति की अवधारणा को अच्छी तरह समझने के लिए प्रगति एवं उद्विकास के बीच के अन्तर को ध्यान में रखना उपयुक्त प्रतीत होता है। दोनों के बीच मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं:-

1. उद्विकास की प्रक्रिया स्वतः प्राकृतिक नियमों के अनुसार चलती है जबकि प्रगति वांछित दिशा की ओर एक सुनियोजित परिवर्तन है।
2. उद्विकास एक मूल्य-निरपेक्ष अवधारणा है, जबकि प्रगति मूल्य-सापेक्ष अवधारणा है।
3. उद्विकास को समाज और संस्कृति में अन्तर्निहित कारकों पर आधारित माना जाता है, जबकि प्रगति मानव की उन्नति की भावना से जुड़ी हुई है। यह मानव के सार्थक प्रयासों को दर्शाता है।
4. उद्विकास की प्रक्रिया धीमी गति से चलती है, जबकि प्रगति की प्रक्रिया धीमी या तीव्र कुछ भी हो सकती है।
5. उद्विकास जीवों के विकास की अवधारणा से जुड़ा है। जीव-विज्ञान से ही सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में उद्विकास की अवधारणा प्रचलित हुई है। दूसरी ओर, प्रगति की अवधारणा इतिहास दर्शन से प्रभावित है।
6. उद्विकास का परिप्रेक्ष्य विश्वव्यापी होता है, जबकि प्रगति का परिप्रेक्ष्य एक देश या समाज विशेष होता है।

10.4.3 विकास

जिस प्रकार उद्विकास के अर्थ बहुत स्पष्ट एवं निश्चित नहीं हैं, उसी प्रकार विकास की अवधारणा भी बहुत स्पष्ट नहीं है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में इसके अर्थ के सम्बन्ध में कोई विशेष विवाद नहीं है, पर समाजशास्त्र के क्षेत्र में

इस शब्द का प्रयोग काफी ढीले-ढाले अर्थो में होता आया है। इसका शाब्दिक अर्थ किसी चीज के क्रमशः फैलाव से है, जैसे किसी बच्चे की लम्बाई या घूसखोरी में समय के साथ जो वृद्धि होती है उसे विकास कहा जा सकता है। पर समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में विकास का अर्थ सामाजिक विकास से है। प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों, विशेषकर कौंत, स्पेन्सर एवं हॉबहाउस ने सामाजिक विकास को एक ही अर्थ में प्रयोग किया था। आधुनिक समाजशास्त्री इन शब्दों का कुछ विशेष अर्थ में ही इस्तेमाल करते हैं।

आज समाजशास्त्र के क्षेत्र में विकास से हमारा तात्पर्य मुख्यतः सामाजिक विकास से है। इसका प्रयोग विशेषकर उद्योगीकरण एवं आधुनिकीकरण के चलते विकसित एवं विकासशील देशों के बीच अन्तर स्पष्ट करने के लिए होता है। सामाजिक विकास में आर्थिक विकास का भी भाव छिपा होता है और उसी के तहत हम परम्परागत समाज, संक्रमणशील समाज एवं आधुनिक समाज की चर्चा करते हैं। यहां कोई उद्विकास का भाव नहीं है। यहां कुछ उसी तरह का भाव है, जो शिक्षा के विकास में छिपा है। आधुनिक शिक्षा का विकास भी एक प्रकार का सामाजिक विकास है। उसी तरह से कृषि पर आधारित सामाजिक व्यवस्था से उद्योग पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की ओर अग्रसर होना भी सामाजिक विकास कहा जाएगा। दूसरे शब्दों में, सामन्तवाद से पूंजीवाद की ओर जाना भी एक प्रकार का विकास है।

वर्तमान समय में सामाजिक विकास का एक वस्तुनिष्ठ अर्थ है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की विभिन्न रिपोर्ट में सामाजिक विकास को मापने के सूचक एवं पैमाने दिए गए हैं। सामाजिक विकास के कुछ प्रमुख संकेतक इस प्रकार हैं:

1. जीवन-यापन का स्तर
2. गरीबी का स्तर,
3. शिक्षा का स्तर,
4. समाज के दबे-कुचले लोगों को ऊपर उठने का अवसर
5. सरकार के द्वारा सामाजिक कल्याण का अवसर
6. समाज में आर्थिक असमानताओं का स्तर
7. स्वास्थ्य का स्तर
8. जन्म के समय जीवन-प्रत्याशा

चूंकि उद्विकास एवं प्रगति के अर्थ के सम्बन्ध में काफी विवाद और भ्रम रहा है, इसलिए आगबर्न ने उन शब्दों की जगह सामाजिक परिवर्तन शब्द का प्रयोग किया है जिसके अन्तर्गत सभी किस्म के उद्विकास और प्रगति से जुड़े परिवर्तन आ जाते हैं।

10.4.4 सामाजिक आन्दोलन

सामाजिक आन्दोलन सामाजिक परिवर्तन का एक बहुत महत्वपूर्ण कारक रहा है। विशेषकर परम्परागत समाज में सामाजिक आन्दोलनों के द्वारा काफी परिवर्तन आए हैं।सामान्य रूप से सामाजिक आंदोलन समाज में परिवर्तन लाने के लिए लोगों द्वारा किया गया व्यक्तिगत या सामूहिक प्रयास है |

ऐन्थनी गिडेन्स ने सामाजिक आन्दोलन को निम्नलिखित ढंग से परिभाषित किया है- ''सामाजिक आन्दोलन को एक ऐसे सामूहिक प्रयास के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसका लक्ष्य सामान्य हित को बढ़ाना होता है। सामान्य हित को प्राप्त करने के लिए किया गया सामूहिक प्रयास कभी-कभी मान्य या स्थापित संस्थाओं के दायरे से बाहर भी होता है।'' दूसरे शब्दों में, सामूहिक आन्दोलन व्यक्तियों का ऐसा प्रयास है जिसका एक सामान्य उद्देश्य होता है और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए संस्थागत सामाजिक नियमों का सहारा न लेकर लोग अपने ढंग से व्यवस्थित होकर किसी परम्परागत व्यवस्था को बदलने का प्रयास करते हैं।

गिडेन्स ने कहा है कि कभी-कभी ऐसा लगता है कि सामाजिक आन्दोलन और औपचारिक संगठन एक ही तरह की चींजे हैं, पर दोनों बिल्कुल भिन्न हैं। सामाजिक आन्दोलन के अन्तर्गत नौकरशाही व्यवस्था जैसे नियम-कानून नहीं होते, जबकि औपचारिक व्यवस्था के अन्तर्गत नौकरशाही के नियम-कानून की अधिकता होती है। इतना ही नहीं दोनों के बीच उद्देश्यों का भी फर्क होता है। विश्वविद्यालय एक औपचारिक संगठन है, पर सामाजिक आन्दोलन नहीं। उसी तरह से कबीर पंथ, आर्य समाज, ब्रह्म समाज या पिछड़ा वर्ग आन्दोलन को सामाजिक आन्दोलन कहा जा सकता है, औपचारिक संगठन नहीं। पर कभी-कभी दोनों के बीच की दूरी इतनी कम हो जाती है कि सामाजिक आन्दोलन और औपचारिक संगठन के बीच अन्तर करना एक कठिन काम हो जाता है।

उसी तरह सामाजिक आन्दोलन एवं स्वार्थ-समूह के बीच अन्तर स्पष्टतः दिखाई नहीं पड़ता है, अर्थात् दोनों पर्यायवाची जैसे लगते हैं लेकिन दोनों में फर्क है। सामाजिक आन्दोलन परम्परागत व्यवस्था के विरोध में एक स्थापित जनसमूह है, जबकि स्वार्थ-समूह कुछ व्यक्तियों का ऐसा समूह है, जिसका मुख्य उद्देश्य नीति निर्धारकों का विचार अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए प्रभावित करना होता है। स्वार्थ-समूह साधारणतया राजनीतिक या नौकरशाही व्यवस्था के क्षेत्र में काम करता है, जबकि सामाजिक आन्दोलन का दायरा उससे काफी बड़ा होता है।

आबर्ली (1966) ने सामाजिक आन्दोलन को चार भागों में बांटा हैं, वे इस तरह से हैः-

1. रूपान्तरकारी आन्दोलन

कुछ ऐसे भी सामाजिक आन्दोलन होते हैं जिनका मुख्य उद्देश्य बुनियादी सामाजिक परिवर्तन लाना होता है। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कभी-कभी लोग हिंसा की नीति भी अपनाते हैं, जैसे-नक्सलबाड़ी आन्दोलन।

2. सुधारात्मक आन्दोलन

समाज में कुछ आन्दोलन ऐसे भी होते हैं, जिनका उद्देश्य सीमित सामाजिक परिवर्तन होता है। जब समाज में कुछ दुर्गुण या बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं तो उसे दूर करने के लिए सामाजिक आन्दोलन चलाना पड़ता है, ताकि मूल व्यवस्था को जीवन्त एवं उपयोगी बनाए रखा जाय। भारत में सूफी आन्दोलन, ब्रह्म समाज आन्दोलन तथा आर्य समाज आन्दोलन इसी किस्म के आन्दोलन माने जाते हैं।

3. मुक्ति आन्दोलन

कभी-कभी समाज में ऐसी बुराइयां फैल जाती हैं जो पूरे समाज के लिए खतरा बन जाती हैं। वैसी स्थिति में कुछ ऐसे आन्दोलन चलाए जाते हैं, जिनसे समाज को ठीक से बनाये रखने में मदद मिलती है। रिश्वतखोरी एक ऐसी समस्या है, जिससे पूरी राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था को खतरा है। यदि रिश्वतखोरी को रोकने के लिए कोई आन्दोलन चलाया जाय तो वैसे आन्दोलन को मुक्ति आन्दोलन कहेंगे। चूंकि कबीर ने ब्राह्मणों एवं मुल्लाओं के कुप्रभावों से समाज को बचाने के लिए एक आन्दोलन चलाया था, इसलिए कबीर पंथ को एक मुक्ति आन्दोलन

कहा जा सकता है। उसी तरह आधुनिक भारत में बाबा साहेब आम्बेडकर का अछूतोद्वार का कार्य एक मुक्ति आन्दोलन है।

4. वैकल्पिक आन्दोलन

वैकल्पिक आन्दोलन वह आन्दोलन है, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति के जीवन में आंशिक परिवर्तन की कोशिश की जाती हैं। आज बहुत सारी ऐसी स्वयंसेवी संस्थाएं हैं जो धूम्रपान एवं नशाखोरी के विरोध में देश में आन्दोलन चला रही हैं। उनकी कोशिश यह हो रही है कि व्यक्ति के जीवन में ऐसे परिवर्तन जाये जायें, जिनसे उन्हें उनकी बुरी आदतों से मुक्ति मिल जाए और ऐसी बुराई समाज में और नहीं फैले। यहाँ गौर करने की बात यह है कि वैकल्पिक आन्दोलन एक ऐसा आन्दोलन है जिसके द्वारा समाज के कुछ व्यक्तियों के जीवन में आंशिक परिवर्तन लाने की कोशिश की जाती है, अर्थात् अन्य तीन किस्म के सामाजिक आन्दोलनों की तुलना में इसका दायरा अपेक्षाकृत छोटा है।

10.4.5 क्रांन्ति

सामाजिक आन्दोलन से भी ज्यादा सामाजिक परिवर्तन का सशक्त माध्यम क्रांति है। क्रांति के द्वारा सामाजिक परिवर्तन के अनगिनत उदाहरण मौजूद हैं। लेकिन पिछली दो-तीन शताब्दियों में मानव इतिहास में काफी बड़ी-बड़ी क्रांतियाँ आई हैं, जिन क्रान्तियों ने कुछ देशों के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में युगान्तकारी परिवर्तन लाया है। इस संदर्भ में 1775-83 की अमेरीकी क्रांतिक एवं 1789 की फ्रांसीसी क्रांति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन क्रांतियों के चलते आज समस्त विश्व में स्वतंत्रता, सामाजिक समानता और प्रजातंत्र की बात की जाती है। उसी तरह से रूसी और चीनी क्रांति का विश्व स्तर पर अपना महत्व है। अब्राम्स (1982) ने बताया है कि विश्व में अधिकांश क्रांतियाँ मौलिक सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए हुई हैं। अरेंड (1963) ने बताया है कि क्रांतियों का मुख्य उद्देश्य परम्परागत व्यवस्था से अपने आपको अलग करना एवं नये समाज को निर्माण करना है। इतिहास में कभी-कभी इसका अपवाद भी देखने को मिलता है। कुछ ऐसी भी क्रांतियाँ हुई हैं, जिनके द्वारा हम समाज को और भी पुरातन समय में ले जाने की कोशिश करते हैं।

गिडेन्स ने बताया है कि किसी सामाजिक आन्दोलन को क्रांति कहा जाय या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस क्रांति के अंतर्गत निम्नलिखित शर्तें मौजूद हैं या नहीं। दूसरे शब्दों में किसी सामाजिक आन्दोलन को क्रांति कहे जाने के लिए तीन शर्तों का पूरा होना अति आवश्यक है, वे हैं:-

1. क्रांति कई घटनाओं की एक कड़ी नहीं है, बल्कि यह एक बड़े पैमाने पर विशाल जन-आन्दोलन है। पर यदि कोई आन्दोलन चुनाव के माध्यम से सत्ता के हस्तांतरण में सफल होता है तो उसे क्रांति नहीं का जाएगा। उसी तरह यदि कोई उच्च सेना-अधिकारी शासन की बागडोर जबर्दस्ती एकाएक छीन लेता है या हथिया लेता है तो उसे भी क्रांति की संज्ञान नहीं दी जा सकती है।

2. क्रांति का मुख्य उद्देश्य वृहत् सामाजिक सुधार या परिवर्तन है। नेताओं में इतनी क्षमता होनी चाहिए कि जिन उद्देश्यों के लिए क्रांति की गई है, उसे बहुत हद तक वे अमलीजामा पहनाने में सफल हों।

3. क्रांति एक राजनीतिक परिवर्तन है, जिसका मुख्य आधार हिंसा होता है। समाज में इसकी तभी आवश्यकता पड़ती है, जब समाज में वर्तमान नेता कुछ सही सोचने एवं मानने के लिए तैयार नहीं होते हैं।

यदि किसी सामाजिक आन्दोलन में ये तीन शर्तें पूरी नहीं होती हैं तो उसे हम मात्र सामाजिक आन्दोलन कहेंगे, क्रांति नहीं। क्रांति की अवधारणा में एक बात और छिपी है कि इसके द्वारा सिर्फ नयी सामाजिक संरचना की स्थापना ही नहीं होती है बल्कि विकास की नयी सम्भावनाएं भी बनती हैं, अर्थात् क्रांति में प्रगति या सामाजिक विकास की अवधारणा भी सन्निहित है। क्रांति मात्र सत्ता के हस्तांतरण की प्रक्रिया नहीं है। यह एक शर्त अवश्य है, पर किसी निश्चित उद्देश्य के अभाव में इस प्रक्रिया को सही मायने में क्रांति नहीं कहा जा सकता है।

कुछ विचारकों का कहना है कि क्रांति का स्वरूप अहिंसक भी हो सकता है। मानव के इतिहास में कुछ ऐसे भी उदाहरण है, जिसे क्रांति की संज्ञा दी जाती है पर उस क्रांति में कोई हिंसा की बात नहीं थी। इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति एक अहिंसक क्रांति का उदाहरण है। इस उदाहरण से ऐसा लगता है कि क्रांति का स्वरूप सिर्फ राजनीतिक नहीं, बल्कि आर्थिक भी हो सकता है। इस औद्योगिक क्रांति को सही मायने में क्रांति कहा जाय या नहीं यह एक विवाद का विषय हो सकता है |

10.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई को सर्वप्रथम सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा का अध्ययन किया। तत्पश्चात् सामाजिक परिवर्तन के स्रोतों के बारे में जानकारी प्राप्त की तथा इसके उपरान्त सामाजिक परिवर्तन के मुख्य स्रोतों के विषय में अध्ययन किया जिसमें उद्विकास, प्रगति, विकास, सामाजिक आंदोलन तथा क्रांति मुख्य रूप से हैं।

10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को समझाइए।
2. सामाजिक परिवर्तन को समझाते हुए इसके मुख्य स्रोतों का वर्णन कीजिए।
3. सामाजिक परिवर्तन के प्रभावों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
4. सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव में उद्विकास तथा प्रगति की व्याख्या कीजिए।
5. सामाजिक आंदोलन तथा क्रांति में क्या सम्बन्ध है?

10.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सिंह, जे. पी. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, पी.एच.आई. लरनिंग प्रा. लि., न्यू डेल्ही, 2010।
2. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।
3. लवानिया, एम.एम. एवं राठौड़, ए.एस. (1999) भारतीय समाज, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
4. लवानिया, एम.एम. एवं पडियार, जी. (2010) भारत में सामाजिक समस्यायें, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
5. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा
6. गुप्ता, एम. एल. एवं शर्मा डी.डी., मानव समाज, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2001।

7. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।

8. आहूजा, राम, सामाजिक समस्याऐं, रावत पब्लिकेशन्स, द्वितीय संस्करण, जयपुर एवं नई दिल्ली, 2000।

9. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर

10. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

11. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

12. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर

13. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटस

इकाई -11

सामाजिक संस्था :अर्थ,प्रकार्य एवं प्रकार

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.3 संस्था

11.3.1 संस्था की परिभाषा

11.4 संस्था के प्रकार्य

11.5 संस्था की विशेषताएँ

11.6 संस्था का उद्विकास

11.7 संस्थाओं के प्रकार

11.8 समिति, संस्था और हित में सम्बन्ध

11.8.1 हम समितियों के सदस्य होते हैं, संस्था के नहीं

11.8.2 समुदाय, समिति और संस्था की पारस्परिक निर्भरता

11.6 सारांश

11.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

11.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप -

1. सामाजिक संस्थाओं के अर्थ एवं परिभाषा को समझ सकेंगे।
2. संस्था के प्रकार्यों तथा विशेषताओं के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
3. संस्था के उद्विकास को समझ सकेंगे।
4. संस्थाओं के प्रकार के विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगे
5. समिति, संस्था और हित में सम्बन्धों का अध्ययन कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक संस्थाओं की अवधारणा का वर्णन किया गया है। संस्था वह अंग है, जिसके माध्यम से समाज के कार्या को क्रियान्वित किया जाता है। गिलिन एवं गिलिन के अनुसार सामाजिक संस्था कुछ सांस्कृतिक विशेषताओं को स्पष्ट करने वाले वे नियम हैं जिनमें काफी स्थायित्व होता है जिनका कार्य सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करना होता है। 'संस्था ,जनरीतियों, रूढ़ियों और विधियों का एक संगठित रूप है जो समाज द्वारा स्वीकृत हिकार स्थायित्व प्राप्त कर लेती हैं तथा एक प्रतीक और कुछ निश्चित उद्देश्य रखती है| संस्था में कुछ नियम और एक नियम पद्धति होती है, जो मनुष्य की सामूहिक क्रियाओं पर निर्भर है और उनको नियन्त्रित करने का एक अधिक स्थिर यद्यपि अमूर्त साधन है। रॉस का विचार है कि "सामाजिक-संस्थाएँ संगठित मानवीय सम्बन्धों की वह व्यवस्था है जो सामान्य इच्छा द्वारा स्थापित या स्वीकृत होती है।" इसके अतिरिक्त एक संस्था कुछ जनरीतियाँ और रूढ़ियों का ऐसा संगठन होता है जो अनेक सामाजिक कार्य करता है। वास्तव में संस्था को जनरीतियों, रूढ़ियों एवं विधियों का संगठित रूप कहना ही उपयुक्त है।

11.3 संस्था

सामाजिक जीवन में संस्था का भी वही स्थान है जो समाज, समिति एवं समुदाय का है। मनुष्य के हितों को दो भागों में बांटा जा सकता है प्रथम-सामान्य हित, द्वितीय-विशेष हित। इन हितो की पूर्ति वह समाज के स्वीकृत तरीको से करने का प्रयत्न करता है। व्यक्ति इन हितों की पूर्ति स्वयं के बलबूते पर नहीं कर पाता वरन् उसे इनकी पूर्ति करने के लिए समाज के अन्य सदस्यों का सहयोग लेना पड़ता है। इस रुप में वह समिति के माध्यम से अपने हितों को पूरा करने का प्रयास करता है लेकिन समितियाँ कभी भी मनमाने रूप से कार्य नहीं कर सकती । सभी समितियाँ कुछ विशेष कार्य विधियों एवं नियमों को ध्यान में रखते हुए अपने उद्देश्यों को पूरा करने का प्रयत्न करती हैं। साधारण अर्थ में इन्ही कार्य-विधियों एवं नियमों की व्यवस्था को हम संस्था कहते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संस्था सामाजिक नियमों एवं कार्य विधियों की उस व्यवस्था का नाम है जो सामाजिक मानकों के अनुसार व्यक्तियों को अपने हितों को पूरा करने की अनुमति प्रदान करती है।

समाजशास्त्रीय अर्थ में, 'संस्था' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम हरबर्ट स्पेन्सर ने अपनी पुस्तक 'First Principals' में किया था। स्पेन्सर के अनुसार, "संस्था वह अंग है, जिसके माध्यम से समाज के कार्यों को क्रियान्वित किया जाता है|" एण्डरसन के अनुसार, "संस्था कुछ आदर्श नियमों का संग्रह है जो हमारी सामाजिक क्रियाओं के प्रमुख पक्षों से सम्बद्ध होता है," चार्ल्स कूले, संस्थाओं को अनेक आदर्श नियमों की व्यवस्था मानते हैं।

11.3.1 संस्था की परिभाषा

मैरिल और एलरिज के अनुसार, "सामाजिक संस्थाएँ आचरण के वे प्रतिमान हैं, जो मनुष्य की मुख्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्मित हुए हैं।"

मैकाइवर और पेज के शब्दों में, "सामूहिक क्रिया की विशेषता बतलाने वाली कार्य-प्रणाली के स्थापित रूप या अवस्था को ही हम संस्था कहते हैं।"

रॉस का विचार है कि "सामाजिक-संस्थाएँ संगठित मानवीय सम्बन्धों की वह व्यवस्था है जो सामान्य इच्छा द्वारा स्थापित या स्वीकृत होती है।"

गिलिन और गिलिन का कथन है कि ''सामाजिक संस्था कुछ सांस्कृतिक विशेषताओं को स्पष्ट करने वाले वे नियम हैं जिनमें काफी स्थायित्व होता है तथा जिनका कार्य सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करना होता है।''

समनर के अनुसार, ''एक संस्था एक विचारधारा (विचार, मत, सिद्धान्त, स्वार्थ) और एक संरचना से मिलकर बनता है।''

बोगार्डस के अनुसार, ''सामाजिक संस्था समाज का वह ढाँचा होती है जो मुख्य रूप से सुव्यवस्थित विधियों द्वारा लोगों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए संगठित की जाती है।''

ऑगबर्न तथा निमकॉफ के अनुसार, ''मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संगठित और स्थापित प्रणालियाँ ही सामाजिक संस्थाएँ हैं।''

ग्रीन के अनुसार, '' एक संस्था किसी इकाई में जनरीतियों और रूढ़ियों (और प्रायः अधिकतर, परन्तु आवश्यक नहीं,) का ऐसा संगठन होता है जो अनेक सामाजिक कार्य करता है।'' वास्तव में संस्था को जनरितियों, रूढ़ियों और विधियों का संगठित रूप कहना ही अधिक उपयुक्त है।

वुडवर्ड और मैक्सवेल का मत है कि, ''सामाजशास्त्रीय भाषा में एक संस्था जनरीतियों और रूढ़ियों का समूह है जो किसी मानवीय साध्य या उद्देश्य की प्राप्ति में केन्द्रित होती है।'' संस्था की यह परिभाषा भी समीचीन है।

11.4 संस्था के प्रकार्य

मानव के किसी न किसी कार्य की पूर्ति के लिए ही संस्था का जन्म होता है। गोल्डनर के अनुसार संस्थाओं के सभी कार्यों को निम्नलिखित दो भागों में विभाजित करके स्पष्ट किया जा सकता है-

1. व्यक्ति की समस्याओं के समाधान से सम्बन्धित कार्य।
2. सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित कार्य।

वास्तव में देखा जाए तो संस्थाओं के कार्य इतने व्यापक हैं कि मानव का सम्पूर्ण सामाजिक जीवन इन्हीं के कारण सुव्यस्थित रहता है। संक्षेप में, संस्था के कार्य एवं महत्व को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है:

1. संस्थाओं का मुख्य कार्य वैधानिक रूप से मानव की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। जैसे व्यक्ति विवाह रूपी संस्था के द्वारा ही मानव अपनी जैविकीय आवश्यकता को वैधानिकता प्रदान करता है।
2. संस्थाएँ सांस्कृतिक तत्वों को एक पीढी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करती हैं। संस्थाएँ यह निर्देशित करती हैं कि व्यक्ति का चाल-चलन, बोलचाल, पहनावा व अन्य कार्य करने के ढंग किस प्रकार के हों।
3. संस्थाएँ व्यक्ति के कार्यों को सरलता प्रदान करती हैं। यदि संस्थाएँ व्यक्ति का मार्ग-निर्देशन न करें तो उसका सम्पूर्ण जीवन भूल और सुधार की प्रक्रिया में ही व्यतीत हो जायेगा।
4. व्यक्तियों के व्यवहारों में अनुरूपता लाने का श्रेय संस्थाओं को है। इसी से सामाजिक एवं संस्कृतिक संगठन सुदृढ़ बनता है।
5. संस्थाएँ मनुष्यों के व्यवहारों को नियन्त्रित करती हैं। कोई भी व्यक्ति अगर समाज का सर्वमान्य और प्रभावकारी सदस्य बनना चाहता है तो उसे उन्हीं व्यवहारों को करना होता है जो समाज द्वारा मान्य हों।

6. संस्थाएँ प्रत्येक व्यक्ति को उसकी क्षमता एवं योग्यता के अनुरूप सामाजिक प्रस्थिति प्रदान करती हैं जिसके कारण सामाजिक जीवन में संघर्षों की सम्भावनाओं को काफी हद तक कम किया गया है।व्यक्ति की प्रस्थिति के अनुसार ही संस्थाएं उसकी भूमिका का निर्धारण करतीहैं |

11.5 संस्था की विशेषताएँ

संस्था की निम्नलिखित विशेषताओं से संस्था का रूप और अधिक स्पष्ट होता है:

1. निश्चित नियम पद्धति

संस्था की सबसे मुख्य विशेषता अथवा पहचान यह है कि संस्था का तात्पर्य कभी भी व्यक्तियों के संगठन से नहीं होता बल्कि यह अनेक नियमों और कार्यविधियों की एक व्यवस्था है। ये नियम अथवा कार्यविधियाँ अनेक विचारों, जनरीतियों, लोकाचारों, लिखित नियमों अथवा कानूनों के रूप में देखने को मिलती हैं। इसी दृष्टिकोण से गिलिन का कथन है कि 'संस्था सांस्कृतिक व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण इकाई है।'

2. नियन्त्रण का अमूर्त साधन

संस्था मनुष्यों को नियन्त्रित करने का एक अमूर्त साधन है। संस्था का निर्माण अनेक नियमों एवं कार्यविधियों द्वारा होता है। इन नियमों एवं कार्यविधियों के अनुसार ही हम जीवन यापन करते हैं परन्तु हम उन्हें देख नहीं सकते हैं।

3. सामूहिक स्वीकृत पर आधारित

यदि नियमों की किसी व्यवस्था का निर्माण कुछ व्यक्ति अपने निजी स्वार्थो को पूरा करने के लिए कर लें तो इस व्यवस्था को संस्था नहीं कहा जा सकता। नियमों की कोई व्यवस्था संस्था तभी कहलाती है जब उसे सम्पूर्ण समूह अथवा समुदाय की स्वीकृति प्राप्त हो। उदाहरण के लिए, संविधान एक संस्था है जिसके सभी कानून सरकार व विभिन्न समूहों द्वारा मान्य होते हैं।

4. सुपारिभाषित उद्देश्य

प्रत्येक संस्था के उद्देश्य पूर्णतया स्पष्ट और व्यावहारिक रूप से उपयोगी होते हैं। सभी संस्थाओं का कार्य एक विशेष समूह के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखना तथा पारस्परिक संघर्षों की सम्भावना को दूर करना होता है। संस्था के यह उद्देश्य इतने स्थायी होते हैं कि नयी पीढ़ियों के जन्म के बाद भी इनकी उपयोगिता समाप्त नहीं होती।

5. प्रतीक

प्रत्येक संस्था की विशेषताएँ तथा पहचान इसके अनेक प्रतीकों द्वारा स्पष्ट की जाती हैं। संस्था के प्रतीक भौतिक भी हो सकते हैं और अभौतिक भी। उदाहरण के लिए, विवाह एक संस्था है तथा इसमें निहित भावनाओं को अनेक मंत्रों, हवन, वेदी, कलश तथा मण्डप जैसे प्रतीकों से अभिव्यक्त किया जाता है।

6. स्थायित्व

समुदाय और समिति की अपेक्षा संस्था कहीं अधिक स्थायी होती है। इसका कारण यह है कि कार्य करने का कोई तरीका जब बहुत लम्बे समय तक उपयोगी प्रमाणित होता रहता है तभी वह संस्था का रूप ले पाता है। इसके उपरान्त व्यवहार का वह तरीका संस्कृति का अंग बन जाता है और उसमें किसी भी तरह के परिवर्तन को उचित

नहीं समझा जाता। यही कारण है कि एक समाज के आर्थिक और राजनीतिक जीवन में बहुत से परिवर्तन हो जाने के बाद भी सामाजिक संस्थाओं के रूप में कोई परिवर्तन बहुत कठिनता से ही हो पाता है।

7. सामूहिक क्रियाओं पर आधारित

यद्यपि व्यवहार के एक विशेष तरीके का विचार सबसे पहले एक व्यक्ति के मस्तिष्क में ही उत्पन्न होता है, लेकिन जब बहुत से व्यक्ति उस विचार अथवा कार्य के तरीके को उपयोगी समझने लगते हैं तभी उसे एक संस्था का रूप मिल पाता है। इस प्रकार संस्था के विकास में सामूहिक प्रयत्नों का समावेश होने के कारण संस्था को एक ’सामूहिक घटना‘ कहा जाता है।

8. प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति

संस्थाएँ मानव की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से कार्य करती हैं। मानव की मूलभूत आवश्यकताओं जैसे भोजन ,मकान ,प्रेम ,यौन संतुष्टि,सुरक्षा आदि की पूर्ति परिवार ,विवाह,आर्थिक तथा राजनीतिक संस्थाओं द्वारा होता है |

11.6 संस्था का उद्विकास

संस्था का विकास कैसे होता है इसे समनर ने अपनी पुस्तक ’जनरीति‘ में विभिन्न स्तरों के द्वारा स्पष्ट किया है। संस्था का विकास सर्वप्रथम व्यक्ति के मस्तिष्क में एक विचार के रूप में होता हैं। जब व्यक्ति इस विचार को प्रयोग में लाता है तो उपयोगी सिद्ध होने के कारण वह उसकी पुनरावृत्ति करता है और दूसरे स्तर में यह उसकी आदत बन जाती है, उसकी उपयोगिता को देख कर अन्य व्यक्ति सामूहिक रूप से उसकी पुरावृत्ति करने लगते हैं, जिसके कारण तीसरे स्तर में वही विचार एक जनरीति बन जाता है। जब जनरीति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है और बहुत से लोगों के अनुभवों का समावेश हो जाता है तो चौथे स्तर पर वह एक प्रथा का रूप ले लेता है। धीरे-धीरे उस प्रथा को समूह की स्वीकृति के साथ ही साथ समूह के कल्याण के लिए आवश्यक समझा जाता है। यही से वह प्रथा एक लोकाचार रूप ग्रहण कर लेती है। जब अनेक नियमों के द्वारा इस लोकाचार को एक व्यवस्थित ढांचा प्राप्त होता है तो इसी को ’संस्था‘ कहा जाता है।

11.7 संस्थाओं के प्रकार

(1) **विकास के आधार पर-** समनर ने संस्थाओं के दो प्रकार बताएँ हैं-

(क) स्वतः विकसित- इस प्रकार की संस्थाओं का विकास अचेतन रूप से स्वतः होता है। जैसे- विवाह, धर्म एवं सम्पत्ति आदि।

(ख) निर्मित- इस प्रकार संस्थाओं का विकास निश्चित उद्देश्यों के फलस्वरूप होता है। जैसे- व्यापार, शिक्षा आदि।

(2) **सामाजिक महत्व के आधार पर-** सामाजिक महत्व के आधार पर संस्थाओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:

(क) आधारभूत संस्था- आधारभूत संस्थायें वे संस्थाएं हैं जो समाज के साम्य को बनाए रखने के लिए परमावश्यक हैं जैसे -परिवार, सम्पत्ति, राज्य, धर्म, शिक्षा आदि।

(ख) गौण संस्था- गौण संस्थायें वे संस्थाएं हैं जो समाज के संगठन बनाने तथा साम्य बनाए रखने के लिए आवश्यक नहीं है ,जैसे - मनोरंजनात्मक संस्थाएँ।

(3) सामाजिक स्वीकृति के आधार पर- सामाजिक स्वीकृति के आधार पर भी संस्थाओं को दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है-

(क) समाज द्वारा स्वीकृत संस्थाएँ- समाज से मान्यता प्राप्त संस्थाएँ जैसे- जनरीतियाँ, प्रथाएँ, लोकाचार, कानून।

(ख) समाज द्वारा अस्वीकृत संस्थाएँ- प्रायः समाज विरोधी कार्यो में संलग्न संस्थाएँ जैसे- सट्टाबाजारी, चोर बाजारी आदि।

(4) प्रकार्य के आधार पर- विभिन्न प्रकार्यों के आधार पर संस्थाओं को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं-

(क) कार्यात्मक संस्थाएँ- इन संस्थाओं के प्रकार्य विशेष उद्देश्यों की वस्तुओं या नियमों का निर्माण करना है। जैसे- प्राविधिक संस्था।

(ख) नियामक संस्थाएँ- इन संस्थाओं का प्रकार्य विभिन्न सामाजिक व्यवहारो को नियन्त्रित करना होता है। जैसे- वैधानिक संस्थाएँ।

उपरोक्त-आधारों के दृष्टिकोण से विभिन्न संस्थाओं को निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है-

1. पारिवारिक संस्थाएँ
2. आर्थिक संस्थाएँ
3. राजनीतिक संस्थाएँ
4. शैक्षणिक संस्थाएँ
5. धार्मिक संस्थाएँ
6. सांस्कृतिक संस्थाएँ
7. मनोरंजनात्मक संस्थाएँ

11.8 समिति, संस्था और हित में सम्बन्ध

मैकाइवर एवं पेज का कथन है कि प्रत्येक समिति का एक संस्थात्मक पहलू भी होता है जिसके माध्यम से समिति अपने हितों की प्राप्ति करती है। इस दृष्टिकोण से समिति, संस्था व उसके हितों के मध्य सम्बन्ध को निम्न तालिका से स्पष्ट कर सकते हैं-

	समिति	संस्थाएँ	विशेष हित
1.	परिवार	विवाह, घर, सम्पत्ति उत्तराधिकारी।	लैगिंग सम्बन्ध, सन्तानोपत्ति आवास-व्यवस्था।
2.	महाविद्यालय	परीक्षा प्रणाली, व्याख्यान।	अनुशासन,शिक्षण, व्यावसायिक तैयारी।

3.	व्यापार	बही खाता, हिसाब किताब, अंश पूंजी।	लाभ।
4.	श्रमिक संघ	सामूहिक सौदेबाजी, धरना, हड़ताल करने की दशाएँ।	नौकरी, सुरक्षा,वेतन वृद्धि, कार्य
5.	गिरजाघर	सम्प्रदाय, धर्म, भ्रातृत्व, पूजा का स्वरूप।	धार्मिक विश्वास।
6.	राजनीतिक दल	प्राथमिक इकाईयों, दल का विधान।	कार्यालय, शक्ति, सरकारी नीति।
7.	राज्य	विधान, वैधानिक-संहिता, सरकार का स्वरूप।	सामाजिक व्यवस्था का साधारण नियमन।

11.8.1 हम समितियों के सदस्य होते हैं, संस्था के नहीं

मैकाइवर और पेज का कथन है कि ''हम समितियों के सदस्य होते हैं, संस्था के नहीं'' । यह कथन समिति तथा संस्था की तुलनात्मक प्रकृति को स्पष्ट करने में बहुत अधिक सहायक है। यह कथन स्पष्ट करता है कि प्रत्येक वस्तु का एक मूर्त पहलू होता है और एक अमूर्त। कोई संगठन मूर्त इसलिए होता है कि कुछ व्यक्ति मिलकर इस संगठन का निर्माण करते हैं और साथ ही यह अमूर्त इसलिए होता है कि अनेक नियमों तथा कार्य-विधियों के द्वारा इस संगठन को स्थायी बनाये रखा जाता है। मैकाइवर का कथन है कि ''यदि हम किसी वस्तु को एक संगठित समूह से रूप में लें तब इसे समिति कहा जायेगा लेकिन यदि इसे एक कार्यप्रणाली के रूप में लिया जाय तब वह संस्था होगी। समिति सदस्यता का बोध कराती है जबकि संस्था कार्य के किसी तरीके अथवा साधन का बोध कराती है।'' इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक मूर्त प्राणी के रूप में व्यक्ति किसी समिति का ही सदस्य हो सकता है संस्था जैसी किसी अमूर्त विशेषता का नहीं। संस्था तो केवल व्यक्तियों के कार्यो को सरल बनाने तथा उन्हें व्यवस्थित करने वाले कुछ नियमों तथा कार्यविधियों की ओर संकेत करती है। फिर व्यक्ति किसी नियम अथवा कार्यविधि का सदस्य किस प्रकार हो सकता है? इस तथ्य को अनेक उदाहरणों की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

प्रथम उदाहरण हम एक परिवार का ले सकते हैं। यदि हम परिवार को माता-पिता, भाई-बहिन तथा दूसरे सदस्यों के एक समूह के रूप में देखें तो परिवार एक समिति है। इस समिति को अनेक परम्पराओं, घरेलू रीतियों, उत्तराधिकार के नियमों तथा विवाह पद्धति के द्वारा व्यवस्थित रखा जाता है। इस प्रकार परम्परायें, घरेलू रीतियाँ, उत्तराधिकार के नियम तथा विवाह परिवार के अन्तर्गत विभिन्न संस्थाएँ हैं। स्पष्ट है कि उत्तराधिकार के नियम तथा वैवाहिक पद्धति परिवार को संगठित बनाये रखने का कार्य करते हैं । इस दृष्टिकोण से हम एक समिति के रूप में परिवार के सदस्य हो सकते हैं, परिवार रूपी संस्था का सदस्य बनना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। मनुष्य एक मूर्त प्राणी है। इसलिए वह मनुष्यों के ही किसी संगठन का सदस्य हो सकता है। उत्तराधिकार के नियम और विवाह एक अमूर्त स्थिति की ओर संकेत करते हैं। हम इन नियमों को कार्य में ला सकते हैं लेकिन इनके सदस्य नहीं हो सकते।

कॉलेज तथा सरकार के उदाहरण द्वारा भी मैकाइवर के इस कथन की पुष्टि की जा सकती है। कॉलेज का एक रूप मूर्त हैं क्योंकि बहुत से शिक्षक, विद्यार्थी तथा कर्मचारी इसके सदस्य होते हैं और सदस्य के रूप में ही अपने-अपने

उद्देश्यों को पूरा करते हैं। साथ ही कॉलेज का एक अमूर्त रूप भी है अर्थात् अनेक परम्पराएँ, परीक्षा-प्रणाली तथा अनुशासन के नियम कॉलेज को व्यवस्थित बनाते हैं। कॉलेज का पहला रूप समिति है और दूसरा रूप संस्था। स्वाभाविक है कि एक समिति के रूप में ही हम कॉलेज के सदस्य हो सकते हैं। परीक्षा-प्रणाली अथवा अनुशासन के नियम हमारे कार्य को सरल बनाने के साधन हैं, हम इनके सदस्य नहीं हो सकते। इसी प्रकार अनेक नीति निर्माताओं तथा प्रशासकीय अधिकारियों के संगठन के रूप में सरकार एक समिति है जबकि संविधान तथा आचार-संहिता इस समिति के अन्तर्गत दो मुख्य संस्थाएँ हैं। एक प्रशासनिक अधिकारी बनकर हम सरकार के सदस्य बन सकते हैं लेकिन संविधान अथवा आचार-संहिता के सदस्य नहीं बन सकते। इन सभी उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि व्यक्ति किसी संगठन का ही सदस्य बन सकता है किसी कार्य-प्रणाली का सदस्य नहीं। दूसरे शब्दों में, हम समितियों के सदस्य होते हैं किसी संस्था के नहीं।

11.8.2 समुदाय, समिति और संस्था की पारस्परिक निर्भरता

उपर्युक्त, समुदाय, समिति एवं संस्था के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि- समुदाय एक वृहद क्षेत्रीय मानव समूह है, जिसके अन्तर्गत विभिन्न समितियाँ पाई जाती हैं। इन विभिन्न प्रकार की समितियों को व्यवस्थित एवं संचालित करने हेतु कुछ नियम और कार्य विधियों अर्थात् संस्था की व्यवस्था होती है। इस दृष्टिकोण से समुदाय समिति और संस्था का अर्थ एक दूसरे से पृथक है परन्तु सामाजिक संरचना में तीनों परस्पर निर्भरता रखती हैं। जैसे- गाँव एक समुदाय है, गाँव के अन्दर बनी ग्राम-पंचायत एक समिति है और इस ग्राम को संचालित करने वाले विभिन्न नियम संस्थाएँ हैं।

11.9 सारांश

प्रस्तुत इकाई में संस्था की अवधारणा के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् संस्था के प्रकार्यों तथा संस्था की विशेषताओं का अध्ययन किया। इसके पश्चात संस्था के उद्विकास को पढ़ने के साथ ही संस्था के प्रकारों के विषय में जानकारी प्राप्त की। अंत में समिति, संस्था और हित के विषय में ज्ञान प्राप्त किया।

11.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. संस्था को परिभाषित कीजिए। संस्था के प्रकार्यों का वर्णन कीजिए।
2. संस्था की अवधारणा को समझाते हुए इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
3. संस्था के उद्विकास के महत्व पर चर्चा कीजिए।
4. संस्था के प्रकारों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
5. समिति, संस्था तथा हित के बीच परस्पर सम्बन्धों की व्याख्या कीजिए।

11.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।
2. गुप्ता, एम. एल. एवं शर्मा डी.डी., मानव समाज, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2001।

3. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाजः एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।

4. लवानिया, एम.एम. एवं राठौड़, ए.एस. (1999) भारतीय समाज, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर

5. लवानिया, एम.एम. एवं पडियार, जी. (2010) भारत में सामाजिक समस्यायें, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर

6. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा

7. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटस

8. आहूजा, राम, सामाजिक समस्याऐं, रावत पब्लिकेशन्स, द्वितीय संस्करण, जयपुर एवं नई दिल्ली, 2000।

9. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर

10. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

11. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

12. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर

इकाई -12

परिवार : अर्थ एवं प्रकार

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 परिवार

12.2.1 परिवार का अर्थ एवं परिभाषा

12.3 परिवार के कार्य

12.4 परिवार में आधुनिक परिवर्तन

12.5 परिवार का प्रकार

12.5.1 एकाकी परिवार

12.5.2 संयुक्त परिवार

12.6 परिवार के वर्गीकरण

12.7 सारांश

12.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

12.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

12.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप

1. परिवार की अवधारणा, अर्थ तथा परिभाषा को समझ सकेंगे।
2. परिवार के कार्यों का अध्ययन कर सकेंगे।
3. परिवार में होने वाले आधुनिक परिवर्तन का अध्ययन कर सकेंगे।

4.परिवार के वर्गीकरण को समझ सकेंगे जिसमे एकाकी परिवार तथा संयुक्त परिवार का अध्ययन कर सकेंगे। परिवार के प्रकार को समझ सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में परिवार के विषय पर विचार किया है। है। समाज के सभी स्तरों में चाहे वह निम्न स्तर के हो या उच्च स्तर के हो उनमें पारिवारिक संगठन अवश्य होता है। सामाजिक सम्बन्धों के द्वारा व्यक्तित्व का विकास होता है। इन सम्बन्धों का विकास परिवार में होता है। परिवार के अभाव में सभ्य मानव समाज की कल्पना करना कठिन है। परिवार मानव समाज की प्राथमिक ईकाई है। जिसमें व्यक्ति की समस्त आवश्यकतायें पूरी होती हैं। इसी वजह से परिवार सार्वभौमिक है और यह आदिकाल से विद्यमान रहा है।परिवार उस समूह का नाम है जिसमें स्त्री-पुरूष का यौन समबंध पर्याप्त निश्चित होता है , परिवार में सन्तान को उसका अधिकार मिलता है और उनका पालन-पोषण किया जाता है । परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो विवाह , रक्त या गोद लेने के सम्बंधी या तीनो तरीको द्वारा संगठित है, एक छोटी गृहस्थी को बनाते है। पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन के रूप में एक दूसरे से अंतःक्रिया करते है तथा एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करते है। परिवार के द्वारा परिवार के सदस्यों के लिए आवास,भोजन , आर्थिक सहयोग, शिक्षण तथा सामाजीकरण आदि की व्यवस्थायें करते हैं।

12.1 परिवार

समाज की समस्त सामाजिक सस्थाओं में परिवार एक महत्वपूर्ण और सर्वव्यापी सामाजिक संस्था है। समाज के सभी स्तरों में चाहे वह निम्न स्तर के हो या उच्च स्तर के हो उनमें पारिवारिक संगठन अवश्य होता है। सामाजिक सम्बन्धों के द्वारा व्यक्तित्व का विकास होता है। इन सम्बन्धों का विकास परिवार में होता है। परिवार के अभाव में सभ्य मानव समाज की कल्पना करना कठिन है। परिवार मानव समाज की प्राथमिक ईकाई है। जिसमें व्यक्ति की समस्त आवश्यकतायें पूरी होती हैं। इसी वजह से परिवार सार्वभौमिक है और यह आदिकाल से विद्यमान रहा है।

परिवार का अर्थ एवं परिभाषा

परिवार शब्द अंग्रेजी भाषा के फैमिली (Family) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। Family शब्द की उत्पत्ति रोमन शब्द famulas से हुई है। जिसका अर्थ माता-पिता ,बच्चे और दास के समूह के लिए प्रयुक्त होता था। परिवार के अन्तर्गत पति-पत्नी तथा बच्चे सदस्य के रूप में होते है। इसके अतिरिक्त रक्त सम्बन्धियों को भी शामिल किया जाता है।

विद्वानों ने परिवार के विषय को कई प्रकार से परिभाषित किया है। जोकि निम्नलिखित है:

मैकाइवर के अनुसार, ‘‘परिवार उस समूह का नाम है जिसमें स्त्री-पुरूष के पर्याप्त रूप में निश्चित और स्थायी यौन सम्बन्ध से सन्तान उत्पन्न होते हैं और उनका पालन पोषण भी किया जाता है ।’’

बर्गेस. ई. डब्ल्यू. तथा लाक के अनुसार, ‘‘परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो विवाह, रक्त और गोद लेने के सम्बन्धों द्वारा संगठित है, एक छोटी गृहस्थी को बनाते है और पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन अपने अपने क्रमशः सामाजिक कार्यों ,अन्तःक्रिया एवं अंतःसंचार करते है तथा एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करते है।

किग्सले डेविस के अनुसार, ‘‘परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह हैं, जिनके पारस्पारिक सम्बन्ध सगोत्रता पर आधारित होते है और जो इस प्रकार एक दूसरे के रक्त सम्बन्धी होते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि परिवार एक स्थायी सामाजिक समूह है। जिसमें स्त्री-पुरुष यौन सम्बन्धों के द्वारा बच्चों को उत्पन्न करते है। तथा उनका पालन-पोषण करते है। परिवार द्वारा परिवार के सदस्यों के लिए आवास, आर्थिक सहयोग, शिक्षण, समाजीकरण आदि की व्यवस्थायें होती है।

12.3 परिवार के कार्य

मानव समाज में परिवार की महत्ता ने परिवार के कार्यों को कई भागों में विभाजित किया है। जो कि निम्नलिखित हैं:-

1. जैविकीय कार्य

यौन इच्छाओं की पूर्ति

यौन सन्तुष्टि मानव जीवन की आवश्यकता है। परिवार में व्यक्ति विवाहित जीवन को सफल बनाने तथा समाज द्वारा स्वीकृत तरीके से यौन इच्छाओं को पूरा करता है।

सन्तानोत्पत्ति एवं बच्चों का पालन पोषण

यौन इच्छाओं की पूर्ति के साथ-साथ परिवार में सन्तान उत्पत्ति भी होती है। समाज को गतिमान बनाये रखने के लिए सन्तानोत्पत्ति आवश्यक है। परिवार के अतिरिक्त भी सन्तानोत्पत्ति हो सकती है परन्तु समाज न तो ऐसी सन्तानों को एवं न ही ऐसे सम्बन्धों को स्वीकार करता है। सन्तानों का पालन-पोषण करना, उनकी शिक्षा की व्यवस्था करना, उनको संस्कारित बनाना आदि कार्य परिवार के द्वारा किये जाते हैं।

भोजन एवं आवास का प्रबन्ध करना

जीवन के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए भोजन आवश्यक है। जिसके बिना व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता है। भोजन के साथ-साथ परिवार सदस्यों के निवास के लिए निवास की व्यवस्था करता है। व्यक्ति अपने निवास घर में ही शान्ति एवं सुख का अनुभव करता है।

2. आर्थिक कार्य

परिवार में व्यक्ति का पालन-पोषण होता है। मनुष्य की प्रत्येक आर्थिक आवश्यकताये परिवार द्वारा पूरी होती हैं | आधुनिक परिवरों में अब स्त्री और पुरुष दोनों ही रोजगार में कार्यरत रहते है। जिससे घर की आय में वृद्धि होती है और घर में समृद्धि आती है। इसके साथ-साथ घर की आय और खर्चों का प्रबन्ध भी परिवार द्वारा किया जाता है।

3. सामाजिक कार्य

परिवार के द्वारा ही बालक का सामाजिक विकास होता है। परिवार में संस्कृति, प्रथायें, आदतों, रीति-रिवाज आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। परिवार के द्वारा व्यवहारों, ज्ञान, संस्कृति का हस्तान्तरण पीढ़ी दर पीढ़ी होता है। इसके साथ-साथ परिवार के सदस्यों को सामाजिक सुरक्षा भी परिवार के द्वारा मिलती है।

4. मनोवैज्ञानिक कार्य

परिवार के द्वारा परिवार के सदस्यों को मानसिक सुरक्षा, सन्तोष, प्रेम, सहयोग, परस्पर प्यार-स्नेह मिलता है। जिससे बच्चों में आत्मविश्वास पैदा होता है तथा व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से विकास होता है। जिन परिवारों में बच्चों को प्यार-स्नेह नहीं मिलता वे अपराधी और विघटित व्यक्तित्व वाले बन जाते है।

5. राजनीतिक कार्य

परिवार के अन्दर परिवार के विवादों को सुलझाने के लिए, परिवार के सदस्यों को उनके अधिकार एवं कर्तव्यों का ज्ञान कराने , उनकी स्थिति से उनको अवगत कराने और परिवार को संचालित करने के लिए प्रबन्धन करना आदि कार्य परिवार के वरिष्ठ सदस्यों द्वारा दिये किये जाते हैं।

6. मनोरंजनात्मक कार्य

परिवार के द्वारा मनाये जाने वाले पर्व, त्यौहार, उत्सव, धार्मिक कर्मकाण्ड,विवाह आदि के द्वारा परिवार के सदस्यों का मनोरंजन होता है। कहानियां सुनाना, बच्चो का आपस में खेल-कूद , पिकनिक आदि के द्वारा बच्चों का मनोरंजन होता ही है, साथ ही साथ उनका शारीरिक एवं मानसिक विकास भी होता है।

7. शिक्षणात्मक कार्य

परिवार बच्चों की प्रथम पाठशाला होती है। जहाँ पर बच्चों को नैतिक शिक्षा, एवं सामाजिक शिक्षा मिलती है जिससे उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

12.4 परिवार में आधुनिक परिवर्तन

वर्तमान समाज में तीव्रगति से परिवर्तन हो रहे हैं। इन परिवर्तनों का प्रभाव परिवार पर भी पड़ रहा है। जिसके फलस्वरूप परिवार के कार्यों तथा संरचना दोनों में परिवर्तन हो रहा है। आज भी परिवार विकास तथा उन्नति की मौलिक इकाई है। जो कार्य पहले परिवार के द्वारा होते थे। वे आज अन्य संस्थाओं के द्वारा होने लगे हैं। वर्तमान समय में परिवार में निम्नलिखित परिवर्तन हो रहें है।

1. परिवार के आकार का छोटा होना

औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप केन्द्रीय परिवार या एकल परिवारों की संख्या बढ़ने लगी है। इसके साथ-साथ सन्तति निग्रह या परिवार नियोजन ने एकल परिवारों की संख्या बढ़ायी है। अब संयुक्त परिवार की जगह एकल परिवार ले रहें है।

2. वैवाहिक सम्बन्धों में परिवर्तन

शिक्षा एवं महिला सशक्तीकरण ने स्त्रियों को जागरूक किया है। जिसकी वजह से स्त्री-पुरुष के समान हो गयी है। अब स्त्रियां भी शिक्षा प्राप्त करके अपने लिए अलग रोजगार की व्यवस्था करती हैं। शादी की उम्र बढ़ने से लड़कियां भी पति का चयन करने में अपनी इच्छाओं को प्रकट करती हैं। प्रेम विवाह, कोर्ट मैरिज तथा अन्तर्जातीय विवाह ने परिवार के ढांचे को ही बदल दिया है।

3. परिवार में मुखिया की सत्ता में कमी

आज के परिवार में पहले की तरह परिवार के मुखिया की भूमिका उतनी निरंकुश नहीं है। बल्कि आधुनिक परिवार नियम, अनुशासन, अनुकूलता पर आधारित होता है। किसी भी निर्णय में परिवार के सभी सदस्यों की सहमति होती है। परिवार मे युवा सदस्य अपनी इच्छा से अपनी जिन्दगी के निर्णय स्वयं करते हैं। माता-पिता भी इन परिवर्तनों को स्वीकार करने लगे है।

4. स्त्रियों के अधिपत्य में वृद्धि

स्त्रियों की सामाजिक चेतना जागरण के फलस्वरूप महिलाओं ने अपने अधिकारों का प्रयोग करना सीखा है। महिलाओं को सम्पत्ति में अधिकार तथा महिलाओं से सम्बन्धित अन्य कानूनों को सशक्त किया गया है। महिलायें अपने पैरों पर खड़े होकर परिवार का पालन-पोषण करने में पुरुष के साथ बराबर का हाथ बटाँती हैं। विगत वर्षों में परिवार में महिलाओं की स्थिति दिनोदिन बेहतर हो रही है।

5. सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन

परिवार के मूल्यों में भी अधुनिकीकरण का प्रभाव पड़ा है। अब विवाह एक समझौता हो गया है। तलाक को व्यापक रूप से मान्यता मिली है। महिला सशक्तीकरण ने परिवार में महिलाओं के लिए भूमिका-सम्वर्धन जैसी स्थिति बना दी है। इसके अलावा विवाहोपरान्त यौन सम्बन्धों ने विवाह संस्था को कमजोर किया है। परिवार नियोजन के द्वारा सन्तति निरोध को आवश्यकता बना दिया है।

6. राज्य का हस्तक्षेप

पहले परिवार के ऊपर राज्य का नियन्त्रण नहीं था परन्तु विवाह, सन्तानोत्पत्ति, घरेलू हिंसा, बच्चों की देखभाल से सम्बन्धित कानून बनाकर राज्य का परिवार व्यवस्था में हस्तक्षेप किया है।

7. व्यक्तिवादी भावना का विकास

अधुनिकीकरण ने व्यक्तिवादी भावना को बढ़ाया है। पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष अपने निजी स्वार्थों के लिए विवाह को अनावश्यक मानते हैं। इसके साथ-साथ परिवारों में रिश्ते-नातों में स्वार्थ की भावना पनप रही है । व्यक्ति की स्वयं की महत्वाकांक्षाओं ने परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति उसके प्रेम को कम कर दिया है तथा सम्बन्धों में ऊर्जा तथा त्याग का अभाव दिखता है

12.5 परिवार का प्रकार

परिवार के भिन्न-भिन्न रूपों को दो कोटियों में बांटा जा सकता है। पहला वह परिवार है जिसमें स्त्री, पुरूष और बच्चे सम्मिलित हैं। यह परिवार का चिरथायी रूप है। दूसरी कोटि के अन्तर्गत उन सभी प्रकारों का समावेश हो सकता है जो विस्तृत परिवारों की संज्ञा पाये हुए हैं। इसमें बहुपति, बहुपत्नी और संयुक्त परिवार को स्थान दिया जाता है।

12.5.1 एकाकी परिवार

परिवार के सदस्य परस्पर बन्धुत्व अथवा नातेदारी सम्बन्धों से सम्बन्धित होते है। समाजशास्त्र की सबसे छोटी इकाई समूह है और उसमें कम से कम दो व्यक्तियों का होना आवश्यक है। इस प्रकार परिवार मनुष्यों का समूह है उसमें कम से कम दो ऐसे व्यक्तियों का होना आवश्यक है जो विवाह, रक्त और गोद से संबंधित हो इस प्रकार जहां केवल पति-पत्नी मिलकर परिवार बना देते हैं वह एकाकी परिवार कहलाएगा। इसके निम्न कई संरचनात्मक प्रकार हो सकते हैं- 1. पति-पत्नी, 2. पिता-पुत्र, 3. पिता-पुत्री, 4. माता-पुत्र, 5. माता-पुत्री, 6. भाई-भाई, 7. बहिन-बहन, 8. भाई-बहिन आदि-आदि परिवार के निर्माण में वैवाहिक और/अथवा रक्त (गोद) सम्बन्धों का होना आवश्यक है।

परिवार का दूसरा पक्ष प्रकार्यात्मक है। सामाजिक मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण से परिवार का प्रकार्यात्मक पक्ष विशेष महत्वपूर्ण है। कई विद्वानो ने परिवार के सदस्यों का साथ-साथ रहना आवश्यक बताया है जबकि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार अगर कुछ व्यक्ति बन्धुत्व सम्बन्ध से सम्बन्धित है और अलग-अलग रहते परन्तु वे कर्तव्य और अधिकार भावना एवं सत्ता के प्रतिमान से सम्बद्ध है तो वह एक परिवार कहलाएगा। रास ने अपनी परिभाषा में इन प्रकार्यात्मक विशेषताओं पर विशेष जोर दिया है डी0एन0 मजूमदार, मुरडाक, लूसी मेयर आदि ने साथ-साथ रहने पर बल दिया है। वास्तविकता तो है कि वे साथ-साथ भी रह सकते है और अलग-अलग भी, मुख्य बात यह है कि उनमें परस्पर सामाजिक सम्बन्ध होना आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परिवार व्यक्तियों के समूह है जो विशिष्ट बन्धुत्व सम्बन्धों विवाह, रक्त और गोद से सम्बन्धित होते हैं जो समाज द्वारा मान्यता प्राप्त होते हैं वे साथ-साथ अथवा अलग-अलग भी रह सकते हैं सदस्यों में परस्पर यौन सम्बन्धों की व्यवस्था, प्रजनन, समाजीकरण, सामाजिक नियंत्रण, कर्तव्य और अधिकार, भावना एवं सत्ता के प्रतिमान आदि से सम्बन्धित सम्बद्धता होती है।

12.5.2 संयुक्त परिवार

सदस्यों की संख्या की दृष्टि से परिवार के विभाजन में परिवार का एक प्रमुख प्रकार संयुक्त परिवार है। अनुमान है कि मानवीय सभ्यता तथा संस्कृति के विकास के क्रम में परिवार की उत्पत्ति संयुक्त परिवार के रूप में हुई है। परिवार के प्रारंभिक स्वरूप के बारे में बहुत अधिक मत वैभिन्य है। पितृसत्तात्मक, मातृसत्तात्मक, एक विवाही, यौन साम्यवाद जैसे अनेकों सिद्धान्त हैं जो कि परिवार की प्रारंभिक अवस्था पर प्रकाश डालते हैं। इन सभी में यदि मानवीय जीवन में स्थायित्व और कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था को जोड़कर देखा जाए तो परिवार में शक्ति और सत्ता का स्वरूप भले ही कैसा भी रहा हो लेकिन इसकी प्रकृति संयुक्त परिवार की रही होगी। कृषि एक ऐसा व्यवसाय है जो अनेकों पीढ़ियों के लोगों का भरण-पोषण करने तथा उन्हें कार्य देने में सक्षम है। प्रारंभिक समय में अन्य व्यवसायों के न होने की स्थिति में निश्चित ही कृषि मूल व्यवसाय में जुड़े हुए लोग संयुक्त परिवार में रहते होंगे।

संयुक्त परिवार की परिभाषाएँ

अनेक समाजशास्त्रियों ने संयुक्त परिवार की परिभाषाएँ दी हैं। कुछ प्रमुख परिभाषाओं का उल्लेख हम यहाँ कर रहे हैं।

आई.पी.देसाई - ''हम उस गृहस्थी को संयुक्त परिवार कहते हैं, जिसमें एकाकी परिवार की अपेक्षा अधिक (तीन या इससे अधिक) पीढ़ियों के सदस्य सम्मिलित रहते हैं तथा जो परस्पर सम्पत्ति, आय और पारस्परिक हित व कर्तव्यों से जुड़े रहते हैं।''

डा.पी.एन.प्रभु - ''सामान्यतः हिन्दू परिवार के अन्तर्गत चार पीढ़ियों के व्यक्ति सम्मिलित रहते है। सदस्यों की संख्या कितनी भी हो सकती है। ये सभी सदस्य एक ही घर में निवास करते है और परिवार की सामान्य सम्पत्ति में सहभागी होते है।''

श्रीमती इरावती कर्वे - ''एक संयुक्त-परिवार सामान्यतः एक ही छत के नीचे रहने वाले ऐसे लोगों का समूह है जो कि एक ही चूल्हे पर (सामान्य रसोई में) बना खाना खाते हैं, जिनकी सम्मिलित सम्पत्ति होती है जो सम्मिलित रूप से पूजा-अर्चना करते हैं जो एक-दूसरे के साथ रक्त सम्बन्धों से सम्बन्धित रहते हैं।''

डा. एस.सी.दुबे ने संयुक्त-परिवार को परिभाषित करते हुए कहा है कि - ''यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हैं, उनमें निकट का नाता है, एक ही स्थान पर भोजन करते हैं, एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।''

संयुक्त परिवार की विशेषताएँ

संयुक्त परिवार की विशेषताओं को हम निम्नानुसार प्रस्तुत कर सकते हैं-

1. बड़ा आकार - रक्त से परस्पर सम्बन्धित एकाकी परिवारों का संकलन होने के कारण संयुक्त-परिवार का आकार एकाकी परिवारों की तुलना में पर्याप्त रूप में बड़ा होता है।

2. सामान्य निवास - यदि रक्त से सम्बन्धित दो या दो से अधिक एकाकी परिवार एक साथ न रह कर अलग-अलग मकानों में रहते हों तब मकानों के ऐसे संकलन अथवा पृथक-पृथक रहने वाली ऐसी गृहस्थियों के संकलन को संयुक्त परिवार नहीं कहा जाएगा। वर्तमान में इसमें भी परिवर्तन हुआ है। आज यद्यपि संयुक्त-परिवार के सदस्य एक ही मकान में रहते हैं परन्तु इस परिवार में सम्मिलित एकाकी परिवारों के निजी उपयोग के लिए प्रायः अलग-अलग कमरे दे दिये जाते हैं।

3. दो या दो से अधिक एकाकी परिवारों का संगठन - एक संयुक्त परिवार तभी अस्तित्व में आता है जबकि वह दो या दो से अधिक एकाकी परिवारों का संकलन हो। इसके साथ यह भी अनिवार्य है कि इन एकाकी परिवारों के पुरूष सदस्य रक्त सम्बन्धी हों, अर्थात् माता-पिता और उनसे उत्पन्न होने वाले पुत्र विवाहोपरान्त पीढ़ी दर पीढ़ी साथ रहकर संयुक्त-परिवार का निर्माण करते हैं।

4. समरूपता - संयुक्त परिवार के सभी सदस्यों का रहन-सहन, कार्य-पद्धतियाँ, रीति-रिवाज, प्रथाएँ आदि एक समान रहते हैं। इस प्रकार संयुक्त परिवार के सदस्यों का समान जीवन-स्तर और संस्कृति होती है।

5. सम्मिलित सम्पत्ति - संयुक्त परिवार के सदस्य अलग-अलग आय अर्जित करने के बावजूद अपनी आय स्वयं के पास न रखकर मुखिया के पास रखते हैं। मुखिया इस आय का उपयोग आय अर्जित करने वाले सदस्यों के लिए पृथक-पृथक न करके समान रूप से करता है। इस स्थिति में अब परिवर्तन हुआ है। संयुक्त परिवार के सदस्य अपनी सम्पूर्ण आय मुखिया के पास न देकर आय का निश्चित हिस्सा उसे देते हैं और शेष स्वयं रखते हैं। परिवार आवास सम्बन्धी आवश्यकता तो पूर्ण करता है परन्तु वस्त्र, शिक्षा, आवागमन, अतिथि-सत्कार आदि का खर्च संयुक्त परिवार में सम्मिलित एकाकी परिवार पृथक-पृथक रूप में करते हैं। अतीत में सम्पूर्ण आय सम्मिलित रहने

के कारण परिवार की सम्पत्ति में उत्तराधिकार भी सभी सदस्यों को समान रूप से प्राप्त रहता था। परिवार की सम्पत्ति में नवजात शिशु का उतना ही अधिकार होता था जितना कि एक वृद्ध का होता है।

6. सम्मिलित रसोई - संयुक्त परिवार में सम्मिलित सभी एकाकी परिवारों के लिए भोजन भी एक ही रसोईघर में एक साथ (सम्मिलित रूप से) बनता है और सभी सदस्य एक साथ भोजन करते हैं , विशेषकर पुरुष तथा बच्चे| अब परिवर्तित परिप्रेक्ष्य में भोजन तो सम्मिलित रूप से बनना है परन्तु उसे एक ही स्थान पर बैठकर खाना अनिवार्य नहीं रह गया है। संयुक्त परिवार में सम्मिलित एकाकी परिवारों का कोई सदस्य यदि चाहे तो अपने कमरे में खा सकता है, यदि ऐसा करने में संयुक्त परिवार के सदस्यों को कोई आपत्ति न हो तो।

7. सामाजिक सुरक्षा - संयुक्त परिवार अपने सभी सदस्यों की आयु, पद, सामाजिक स्थिति, आय, शारीरिक स्वास्थ्य आदि को दृष्टिगत न रखकर समान रूप में सुरक्षा प्रदान करता है। परिवार के किसी सदस्य के बेरोजगार, अस्वस्थ, अपंग, विधवा, विधुर अथवा वृद्ध होने पर देखभाल का दायित्व अन्य सदस्यों पर रहता है। इस प्रकार संयुक्त परिवार में सभी सदस्यों को सामाजिक सुरक्षा प्राप्त रहती है।

8. सहयोग की भावना - सहयोग संयुक्त परिवार का आधार है। सहयोग न होने पर संयुक्त परिवार का विघटन अवश्यम्भावी हो जाता है।

9. सामान्य धार्मिक आस्थाएँ और अराधना - एक संयुक्त परिवार के सभी सदस्य एक ही धर्म के अनुयायी तथा समान देवी-देवता में आस्था रखते हैं। पर्व, संस्कार और धार्मिक आयोजन भी एक साथ सम्मिलित होते हैं। अब यद्यपि संयुक्त परिवार के सदस्य समान धर्मानुयायी होते हैं तथापि सबकी एक ही देवी-देवता, अथवा धर्म गुरूओं में आस्था होना अनिवार्य नहीं है। इसी प्रकार परिवार में सम्पन्न धार्मिक आयोजनों में भी सभी सदस्यों को समान निष्ठा रखना अनिवार्य नहीं रह गया है।

संयुक्त परिवार के लाभ अथवा प्रकार्य

आदिकाल से भारत में संयुक्त परिवार अनेक महत्वपूर्ण कार्य यथा सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक , शैक्षणिक आदि करते आ रहे हैं। यह समाज में एकता, संगठन आदि बनाए रखने का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं संयुक्त परिवार के निम्नलिखित कुछ महत्वपूर्ण कार्य हैं-

1. संस्कृति की रक्षा - संयुक्त परिवार सदियों से संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करता आ रहा है। वृद्ध लोग नई पीढ़ी को कथाओं, कहानियों, उत्सव, त्यौहार, गीत आदि के द्वारा संस्कृति की शिक्षा देते हैं समाजीकरण के द्वारा प्रथाओं, रूढ़ियों तथा परम्पराओं को हस्तान्तरित करने का कार्य परिवार करता आ रहा है। संयुक्त परिवार संस्कृति की सुरक्षा तथा हस्तान्तरण का काम करता है।

2. समाजीकरण - समाज के अस्तित्व के लिए नए सदस्यों का जन्म, पालन-पोषण तथा समाजीकरण का कार्य अत्यावश्यक है। भारतीय समाज में संयुक्त परिवार यह कार्य सदियों से करता आ रहा है। संयुक्त परिवार में बच्चा सामाजिक मूल्यों, व्यवहार करने के तरीके आदि सीखता है। संयुक्त परिवार बच्चे को समाज के उपयोगी सदस्य के रूप में समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा तैयार करता है।

3. सामाजिक तथा आर्थिक सुरक्षा - संयुक्त परिवार अपने सदस्यों को सामाजिक तथा आर्थिक सुरक्षा प्रदान करता है। परिवार की सामान्य सम्पत्ति तथा सामूहिक आय एक स्थान पर मुखिया के पास एकत्र होती है। मुखिया संयुक्त परिवार के प्रत्येक सदस्य की आवश्यकता को उस संयुक्त आय के अनुसार पूरी करने की व्यवस्था करता है। विधवा, वृद्धजन, अनाथ, परित्यक्ताओं, अपाहिज, बेरोजगार आदि को संयुक्त परिवार में उचित भोजन, वस्त्र तथा

आवास की सुविधा प्रदान की जाती है। सदस्य परस्पर एक दूसरे की संकटकाल में सहायता करते है समाज की परम्परा भी ऐसी है कि वह परिवार के सदस्यों को सहायता और सुरक्षा प्रदान करने के लिए बाध्य भी करती है।

4. सम्पत्ति के विभाजन से बचाव - संयुक्त परिवार में सम्पत्ति सभी की समान होती है। विशेष रूप से खेतों का भी खण्डों तथा उपखण्डों में विभाजन तथा बंटवारा नहीं होता है| खेतो का आकार बड़ा बना रहता है उससे उनमें खेती अच्छी होती है। सम्पत्ति सामूहिक होने से समाज में परिवार की आर्थिक स्थिति तथा सामाजिक प्रस्थिति अच्छी बनी रहती है।

संयुक्त परिवार के दोष अथवा सीमाएँ

संयुक्त परिवार में वर्तमान में दिखाई देने वाले कुछ दोष या सीमाएं निम्न हैं-

1. नियन्त्रण की समस्या - संयुक्त परिवार का आकार बड़ा होने के कारण सभी सदस्यों पर पूर्ण नियन्त्रण रखना कठिन होता है।

2. उत्तराधिकारी सम्बन्धी समस्याएँ - संयुक्त परिवार में प्रायः सम्पत्ति पर अधिकार और हिस्से को लेकर सदस्यों के बीच तनाव व कलह पाई जाती है। इससे संयुक्त परिवार का न केवल विघटन होता है बल्कि अनेक बार सदस्यों के मध्य संघर्ष भी होता है।

3. सदस्यों की भावनाओं और अपेक्षाओं की उपेक्षा - संयुक्त परिवार का मुखिया परिवार के सभी सदस्यों के साथ समानता का व्यवहार करता है। परिवार की सभी स्त्रियों, सभी पुरूषों और सभी बच्चों का मानसिक स्तर, मनोवृत्तियाँ, भावनाएँ, इच्छाएं और आवश्यकताएं एक समान नहीं हो सकती हैं ; संयुक्त परिवार में इस तथ्य को ध्यान में न रखकर सबके साथ समान व्यवहार किया जाता है। इस कारण सदस्यों में असन्तोष उत्पन्न होता है। यह असन्तोष मानसिक तनाव उत्पन्न कर उनके पारस्परिक व्यवहारों को प्रभावित करता है।

4. पति, पत्नी और बच्चों में सहज सम्बन्धों का अभाव - संयुक्त परिवार की मर्यादा के अनुसार बड़ों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने की भावना, परिवार के सभी सदस्यों की देखभाल सम्बन्धी बड़ों के अधिकार, संयुक्त परिवार में स्थान की कमी के कारण पति-पत्नी को एकान्त न मिल पाना आदि के कारण पति-पत्नी और बच्चों के बीच सहज सम्बन्धों में बाधा उत्पन्न होती है। इस कारण प्रायः तनाव, संघर्ष और पारिवारिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है।

5. स्त्रियों में कार्य का असमान वितरण - संयुक्त परिवार में प्रायः वरिष्ठ बहुओं को कम तथा कनिष्ठ बहुओं को अधिक कार्य करना पड़ता है। मुखिया की स्त्री तथा परिवार की लड़कियाँ प्रायः कम ही कार्य करती है। यह स्थिति परिवार में संघर्ष उत्पन्न करती है।

6. मूलभूत स्वतन्त्रताओं का अभाव - व्यक्ति प्रायः आवागमन, व्यवसाय, सामाजिक सम्पर्क, सुख-सुविधा, निजी सम्पत्ति का संग्रह, अपने बच्चों और पत्नी की देखभाल आदि सम्बन्धी स्वतन्त्रताएं चाहता है इस स्वतन्त्रता का संयुक्त परिवार में अभाव रहता है जिससे कुण्ठाएं, तनाव और संघर्ष पाया जाता है।

7. स्त्रियों में असन्तोष - प्रत्येक स्त्री चाहती है कि उसकी अपनी स्वतन्त्र गृहस्थी हो, जिसकी वह स्वामिनी हो, जिसे वह अपनी इच्छा से चला सके, जहाँ वह अपने बच्चों और पति की स्वतन्त्रतापूर्वक देखभाल कर सके। स्त्रियों की इस नैसर्गिक अकांक्षा की पूर्ति संयुक्त परिवार में नहीं हो पाती जिससे वे तनावग्रस्त होती हैं।

8. रूढ़िवादिता - संयुक्त परिवार में परम्पराओं, प्रथाओं, मर्यादाओं, पारम्परिक व्यवसाय, जातीय नियमों, कर्मकाण्डों के प्रति आस्था आदि अधिक पाई जाती है कि संयुक्त परिवार के युवा पीढ़ी के सदस्य इसे पसन्द नहीं करते है अतः परिवार में कलह होता है।

9. गतिशीलता में बाधक - व्यक्ति संयुक्त परिवार के लिए जीवन जीता है, परिवार छोड़कर बाहर जाने की बात वह सोच भी नहीं सकता है। संयुक्त परिवार में व्यक्ति का अलग से कोई अस्तित्व नहीं होता है। वह परिवार के द्वारा तथा परिवार के लिए होता है। इस प्रकार संयुक्त परिवार के आदर्श, मूल्य, मान्यताएं आदि व्यक्ति की गतिशीलता में बाधक का कार्य करते हैं।

12.6 परिवार का वर्गीकरण

मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ परिवार के स्वरूप बदलते रहे। सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक इत्यादि कारकों ने विभिन्न प्रकार के परिवार को जन्म दिया परिवारों का वर्गीकरण कई प्रकार के आधारों पर किया गया है जो कि निम्न है:

1. सदस्य संख्या के आधार पर

(क) एकाकी परिवार

औद्योगीकीकरण और नगरीकरणों के फलस्वरूप इस प्रकार के परिवारों की संख्या निरन्तर बढ़ रही है। यह परिवार का सबसे छोटा स्वरूप है, जिसके अन्तर्गत पति-पत्नी तथा उनके अविवाहित बच्चे शामिल होते है।

(ख) संयुक्त परिवार

संयुक्त परिवार में पति-पत्नी उनके विवाहित बच्चे तथा उनके भी बच्चे |इस प्रकार तीन पीढ़ी के लोग एक साथ रहते हैं| संयुक्त परिवार में सभी सदस्य एक ही रसोई का प्रयोग करते है। सम्पत्ति पर सामान्य अधिकार होता है। परिवार के सदस्य अपने अधिकार एवं दायित्व को पूरा करते हैं।

2. वंशनाम के आधार पर

(अ) पितृवंशीय परिवार-- ऐसे परिवारों में परिवार पिता के नाम पर चलते हैं पुत्रों को पिता का वंशनाम प्राप्त होता है। हिन्दू परिवारों में पितृवंशीय परिवार होते है।

(ब) मातृवंशीय परिवार-- ऐसे परिवारों में वंश परम्परा माता के नाम से चलती है। माता के नाम से पुत्रियों को जाना जाता है।

3. सत्ता के आधार पर

(अ) पितृसत्तात्मक परिवार- ऐसे परिवारों में सत्ता एवं अधिकार पिता के हाथ में होती हैं| पुरुष ही परिवार का नियंत्रण एवं संचालन करते है।

(ब) मातृसत्तात्मक परिवार- ऐसे परिवारों में सत्ता एवं अधिकार माता के हाथ में होती है। माता के द्वारा ही परिवार का नियंत्रण एवं संचालन होता है।

4. विवाह के आधार पर

(अ) एक विवाही परिवार- इस प्रकार के परिवार में एक स्त्री तथा एक पुरुष आपस में विवाह करते है।

(ब) बहुपत्नीक परिवार- ऐसे परिवारों में एक पुरुष कई स्त्रियों से विवाह करता है।

(स) बहुपति परिवार- ऐसे परिवारों में एक स्त्री कई पुरुषों से विवाह करती है।

12.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई में परिवार की अवधारणा तथा अर्थ को समझा गया । परिवार के कार्यों के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। परिवार में होने वाले आधुनिक परिवर्तन का अध्ययन किया। तत्पश्चात् परिवार का वर्गीकरण के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। अंत में परिवार के प्रकार का अध्ययन किया।

12.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. परिवार के अर्थ एवं परिभाषा को समझाइए। परिवार के महत्व की व्याख्या कीजिए।
2. परिवार के आकार का वर्णन कीजिए। परिवार के कार्यों पर प्रकाश डालिए।
3. परिवार के वर्गीकरण का वर्णन कीजिए।
4. परिवार में होने वाले आधुनिक परिवर्तनों की विवेचना कीजिए।

12.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. लवानिया, एम.एम. एवं राठौड़, ए.एस. (1999) भारतीय समाज, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
2. लवानिया, एम.एम. एवं पडियार, जी. (2010) भारत में सामाजिक समस्यायें, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
3. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा
4. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।
5. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा
6. गुप्ता, एम. एल. एवं शर्मा डी.डी., मानव समाज, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2001।
7. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।
8. आहूजा, राम, सामाजिक समस्याऐं, रावत पब्लिकेशन्स, द्वितीय संस्करण, जयपुर एवं नई दिल्ली, 2000।
9. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
10. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर
11. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटस

इकाई -13

विवाह :अर्थ एवं प्रकार

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 विवाह

13.2.1 विवाह का अर्थ एवं परिभाषा

13.3 विवाह के उद्देश्य

13.4 विवाह के प्रकार

13.5 हिन्दू विवाह के स्वरूप (विधियाँ)

13.6 हिन्दू विवाह के नियम

13.7 मुसलमानों में विवाह

13.8 ईसाइयों में विवाह

13.9 विवाह में होने वाले आधुनिक परिवर्तन

13.10 विवाह का महत्व

13.11 सारांश

13.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

13.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

13.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप –

1. विवाह के अर्थ एवं परिभाषा का अध्ययन कर सकेंगे।
2. विवाह के प्रकार, विवाह के उद्देश्य तथा विवाह के महत्व को समझ सकेंगे।
3. विवाह में होने वाले आधुनिक परिवर्तन, हिन्दू विवाह के स्वरूप तथा हिन्दू विवाह के नियमों का अध्ययन कर सकेंगे।
4. मुस्लिम विवाह तथा ईसाईयों के विवाह की अवधारणा को समझ सकेंगे। ईसाई विवाह में आये आधुनिक परिवर्तन का अध्ययन कर सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में विवाह पर चर्चा की गई है। विवाह संस्था का सम्बन्ध एक विशेष सामाजिक स्वीकृति से है जो साधारणतया कानूनी तथा धार्मिक दोनों रूप में होती है और जो विषम लिंग के व्यक्तियों को यौनिक सम्बंध को स्थापित करने और उनसे सम्बन्धित सामाजिक तथा आर्थिक सम्बन्धों का उन्हें अधिकार देती है। इसके अतिरिक्त विवाह एक पुरूष का एक स्त्री के साथ होने वाला वह सम्बंध है जिसे प्रथा या कानून स्वीकार करता है और जिसमें इस संगठन में आने वाले दोनों पक्षों एवं उनसे उत्पन्न बच्चों के अधिकार एवं कर्तव्यों का समावेश होता है।

13.2 विवाह

सामाजिक संस्थाओं में विवाह एक महत्वपूर्ण एवं प्राचीन संस्था है। जिसके अभाव में मानव सभ्यता का आस्तित्व सम्भव नहीं है। यौन इच्छा की संतुष्टि, शारीरिक एवं मानसिक विकास के लिए आवश्यक होती है। स्त्री-पुरूष दोनों के लिए यौन सन्तुष्टि मौलिक आवश्यकता है। यही कारण है कि दोनों एक-दूसरे को जीवन साथी के रूप में चुनते हैं और समाज में इस मैत्री को विवाह के नाम से जाना जाता है।

13.2.1 विवाह का अर्थ एवं परिभाषा

मनु विवाह को यौन सम्बन्धों के नियन्त्रण एवं शारीरिक सुख के लिए आवश्यक मानते है। विवाह के द्वारा यौन सन्तुष्टि के अलावा सन्तानोपत्ति, संस्कृति का हस्तान्तरण इत्यादि कार्य होते हैं, जो समाज के लिए आवश्यक है। विद्वानों ने विवाह संस्था को अनेक प्रकार से परिभाषित किया है। इससे सम्बन्धित परिभाषायें निम्न हैः

गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, ''विवाह सन्तानोपत्ति के लिए परिवार को निर्मित करने का एक सामाजिक मान्यता प्राप्त तरीका है।''

हावेल के अनुसार, ''विवाह सामाजिक आदर्श नियमों की एक समग्रता है। जो विवाहित व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को उनके रक्त सम्बन्धियों और अन्य नातेदारों के प्रति परिभाषित करती हैं और उन पर नियन्त्रण रखती हैं।''

बोगार्डस के अनुसार, ''विवाह स्त्री और पुरूष के पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की एक संस्था है।''

वेस्टरमार्क के अनुसार, ''विवाह नर और नारी के बीच न्यूनाधिक स्थायी सम्बन्ध है जो प्रजनन की क्रिया से परे बच्चों के जन्म के बाद भी बना रहता है |''

लुंडबर्ग के अनुसार , ''विवाह वे नियम एवं विनिमय हैं जो पति –पत्नी के एक –दूसरे के प्रति अधिकारों ,कर्तव्यों एवं विशेषाधिकारों का वर्णन करते हैं |''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है। कि विवाहों में दो विषम-लिंगियों के बीच होने वाले यौन सम्बन्धों को सामाजिक एवं वैधानिक स्वीकृति होती है। इन सम्बन्धों के परिणामस्वरूप स्त्री-पुरुष में पारस्परिक कर्तव्यों और अधिकारों का सृजन एवं समन्वय होता है।

13.3 विवाह के उद्देश्य

व समाज के धार्मिक एवं सामाजिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिए विवाह की आवश्यकता को स्वीकार किया गया है।

1. यौन इच्छाओं की सन्तुष्टि

समाज में यौन इच्छाओं या व्यवहारों को नियन्त्रित करने के लिए विवाह एक उपर्युक्त एवं सर्वोत्तम तरीका है। विवाह के माध्यम से होने वाले यौन सम्बन्धों में पवित्रता रहती है तथा यौन व्यवहारों को नियन्त्रित किया जा सकता है।

2. परिवार की सम्पूर्णता

विवाह के द्वारा ही एक परिवार में सम्पूर्णता आती है तथा व्यक्ति अपनी पारिवारिक जिम्मेदारी एवं दायित्वों को समझता है। तथा अपनी नैतिक एवं सामाजिक कर्तव्यों को पूरा करने का प्रयास करता है। यह सब विवाह के द्वारा ही सम्भव है क्योंकि विवाह व्यक्ति को जीवन के समस्त अनुभवों से परिचित कराता है।

3. सन्तानोपत्ति

विवाह के द्वारा व्यक्ति सन्तानों की उत्पत्ति करता है। जिससे वंश आगे चलता है। मृत व्यक्तियों के द्वारा रिक्त किये गये स्थान को सन्तानों की उत्पत्ति के द्वारा ही भरा जा सकता है। संस्कृति, सभ्यता की निरन्तरता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक कि सन्तानोपत्ति हो और यह विवाह के द्वारा ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त बच्चों का पालन-पोषण उनकी शिक्षा-दीक्षा का कार्य भी परिवार के द्वारा होती है। परिवार में इस कार्य की जिम्मेदारी माता-पिता की होती है।

4. व्यक्तित्व में परिवर्तन

विवाह के पश्चात् स्त्री और पुरुष दोनों के ही व्यक्तित्व में परिवर्तन आता है। क्योंकि विवाह के पूर्व दोनों के जीवन में स्वतंत्रता होती हैं अपनी मर्जी से जीवन जीते है। परन्तु विवाह के पश्चात् पति-पत्नी नये जीवन में प्रवेश करते हैं। दोनों को नयी-नयी जिम्म्मेदारियाँ एवं पद प्राप्त होते है। जिनके अनुसार वे अपने आप को ढालते है। इस प्रकार व्यक्तित्व परिवर्तन सकारात्मक और ऊर्जा से भरा होता है।

5. संस्कृति का पीढी दर पीढी हस्तान्तरण

विवाह के द्वारा पीढीयों का विकास होता है। पीढीयों के निरन्तर विकास के द्वारा संस्कृति का हस्तान्तरण भी होता हैं जिससे सांस्कृतिक विरासत सुरक्षित रूप में एक पीढी से दुसरी पीढ़ी में पहुँचती रहती है। संस्कृति के हस्तान्तरण में ज्ञान, प्रथायें , रीति-रिवाज इत्यादि हस्तान्तरित होते है।

13.4 विवाह के प्रकार

समाज में भौगोलिक दशाओं , सांस्कृति एवं सामाजिक भिन्नताओं, तथा मानव सभ्यता के विकास के मार्ग में विवाह के विभिन्न स्वरूप अस्तित्व में आये हैं। विवाह के विभिन्न प्रकार निम्नलिखित हैं:

1. एक विवाह

विवाह का यह स्वरूप बहुत ही महत्व रखता है। इस विवाह में एक पुरुष एक स्त्री के साथ या एक स्त्री एक पुरुष के साथ ही विवाह कर सकती है। बुकेनोविक के अनुसार, ''उस विवाह को एक विवाह कहना चाहिए जिसमें व्यक्ति का सिर्फ एक ही जीवन साथी होना चाहिए।'' दोनों में से किसी की मृत्यु हो जाये फिर भी दुसरा साथी अन्य विवाह

नहीं कर सकता है। मेलिनोवेस्की ने "एक विवाह को ही विवाह का आदि रूप माना है। एक विवाह ,विवाह का सच्चा स्वरूप है"| सामाजिक सभ्यता के विकास तथा सामाजिक चेतना के फलस्वरूप एक विवाह का प्रचलन बढ़ता जा रहा है।

2. बहु विवाह

विवाह की इस व्यवस्था में एक से अधिक पुरुष और स्त्रियां विवाह बन्धन में बंधती है। तो इस प्रकार के विवाह को बहु-विवाह कहते है। बहु प्रकार के स्वरूप पाये जाते हैं। जिनका विवरण निम्नलिखित है:

(क) बहुपति विवाह

जब कई पुरुषों की एक ही पत्नी होती है या एक स्त्री के एक से अधिक पति होते है। तो इस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्ध को बहुपति विवाह कहते है। कई समाज में इसका प्रचलन है विशेषकर जहाँ पर पुरूषों के अनुपात में स्त्रियों की संख्या कम है या जहाँ व्यक्ति बहुत ही गरीब है। बहुपति विवाह के भी दो स्वरूप पाये जाते है।

भ्रातक बहुपति विवाह

इस प्रकार के विवाह में कई भाई मिलकर एक स्त्री से विवाह करते है या बड़ा भाई एक स्त्री से विवाह करता है और उसके अन्य भाई स्वतः ही उस स्त्री के पति माने जाते हैं। इसके साथ-साथ यदि स्त्री के कोई सन्तान न हो तो उस स्त्री की बहन को पत्नी बना लिया जाता है और सभी भाई उसके पति माने जाते हैं और होने वाली सन्तानों के सभी भाई पिता माने जाते हैं। परन्तु सामाजिक रूप से पितृत्व बड़े भाई को मिलता है या प्रभावशाली एवं प्रसिद्ध भाई ही सामाजिक रूप से पिता की भूमिका निभाता है|

अभ्रातक बहुपति विवाह

विवाह को इस परम्परा मे भी एक स्त्री के अनेक पति होते है। किन्तु वे आपस में भाई नहीं होते है। वे अलग-अलग स्थानों के होते है। पत्नी समान अवधि के लिए प्रत्येक पति के साथ रहती है।

(ख) बहु पत्नी विवाह

बहुपत्नी विवाह बहुविवाह का ही एक स्वरूप है। इस प्रकार के विवाह में एक पुरुष एक से अधिक महिलाओं से विवाह करता है। भारत में यह परम्परा काफी प्राचीन समय से चली आ रही है तथा वर्तमान समय में भी प्रचलन में है। इस प्रकार के विवाह में भी दो स्वरूप देखने को मिलते है। जब पत्नी की मृत्यु हो जाती है, तो पुरुष दूसरा विवाह करता है। दूसरे स्वरूप में सन्तान के अभाव में या विलासिता के फलस्वरूप पुरुष एक से अधिक महिलाओं से विवाह करता है।

3. समूह विवाह

विवाह के इस स्वरूप में पुरुषों का एक समूह मिलकर महिलाओं के एक समूह से विवाह करते थे। इस प्रकार के विवाह में समूह के सभी पुरुषों को स्त्री समूह की सभी महिलाओं के साथ यौन सम्बन्ध बनाने की स्वतंत्रता होती है । विवाह की यह प्रथा आस्ट्रेलिया की जनजातियों में पायी जाती है, परन्तु इस प्रकार के विवाह आधुनिक सभ्यता में नहीं है।

13.5 हिन्दू विवाह के स्वरूप (विधियाँ)

विवाह के स्वरूप से हमारा तात्पर्य विवाह बन्धन में बंधने की विभिन्न विधियों से है। मनु स्मृति, ग्रह्य सूत्रों तथा धर्म सूत्रों में भी इनका उल्लेख मिलता है। मुख्य रूप से आठ विधियाँ हैं

1. ब्राह्म विवाह

ब्राह्म विवाह सभी प्रकार के विवाहों में श्रेष्ठ माना गया है। मनु के अनुसार ''वेदों के ज्ञाता शीलवान वर को स्वयं बुलाकर वस्त्र एवं आभूषण आदि से सुसज्जित कर पूजा एवं धार्मिक विधि से कन्या दान करना ही ब्राह्म विवाह है।'' याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्राह्म विवाह उसको कहते हैं जिसमें वर को बुलाकर अपनी शक्ति के अनुसार अलंकारों से अलंकृत कर कन्या दान कर दिया जाता है। ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करने वाला होता है।

2. दैव विवाह

मनुस्मृति में लिखा है ''सद्कर्म में लगे पुरोहित को जब वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत कन्या दी जाती है तो इसे दैव विवाह कहते हैं।'' प्राचीनकाल में यज्ञ और अनुष्ठानों का अत्यधिक महत्व था तथा जो ऋषि या पुरोहित इन पवित्र धार्मिक कार्यों को सम्पन्न कराता था यजमान उससे अपनी कन्या का विवाह कर देता था। देव विवाह वैदिक यज्ञों के साथ-साथ लुप्त हो गए।

3. आर्ष विवाह

मनु के अनुसार इस प्रकार के विवाहों में वर अपने श्वसुर को एक गाय और एक बैल अथवा इनके दो जोड़े देता था और पत्नी प्राप्त करता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार जब दो गाय लेकर कन्यादान किया जाये तो उसे आर्ष विवाह कहते हैं। जब कोई ऋषि किसी कन्या के पिता को गाय और बैल भेंट के रूप में देता था तो यह समझ लिया जाता था कि अब उसने विवाह करने का निश्चय कर लिया है। वर्तमान में इसका प्रचलन नहीं है।

4. प्रजापत्य विवाह

प्रजापत्य विवाह वह विवाह है जिसमें कन्या का पिता वर को कन्यादान करते हुए कहता है ''तुम दोनों एक साथ मिलकर आजीवन धर्म का आचरण करो।'' इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न सन्तान अपने वंश की बारह पीढ़ियों को पवित्र करती है। ऐसा याज्ञवल्क्य का मानना है।

5. असुर विवाह

मनु के अनुसार ''कन्या के परिवार वालों एवं कन्या को अपनी शक्ति के अनुसार धन देकर अपनी इच्छा से कन्या को ग्रहण करना असुर विवाह कहा जाता है।'' कन्या मूल्य देकर सम्पन्न सभी विवाह असुर विवाह की श्रेणी में आते हैं।

6. गन्धर्व विवाह

मनु के अनुसार ''कन्या और वर की इच्छा से पारस्परिक प्रेम द्वारा काम और मैथुन भावों से जो विवाह किया जाए उसे गन्धर्व विवाह कहते हैं।'' याज्ञवल्क्य के अनुसार ''प्रेम द्वारा होने वाले विवाह को गन्धर्व विवाह कहते हैं।'' आधुनिक समय में इसे प्रेम-विवाह कहते हैं। यह वर और वधु की स्वतंत्र इच्छा पर आधारित है।

7. राक्षस विवाह

मनु के अनुसार युद्ध में स्त्री का हरण करके उससे विवाह किया जाता है तो वह विवाह राक्षस विवाह कहलाता है। विभिन्न समाजों में प्राचीनकाल में युद्ध अधिक हुआ करते थे तथा स्त्री के पुरस्कार माना जाता था। महाभारत काल में ऐसे विवाहों के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

8. पैशाच विवाह

मनु ने पैशाच विवाह की निम्न व्याख्या की है ''सोई हुई, उन्मुक्त, घबराई हुई, मदिरा पान की हुई या राह में जाती हुई लड़की के साथ बलपूर्वक कुकृत्य करने के बाद उससे विवाह करना पैशाच विवाह है। किन्तु इस प्रकार के विवाह को लड़की का दोष न होने के कारण तथा कौमार्य भंग हो जाने के बाद उसे सामाजिक बहिष्कार से बचाने एवं उसका सामाजिक सम्मान बनाये रखने के लिये ही स्वीकृति प्रदान की गई है।''

मजूमदार कहते है कि उपयुक्त आठ प्रकार के विवाह में ब्राह्म विवाह सर्वोत्तम दैव और प्रजापतय का मध्यम, आर्ष, असुर और गन्धर्व को निकृष्ट तथा राक्षस और पैशाच विवाह को महाभ्रष्ट विवाह माना गया है।

13.6 हिन्दू विवाह के नियम

हिन्दू विवाह एक ऐसी सामाजिक संस्था है जिसमें अनेक निषेध के अधीन जीवन-साथी का चुनाव किया जाता है। हिन्दू समाज में विवाह सम्बन्धी चार नियम हैं।

1. अन्तर्विवाह

इसके अन्तर्गत एक व्यक्ति अपने समूह में ही विवाह करता है। वैदिक और उत्तर वैदिक काल में द्विज जातियों का एक वर्ण था और यह लोग अपने वर्ण में विवाह करते थे। किन्तु जब एक वर्ण कई जातियो और उपजातियों में विभक्त हुआ तो विवाह का दायरा सीमित हो गया। लोग अपनी ही जातियों या उपजातियों में विवाह करने लगे जिसे अन्तर्विवाह कहते हैं।

अन्तर्विवाह के कई कारण थे जिसमें प्रमुख है- बौद्ध और जैन धर्म मानने वालों का विभेद और अधिक हो गया और अतर्विवाह के द्वारा अपने-अपने को पृथक् रखने का प्रयत्न किया गया। इसके अतिरिक्त प्रजाति मिश्रण पर रोक सांस्कृतिक भिन्नता को बनाये रखना, जन्म का महत्व, उपजातियों का केन्द्रीकरण व्यावसायिक ज्ञान की सुरक्षा, बाल विवाह का प्रचलन आदि।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त व्यक्ति का अपनी ही जाति के प्रति लगाव, जाति से बहिष्कृत किये जाने का डर तथा जाति पंचायत एवं ग्राम पंचायत द्वारा जातीय नियमों का कठोरता से लागू करना आदि के कारण अन्तर्विवाह के नियमों का पालन बढ़ता गया।

वर्तमान में नगरीकरण, औद्योगीकरण, यातायात एवं संचारवाहन के साधनो के विकास के कारण अन्तर्विवाह के नियम शिथिल होते जा रहे हैं।

2. बहिर्विवाह

बहिर्विवाह से तात्पर्य है कि एक व्यक्ति जिस समूह का सदस्य है उससे बाहर विवाह करे। हिन्दुओं में बहिर्विवाह के नियमों के अनुसार एक व्यक्ति को अपने परिवार,ग्राम , गोत्र, प्रवर, पिण्ड, के कुछ समूहों से बाहर विवाह करना चाहिए।

हिन्दुओं में बहिर्विवाह के निम्नलिखित प्रकार प्रचलित हैं-

(i) गोत्र बहिर्विवाह

(ii) प्रवर बहिर्विवाह

(iii) सपिण्ड बहिर्विवाह

(i) गोत्र बहिर्विवाह

हिन्दुओं में सगोत्र विवाह निषेध है। गोत्र का सामान्य अर्थ उन व्यक्तियों के समूह से है जिनकी उत्पत्ति एक ही ऋषि पूर्वज से हुई हो। गोत्र शब्द के तीन या चार अर्थ हैं जैसे गौशाला, गायों का समूह, किला तथा पर्वत आदि। इस प्रकार एक घेरे या स्थान पर रहने वाले लोगों में परस्पर विवाह वर्जित था।

स्मृतिकारों ने सगोत्र विवाह करने वालों के लिये अनेक दण्ड, प्रायश्चित एवं जाति से बहिष्कृत करने की व्यवस्था की है। हिन्दू विवाह अधिनियम द्वारा वर्तमान में सगोत्र विवाह से प्रतिबन्ध हटा दिये गए हैं किन्तु व्यवहार में आज भी इसका प्रचचलन है।

(ii) सप्रवर बहिर्विवाह

'प्रवर' का शाब्दिक अर्थ है आह्वान करना |पी. एन. प्रभु का मत है कि प्राचीन समय में अग्नि और हवन का प्रचलन था। हवन करने के लिये अग्नि प्रज्वलित करते समय पुरोहित अपने ऋषि पूर्वजों का नामोच्चारण करते थे। इस प्रकार समान पूर्वज के नाम का उच्चारण करने वाले व्यक्ति अपने को एक प्रवर का सम्बन्धी मानते हैं अतः वह परस्पर विवाह नहीं कर सकते।

हिन्दू विवाह अधिनियमों द्वारा अप्रवर विवाह सम्बन्धी निषेधों को समाप्त कर दिया गया है।

(iii) सपिण्ड बहिर्विवाह

हिन्दुओं में सपिण्ड विवाह निषेध है। सपिण्ड का अर्थ-समान पिण्ड या देह वाला। पिण्ड का अर्थ सामान्य पूर्वज से भी लगाया जाता है | मिताक्षरा व कर्वे के अनुसार सपिण्ड का अर्थ है मृत व्यक्ति को पिण्डदान देने वाले सभी सदस्य सपिण्ड हैं अथवा मृत व्यक्ति के रक्त-कण से सम्बन्धित आदि सपिण्ड है। पिता-पुत्र, दादा-पोता, माता-पुत्र, नानी-दोहता आदि सपिण्ड सम्बन्धी हैं। एक निश्चित पीढ़ी तक के सदस्य सपिण्ड कहलाते हैं। निकट सम्बन्धियों तथा सपिण्ड सम्बन्धियों में विवाह निषेध रहे हैं। वशिष्ट के अनुसार पिता की ओर से सात तथा माता की ओर से पाँच पीढ़ियों तक के सम्बन्धियों में विवाह करना वर्जित था। अगर कोई सपिण्ड विवाह करता है तो गौतम के अनुसार उसे जाति से निकाल देना चाहिये। दायभाग का अनुसार पिण्ड चावल के उन गोलों को कहते हैं जो श्राद्ध के समय पितरों को अर्पित किये जाते हैं |

3. अनुलोम विवाह

अगर वर, वधू से उच्च सामाजिक श्रेणी, वर्ण, जाति, वर्ग अथवा कुल का है तो ऐसा विवाह अनुलोम विवाह या कुलीन विवाह कहलाता है। इसमें वर उच्च सामाजिक स्थिति का होता है तथा वधू निम्न सामाजिक स्थिति की होती है।

अनुलोम विवाह के अनेक प्रभाव हिन्दू समाज में देखने को मिलते हैं जैसे उच्च कुलों में लड़कों की कमी, निम्न कुलों में लड़कियों की कमी, वर मूल्य प्रथा, बेमेल और बाल- विवाह, बहु विवाह का प्रचलन तथा सामाजिक बुराईयाँ जैसे विलम्ब विवाह, विधवाओं का बढ़ना आदि।

4. प्रतिलोम विवाह

अनुलोम का विपरीत रूप प्रतिलोम विवाह है। इस प्रकार के विवाह में लड़की उच्च वर्ण, जाति, उपजाति, कुल या वंश की होती है लड़का निम्न वर्ण या जाति का होता है। स्मृतिकारों ने इस प्रकार के विवाह की कटु आलोचना की है। ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तान को 'चण्डाल' कहा जाता था।

13.7 मुसलमानों में विवाह

मुस्लिम विवाह जिसे निकाह कहते हैं। इसका शाब्दिक अर्थ नर-नारी का विषयी समागम है। हिन्दुओं में विवाह को धार्मिक संस्कार माना है परन्तु इसके विरीत मुसलमानों में इसे एक नागरिक संविदा माना है। इसके प्रमुख उद्देश्य हैं: यौन संबंध, सन्तानोपत्ति करना, परिवार को चलाना, बच्चों का पालन-पोषण करना, घरेलू जीवन को व्यवस्थित करना |

आमिर अली के अनुसार ''मुस्लिम विवाह एक कानूनी संविदा है जिसके लिए न तो किसी मुल्ला (पुरोहित) की आवश्यकता है न ही किसी धार्मिक कर्मकाण्ड की।'' एस.सी. सरकार भी मानते हैं कि मुस्लिम विवाह धार्मिक कर्तव्य नहीं है, यह प्रकार की निष्ठा या ईबादत है।

मुस्लिम विवाह की विशेषताएं-

1. प्रस्ताव और उसकी स्वीकृति
2. विवाह संविदा, करने की क्षमता
3. समानता का सिद्धांत
4. वरीयता प्रथा
5. मेहर

दूल्हे द्वारा मौलवी और दो गवाहों की उपस्थिति में दुल्हिन के सामने विवाह का प्रस्ताव रखा जाता है। विवाह को 'सही' मानने के लिये यह आवश्यक है कि प्रस्ताव और उसकी स्वीकृति एक ही बैठक में हो। ऐसा न होने पर यह विवाह फासिद (अनियमित) हो जाता है किन्तु बातिल (अवैध) नहीं है। फासिद विवाह सही में बदला जा सकता है बातिल नहीं।

निम्नलिनखित अवस्थाओं में विवाह शून्य या बातिल हो जाता है।

1. अगर कोई स्त्री पहले पति के रहते हुए दूसरा विवाह कर लेती है तो दूसरा विवाह रद्द हो जाता है। पहला विवाह बना रहता है।
2. निकट सम्बंधियों में विवाह निषेध है - माता, दादी, नानी, सास, पुत्र, सगी बहन, चाची, भाभी, दोहिती आदि।
3. मूर्तिपूजक से विवाह नहीं किया जाता।

4. तीर्थयात्रा के समय वैवाहिक सम्बंध स्थापित करना वर्जित है।

5. एक मुसलमान पुरूष चार पत्नियों के बाद पांचवीं स्त्री से विवाह नहीं कर सकता।

6. जब स्त्री इद्दत की अवधि में होती है तो उससे विवाह करना निषेध है। चार मासिक धर्मों के बीच की तीन माह की अवधि इद्दत कहलाती है। यह स्त्री के गर्भवती होने का पता लगाने के लिये किया जाता है।

7. पागल अथवा अल्पव्यस्क बिना संरक्षकों की अनुमति के विवाह करते हैं तो वह विवाह बातिल माना जाता है।

8. गर्भवती स्त्री को तलाक दिये जाने पर वह स्त्री बच्चे को जन्म देने के बाद ही पुनः विवाह कर सकती है।

शिया कानून अल्प वयस्क के वली को उसके विवाह का संविदा करने का अधिकार देता है। अल्प वयस्क के सम्बंधी ''फजूली द्वारा संविदा किया हुआ विवाह अल्प वयस्क को यौन अवस्था प्राप्त कर लेने के बाद विवाह को अनुसमर्थन करवा लेने का अधिकार देता है।

समानता के सिद्धांत का तात्पर्य है कि निम्न प्रस्थिति के व्यक्ति के साथ विवाह नहीं करना और न ही भाग कर विवाह करना। ऐसे विवाह को हेय दृष्टि से देखा जाता है।

वरीयता प्रथा का अर्थ है कि पहले तो समानान्तर सहोदरज संतति (चचेरे, मौसेरे) को वरीयता देना फिर विलिंग सहोदरज संतति (केवल ममेरा फुफेरा नहीं) को।

मेहर प्रथा का अर्थ है वह धन जो पत्नी विवाह के उपरान्त पति से लेने की अधिकारी होती है। मेहर निश्चित या उपयुक्त हो सकती है मेहर फौजी (पति की मृत्यु या तलाक के समय देय) या विभेदी हो सकती है।

13.8 ईसाइयों में विवाह

हिन्दू और मुसलमानों की तरह ईसाईयों में भी दो सम्प्रदाय हैं :

1. कैथेलिक

2. प्रोस्टेण्ट

हिन्दू और मुसलमानों की तरह ईसाईयों में भी विवाह का उद्देश्य यौन सम्बन्धों के लिये सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करना तथा प्रजनन है।

क्रिश्चियन बुलेटिन में ईसाई विवाह को परिभाषित किया गया है विवाह समाज में एक पुरूष तथा एक स्त्री के बीच एक समझौता है, जो साधारणतः सम्पूर्ण जीवन भर के लिये होता है और इसका उद्देश्य यौन सम्बन्ध पारस्परिक सहयोग और परिवार की स्थापना करना है,

विवाह करने की विधि की दृष्टि से विवाह दो प्रकार के होते हैः-

1. धार्मिक विवाह- ऐसे विवाह का निर्धारण लड़के - लड़की के माता-पिता या परिजनों के द्वारा होता है। ये विवाह, गिरजाघरों में सम्पन्न किये जाते हैं।

2. सिविल मैरिज - ऐसे विवाह के लिये लड़के - लड़की को मैरिज रजिस्ट्रार के कार्यालय में उपस्थित होकर आवश्यक कानूनी कार्यवाही करनी होती है।

ईसाईयों में रक्त संबंधी को छोड़कर शेष सभी से परस्पर विवाह किया जा सकता है। इसमें विधवा विवाह निषेध नहीं है तथा दहेज या मेहर जैसा लेन-देन नहीं होता।

मंगनी की रस्म के बाद, विवाह से पूर्व कुछ औपचारिकताऐं हैं जैसे चरित्र प्रमाण पत्र प्रस्तुत करना, विवाह की तारीख से तीन सप्ताह पहले गिरजाघर में प्रार्थना पत्र प्रस्तुत करना। पादरी विवाह के विरूद्ध ऐतराज आमंत्रित करता है और यदि कोई ऐतराज प्राप्त नहीं होता तो विवाह की तारीख तय हो जाती है। गिरजाघर में प्रभु ईशु के नाम पद दो गवाहों के समक्ष वर –वधु एक दूसरे को विवाहित साथी मानते है।

13.10.1 ईसाई विवाह में आधुनिक परिवर्तन

वर्तमान समय में औद्योगीकरण, नगरीकरण, पाश्चात्य शिक्षा, भौतिकवादिता तथा रोमांस आदि के कारण ईसाई विवाह के आदेशों में परिवर्तन देखने को मिल रहा है। जिनमें से मुख्य है- विवाह की आयु में वृद्धि, जीवन साथी का चुनाव स्वयं लड़का या लड़की के द्वारा करना, धर्म का प्रभाव कम हो रहा है। गिरजाघरों की अपेक्षा सिविल मैरिज अधिक हो रही है। धर्मानुसार ईसाईयों में विवाह विच्छेद मान्य नहीं है। किन्तु अब इसमें वृद्धि हो रही है। ईसाईयों में विवाह सम्बन्धी निषेधों में शिथिलता आ रही है। कभी-कभी फुफेरे-ममेरे भाई बहिनों में भी सिविल विवाह होने लगे हैं तथा अधिकतर विवाह रोमान्स और प्रेम पर आधारित होते हैं।

13.9 विवाह में होने वाले आधुनिक परिवर्तन

नगरीकरण और औद्योगीकरण के फलस्वरूप विवाह संस्था में कई परिवर्तन आये है। जोकि निम्न स्तरों पर दिखायी पड़ते हैं।

1. मनोवृत्ति एवं व्यवहार

महिला सशक्तीकरण ने महिलाओं को सशक्त बनाया है। जिससे पुरुष-स्त्री समानता में बढ़ोत्तरी हो रही है। विवाह के पूर्व यौन सम्बन्धों को स्वीकृति मिल रही है तथा विवाहोत्तर सम्बन्ध भी पाये जाते है। परिवार में दम्पत्ति भविष्य की चिन्ता के लिए कम बच्चों को प्राथमिकता देते हैं तथा उनके पालन-पोषण के लिए अन्य संस्थाओं का सहयोग मिलता है।

2. उपयोगितावादी प्रवृत्ति

वर्तमान परिवारों के दम्पत्ति अपनी सुविधा के लिए व्यवसायिक सेवाओं का सहयोग लेते हैं। परिवार नियोजन के साधनों का प्रयोग सन्तति निरोध के साथ-साथ आनन्द प्राप्ति का साधन भी हो गया है।

3. धार्मिकता का अभाव

विवाह में धार्मिक परम्पराओं में कमी आयी है। रीति-रिवाजों के प्रति लोगों का लगाव कम हुआ है। विवाह में दिखावा एवं प्रदर्शन की बढोत्तरी हुई है। स्त्री-पुरुष के वस्त्रों एवं पहनावे में परिवर्तन हुए हैं तथा मांगलिक चिन्हों एवं धार्मिक क्रियाकलापों में कमी आयी है।

13.10 विवाह का महत्व

विवाह सामाजिक जीवन की एक महत्वपूर्ण संस्था है। जिसके महत्व को सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। विवाह के द्वारा सामाजिक ज्ञान एवं आनन्द की प्राप्ति करता है। विवाह के महत्व का वर्णन निम्न है।

1. शारीरिक आवश्यकता

मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं में यौन सन्तुष्टि भी एक मौलिक आवश्यकता है। विवाह के माध्यम से कामवासना की सन्तुष्टि प्राप्त होती है। यौन सन्तुष्टि व्यक्तित्व विकास का आधार है। जोकि व्यवस्थित विकास के लिए आवश्यक हैं।

2. मनोवैज्ञानिक उन्नति एवं समायोजन

विवाह के पश्चात् व्यक्ति के जीवन में स्थिरता आती हैं व्यक्ति की मानसिक आवश्यकताओं जैसे- प्रेम, वात्सल्य, आत्मीयता, अपनत्व आदि की पूर्ति होती है जो मानसिक विकास का आधार है। जिससे जीवन की वास्तविकताओं का ज्ञान होता है।

3. पितृत्व की महत्ता

विवाह के द्वारा सबसे महत्वपूर्ण कार्यों में बच्चों को वैध स्वरूप प्रदान करता है। विवाह के द्वारा बच्चे के पितृत्व का निर्धारण किया जाता है। वंशवाद की परम्परा का विस्तार होता है तथा सामाजिक मर्यादा एवं पवित्रता बनी रहती है। वैध सन्तान को सामाजिक स्वीकृति प्राप्ति होती है तथा अवैध सन्तान को सामाजिक स्वीकृति प्राप्ति नहीं होती जिसके फलस्वरूप असमाजिक व्यक्तित्व बढ़ते है। जो समाज को विघटन की ओर ले जाते है।

4. सामाजिक सम्बन्धों का विकास

विवाह के द्वारा दो परिवारों के मध्य नए सम्बन्धों का विकास होता है। नये-नये रिश्तों का निर्धारण होता है। विवाह के पूर्व सम्बन्धों में एक अपूर्णता रहती है, जोकि विवाह के पश्चात् पूर्ण होती है। विवाह के द्वारा रक्त सम्बन्धों एवं नातेदारी को परिभाषित किया जाता है। बालक में नैतिक गुणों, सही गलत की समझ, तथा आदर्शों की समझ पैदा होती है। जिसके फलस्वरूप अन्य व्यक्तियों के साथ एकरुपता स्थापित करता है। व्यक्ति नई भूमिकाओं को ग्रहण करता है जिसके द्वारा सभ्यता संस्कृति का विकास होता है।

5. सामाजीकरण एवं संस्कृतिकरण

विवाह के द्वारा व्यक्ति के अन्दर सामाजिक गुणों का समावेश होता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति का सामाजीकरण होता है। इसके तहत दो परिवारों के संस्कृति के द्वारा सांस्कृतिक गुणों में स्थिरता आती है तथा सांस्कृतिकरण होता है।

13.11 सारांश

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के पश्चात् विवाह के अर्थ एवं परिभाषा का अध्ययन किया गया | विवाह के प्रकार, विवाह के उद्देश्य तथा विवाह के महत्व को समझा गया | तत्पश्चात् विवाह में होने वाले आधुनिक परिवर्तन, हिन्दू विवाह के स्वरूप तथा हिन्दू विवाह के नियमों का अध्ययन किया। इसके पश्चात् मुस्लिम विवाह की अवधारणा को भी समझा।

13.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. विवाह से आप क्या समझते हैं? समझाइये।
2. विवाह के प्रकारों का वर्णन कीजिए

3. विवाह में होने वाले परिवर्तन से आप क्या समझते हैं?

4. विवाह के महत्व को समझाइये।

13.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।
2. लवानिया, एम.एम. एवं राठौड़, ए.एस. (1999) भारतीय समाज, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
3. लवानिया, एम.एम. एवं पडियार, जी. (2010) भारत में सामाजिक समस्यायें, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
4. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा
5. गुप्ता, एम. एल. एवं शर्मा डी.डी., मानव समाज, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2001।
6. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।
7. आहूजा, राम, सामाजिक समस्याऐं, रावत पब्लिकेशन्स, द्वितीय संस्करण, जयपुर एवं नई दिल्ली, 2000।
8. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
9. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
10. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
11. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर
12. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटस

इकाई -14

सामाजिक स्तरीकरण

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 सामाजिक स्तरीकरण की अर्थ एवं परिभाषा

14.2.1 सामाजिक स्तरीकरण की विशेषतायें

14.2.2 सामाजिक स्तरीकरण के लक्षण

14.2.3 सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप

14.2.4 सामाजिक स्तरीकरण का महत्व

14.3 सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न दृष्टिकोण

14.3.1 स्तरीकरण का प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण

14.3.2 सामाजिक स्तरीकरण संघर्ष का दृष्टिकोण

14.3.3 सामाजिक स्तरीकरण पर मैक्स वेबर का दृष्टिाकोण

14.4 सारांश

14.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

14.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

14.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप-

1. सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा एवं विशेषताओं को समझ सकेंगे।
2. सामाजिक स्तरीकरण के लक्षणों तथा स्वरूपों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
3. सामाजिक स्तरीकरण के महत्व का वर्णन कर सकेंगे।
4. सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न दृष्टिकोणों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक स्तरीकरण पर प्रकाश डाला गया है। स्तरीकरण का तात्पर्य समाज का विभिन्न स्थायी स्तरों व समूहों के विभाजन से है जो कि उच्चता और अधीनता के सम्बन्धों से परस्पर जुड़े रहते हैं। स्तरीकरण समाज को उच्चतर और निम्नतर सामाजिक इकाईयों में बांटता है। मानव समाज में प्रारम्भ से ही स्तरीकरण रहा है; कार्य, धर्म, संस्कृति, रूचि, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति के आधार पर अन्तर पाये जाते हैं। इन अन्तरों में जब उच्चता और निम्नता की भावना जुड़ जाती है तो स्तरीकरण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। ज्यों-ज्यों मानव सभ्यता का विकास हुआ उसी के साथ-साथ समाज में असमानतायें भी बढ़ती गयी जिसके फलस्वरूप मानव समाज उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग में विभाजित होता चला गया। यह समाज को ऐसे स्थायी समूहों या वर्गों में विभाजित करता है जो श्रेष्ठता और अधीनता के सम्बन्धों में परस्पर जुड़े रहते हैं।

14.2 सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा

14.2.1 सामाजिक स्तरीकरण अर्थ एवं परिभाषा

समाज में मानव, धर्म, जाति, शिक्षा, आर्थिक स्थिति एवं पदों के आधार पर उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग में विभाजित हैं। सामाजिक स्तरीकरण को परिभाषित करते हुए किंग्सले डेविस ने लिखा है कि, ''जब हम जातियों और वर्गों और सामान्य स्तरीकरण के बारे में सोचते हैं तो हमारे मन में वे समूह होते हैं जो कि सामाजिक व्यवस्था में भिन्न-भिन्न स्थान रखते हैं और भिन्न-भिन्न मात्रा में आदर का उपभोग करते हैं। इस प्रकार सामाजिक स्तरीकरण भिन्न-भिन्न वर्गों या स्तरों के बनने की प्रक्रिया है जिनमें आपस में सामाजिक स्थितियों और उनके अनुसार कार्यों तथा आदर की मात्राओं में अन्तर पाया जाता है। सामाजिक स्तरीकरण एक प्रक्रिया ही नहीं है बल्कि एक दशा भी है जिसमें समाज में कई स्तर पाए जाते हैं। रेमण्ड मुरे के शब्दों में, ''स्तरीकरण समाज को उच्चतर और निम्नतर सामाजिक इकाइयों में समानांतर विभाजन है।'' इन विभिन्न क्षैतिज वर्गों में उच्च वर्ग और श्रेष्ठ तथा निम्न वर्ग नीचे माने जाते हैं। गिसबर्ट के शब्दों में, ''सामाजिक स्तरीकरण समाज को ऐसे स्थायी समूहों या वर्गों में विभाजित करता है जो श्रेष्ठता और अधीनता के सम्बन्धों में परस्पर जुड़े रहते हैं। ''विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक स्तरीकरण को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है:

जिसबर्ट पी. के अनुसार, ''स्तरीकरण का तात्पर्य समाज का विभिन्न स्थायी श्रेणियों व समूहों में विभाजन से है जो कि उच्चता और अधीनता के सम्बन्धों से परस्पर जुड़े रहते है।''

सदर लैंण्ड एवं वुडवर्ड के अनुसार, ''स्तरीकरण साधारण अन्तः क्रिया अथवा विभेदीकरण की एक प्रक्रिया है। जिसके द्वारा कुछ व्यक्तियों को दूसरों की तुलना में उच्च स्थिति प्राप्त हो जाती है।''

गिरबर्ट के अनुसार, ''श्रेणीकरण का तात्पर्य समाज का विभिन्न स्थायी श्रेणियों व समूहों में विभाजन से है जो कि उच्चता और अधीनता के सम्बन्धों से परस्पर जुड़े रहते है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि सामाजिक स्तरीकरण में समाज उच्च एवं निम्न दो समूहों में विभाजित है। समाज विभिन्न इकाइयों में विभाजित होकर ही व्यवस्थित होता है जिससे सामाजिक एकता एवं स्थिरता कायम होती है।

14.2.3सामाजिक स्तरीकरण की विशेषतायें

सामाजिक स्तरीकरण की विशेषतायें निम्न हैं:

सामाजिक स्तरीकरण में असमानता:- प्रारम्भ में समाज में आयु, लिंग, सुन्दरता, शारीरिक शक्ति, कार्यों की स्थिति के आधार पर स्तरीकरण पाया जाता था। सभ्यता के साथ-साथ पद, प्रतिष्ठा एवं अर्जित गुणों एवं विशेषताओं के आधार पर भी स्तरीकरण पाया गया। परिवार स्कूल, धर्म, जाति आदि सामाजिक समस्याओं के स्तर पर स्तरीकरण की प्रक्रिया धीरे-धीरे मजबूत होने लगती है। जीवन के प्रत्येक स्तर पर उत्पन्न असमानता स्तरीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाती है।

सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप सामाजिक :- समाज में स्तरीकरण का स्वरूप हमेशा बदलता रहा है। जाति के आधार पर स्तरीकरण में व्यक्ति किस जाति में जन्म लेता है वही उसकी स्थिति को निर्धारित करता है। अपितु जाति के आधार पर भी स्तरीकरण निर्धारित होता है,परन्तु व्यक्ति जब अपने पुरूषार्थ से कोई उपलब्धि हासिल करता है तो उसका स्तरीकरण उसके पद और गुणों के आधार पर निर्धारित होता है। इस प्रकार जाति, लिंग, व्यवसाय, पद, प्रतिष्ठा, परिवार, आदि स्वरूपों के द्वारा सामाजिक स्तरीकरण होता है।

सामाजिक स्तरीकरण विकासोन्मुखी हैः- सामाजिक स्तरीकरण के द्वारा समाज में असमानता पायी जाती है। इस असमानता को हम सकारात्मक सोच के द्वारा जीवन जीने के अवसर के रूप में देख सकते है। अलग-अलग स्तरों में जीने वाले व्यक्तियों के रहन, सहन सम्बन्धों, संस्कृति में भिन्नता पायी जाती है। यही जीवन शैली सामाजिक स्तर को बताती है।

सामाजिक स्तरीकरण द्वारा समाज एवं व्यक्ति की आवश्यकताएं पूर्ण होती हैं :-समाज में व्यक्तियों की योग्यतायें, क्षमतायें अलग-अलग होती हैं, इन भिन्नताओं के कारण समाज में भूमिकाओं व स्थितियों का निर्धारण होता है। इस प्रक्रिया में समाज व्यक्तियों को उनकी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु समूहों में विभाजित करता है। इस विभाजन में अलग-अलग कार्य करने वाले व्यक्तियों की कमी तथा कार्यों की भिन्नता दो महत्वपूर्ण तत्व होते है। जिनके आधार पर स्तरीकरण होता है।

सामाजिक स्तरीकरण सार्वभौमिक होता है :- सामाजिक स्तरीकरण सरल से लेकर जटिल ,आदिम से लेकर आधुनिक सभी समाजों में पाया जाता है | यद्यपि सरल समाजों में स्तरीकरण बहुत सामान्य होता है जबकि विशाल और जटिल समाजों में स्तरीकरण विशिष्टता पूर्ण होता है |

सामाजिक स्तरीकरण के सामाजिक –सांस्कृतिक आधार – समाज में सामाजिक स्तरीकरण का आधार शक्ति ,धन तथा प्रतिष्ठा होता है | मैक्स वेबर ने इन तीनो आधारों को सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख आधार माना है |

14.2.4 सामाजिक स्तरीकरण के लक्षण

सामाजिक स्तरीकरण के मुख्य लक्षण निम्नलिखित है-

सामाजिक स्थिति में उतार-चढ़ाव का क्रम - सामाजिक स्तरीकरण में सभी जगह विभिन्न समूहों की सामाजिक स्थितियों में किसी न किसी प्रकार का उतार-चढ़ाव का क्रम पाया जाता है जिसमे जिससे निम्न वर्ग के लोग उच्च वर्ग में जाने का प्रयास करते हैं और उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग के लोगों से भिन्न दिखलाई देने की चेष्टा करते हैं।

ऊँच-नीच की भावना - सामाजिक स्तरीकरण में विभिन्न समूहों अथवा वर्ग में ऊँच-नीच की भावना दिखाई पड़ती है जिससे कुछ की सामाजिक स्थिति दूसरों से ऊँची होती है।

वर्ग चेतना - सामाजिक स्तरीकरण में प्रत्येक वर्ग के लोगों में एक सामूहिक चेतना पाई जाती है जो वर्ग चेतना कहलाती है। इस चेतना के कारण वर्ग के सभी लोग अपने वर्गगत हितों की सुरक्षा करने के लिए सामूहिक रूप से प्रयास करते हैं।

शुद्ध वर्गों का अभाव - सामाजिक स्तरीकरण में कहीं भी शुद्ध रूप से खुले या बन्द वर्ग नहीं मिलते। सब कहीं एक वर्ग से दूसरे वर्ग में किसी न किसी प्रकार से जाना सम्भव होता है। यह निश्चित करना कठिन होता है कि कहाँ एक वर्ग प्रारम्भ होता है और दूसरा समाप्त होता है। विभिन्न श्रेणियों में खान-पान, विवाह आदि की न तो पूरी छूट होती है और न कहीं भी पूर्ण प्रतिबन्ध होता है। अतः सामाजिक स्तरीकरण शुद्ध रूप में कहीं नहीं मिलता।

सामाजिक स्तरीकरण के आधार

सामाजिक स्तरीकरण प्रत्येक समाज में पाया जाता है, किन्तु उसके आधार समान नहीं हैं। स्तरीकरण के सभी आधारों को हम प्रमुख रूप से दो भागों में बांट सकते हैं (अ) प्राणीशास्त्रीय आधार एवं (ब) सामाजिक-सांस्कृतिक आधार

प्राणीशास्त्रीय आधार

समाज में व्यक्तियों एवं समूहों की उच्चता एवं निम्नता का निर्धारण प्राणीशास्त्रीय आधारों पर किया जाता है। प्रमुख प्राणीशास्त्रीय आधारों में हम लिंग, आयु, प्रजाति एवं जन्म, आदि को ले सकते हैं।

1) लिंग: लिंग के आधार पर स्त्री और पुरुषों के रूप में समाज का विभेदीकरण सबसे प्राचीन हैं। लगभग सभी समाजों में पुरुषों की स्थिति स्त्रियों से ऊंची मानी जाती रही है। कई पद ऐसे हैं जो केवल पुरुषों के लिए ही निर्धारित हैं जैसे सेना में स्त्रियों को नहीं लिया जाता, परम्परा के आधार पर अमरीका का राष्ट्रपति कोई भी स्त्री नहीं बन सकती।

2) आयु: प्रत्येक समाज में कई पद ऐसे होते हैं जो एक निश्चित आयु के व्यक्तियों को ही प्रदान किये जाते हैं। आयु के आधार पर समाज में प्रमुख चार स्तर-शिशु, किशोर, प्रौढ़ और वृद्ध, पाये जाते हैं। सामान्यतः महत्वपूर्ण पद बड़ी आयु के लोगों को प्रदान किये जाते हैं। भारत में परिवार, जाति एवं ग्राम पंचायत के मुखिया का पद वयोवृद्ध व्यक्ति को ही दिया जाता रहा है। यह माना जाता है कि आयु और अनुभव का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए उत्तरदायित्व के कार्य अनुभवी एवं वयोवृद्ध व्यक्तियों को सौंपे जाते हैं।

3) प्रजाति: प्रजाति के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण वहां देखा जा सकता है जहां एकाधिक प्रजातियां साथ-साथ रहती हैं। जिस प्रजाति के लोग शासन एवं सत्ता में होते हैं तथा सम्पन्न होते हैं, वह प्रजाति अपने को दूसरी प्रजातियों से श्रेष्ठ मानती है। अमरीका व अफ्रीका में गोरी प्रजाति ने काली प्रजाति से अपने को श्रेष्ठ घोषित किया है और उसे अनेक सुविधाएं एवं विशेषाधिकार प्राप्त हैं। अमरीका का राष्ट्रपति कोई भी नीग्रो प्रजाति का व्यक्ति नहीं हो सकता है।

4) जन्म: मानव का जन्म भी सामाजिक स्तरीकरण में उसकी प्रस्थिति का निर्धारण करता है। जो लोग उच्च कुल, वंश एवं जाति में जन्म लेते हैं, वे अपने को दूसरे से श्रेष्ठ मानते हैं।

5) शारीरिक व बौद्धिक कुशलता: वर्तमान समय में व्यक्ति की प्रस्थिति एवं स्तर का निर्धारण उसकी शारीरिक एवं मानसिक कुशलता, योग्यता एवं क्षमता के आधार पर होने लगा है। जो लोग अकुशल, पागल, क्षीणकाय, आलसी एवं अयोग्य होते हैं, उनका स्तर उन लोगों से नीचा होता है जो बुद्धिमान, परिश्रमी, हष्ट-पुष्ट एवं कुशल होते हैं। साम्यवादी देशों में भी इन गुणों के आधार पर स्तरीकरण देखा जा सकता है।

सामाजिक-सांस्कृतिक आधार

सामाजिक स्तरीकरण प्राणीशास्त्रीय आधारों पर ही नहीं वरन् अनेक सामाजिक- सांस्कृतिक आधारों पर भी पाया जाता है। उनमें से प्रमुख इस प्रकार है:-

1) सम्पत्ति: सम्पत्ति के आधार पर भी समाज में स्तरीकरण किया जाता है। समाज में वे लोग ऊंचे माने जाते हैं, जिनके पास अधिक सम्पत्ति होती है। इसके विपरीत, गरीब तथा सम्पत्तिहीन की स्थिति निम्न होती है।

2) व्यवसाय: व्यवसाय भी सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख आधार है। समाज में कुछ व्यवसाय सम्मानजनक एवं ऊँचे माने जाते हैं तो कुछ निम्न एवं घृणित। डाक्टर, इंजीनियर, प्रशासक, प्राध्यापक, आदि का पेशा, बाल काटने, कपड़े धोने, और चमड़े का काम करने वालों के पेशों से श्रेष्ठ व सम्माननीय माना जाता है। अतः इन पेशों को करने वालों की स्थिति भी सामाजिक संस्तरण में ऊंची होती है।

3) धार्मिक स्थान: धर्म-प्रधान समाजों में धर्म भी स्तरीकरण उत्पन्न करता है। जो लोग धार्मिक कर्मकाण्डों में संलग्न होते हैं, धार्मिक उपदेश देते हैं एवं धर्म के अध्ययन में रत रहते हैं, उन्हें सामान्य लोगों से ऊंचा माना जाता है। भारत में पण्डे, पुजारियों, धार्मिक गुरुओं, साधु-संतों एवं ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति उनके धार्मिक ज्ञान और धर्म से सम्बन्धित होने के कारण ही ऊंची रही है।

4) राजनीतिक शक्ति: सत्ता एवं अधिकारों के आधार पर भी समाज में संस्तरण पाया जाता है। जिन लोगों के पास सैनिक शक्ति, सत्ता और शासन की बागडोर होती है, उनकी स्थिति उन लोगों से ऊंची होती है जो सत्ता एवं शक्तिविहीन होते हैं। शासक और शासित का भेद सभी समाजों में पाया जाता है।

14.2.5सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप

सामाजिक स्तरीकरण के मुख्य स्वरूप निम्नलिखित हैः-

(क) जाति पर आधारित स्तरीकरण

जाति की परिभाषा करते हुए ए. डब्ल्यू. ग्रीन ने लिखा है, ‘‘जाति, स्तरीकरण की एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें गतिशीलता या सामाजिक स्थितियों का ऊपर-नीचे जाना कम से कम विचार की दृष्टि से नहीं हो सकता।जाति एक व्यक्ति की जन्म से प्राप्त प्रस्थिति होती है जो उसकी आजीवन होती है। किसी जाति में जन्म व्यक्ति के व्यवसाय, निवास स्थान, जीवन पद्धति, साथियों तथा उस समूह का निश्चय करता है जिसमें से उसे अपना जीवनसाथी चुनना है। एक जाति-व्यवस्था में सदैव यह विचार सम्मिलित हेता है कि नीची जाति के लोगों का शारीरिक अथवा अन्य किसी प्रकार का सामजिक सम्पर्क भी ऊँची जाति के व्यक्तियों को दूषित करने वाला होता है।’’ जाति में सामजिक स्तरीकरण बन्द होता है और सदस्यों को सामान्य रूप से एक जाति से दूसरी जाति में जाने की अनुमति नहीं होती। जाति पर आधारित स्तरीकरण की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित है।-

1. जाति जन्मजात होती है।
2. जाति में खान-पान सम्बन्धी निश्चित नियम होते हैं।
3. अधिकांश जातियों के व्यवसाय निश्चित होते हैं।
4. जाति में ऊँच-नीच और छुआछूत के नियम होते हैं।

5. जाति अन्तर्विवाही होती है।

6. जाति में बन्द स्तरीकरण पाया जाता है। बन्द स्तरीकरण से तात्पर्य ऐसे स्तरीकरण से है जिसमें व्यक्ति की सामाजिक श्रेणी उसके जन्म से निश्चित होती है और कितने ही प्रयत्न करने पर भी वह उसको बदल नहीं सकता। बन्द स्तरीकरण में सामाजिक स्थिति जन्म से निश्चित होती है और शिक्षा, आर्थिक स्थिति, शारीरिक और मानसिक गुण आदि के आधार पर उसको बदला नहीं जा सकता।

(ख) वर्ग पर आधारित स्तरीकरण

वर्ग पर आधारित स्तरीकरण आधुनिक एवं खुले समाजों की प्रमुख विशेषता है | वर्गगत स्तरीकरण का प्रमुख आधार आय , शिक्षा, व्यवसाय,कार्य कुशकता , व संपत्ति है , क्योंकि इन्ही आधारों पर व्यक्ति को समाज में एक निश्चित प्रस्थिति प्राप्त होती है | समान प्रस्थिति वाले व्यक्ति मिलकर एक वर्ग या स्तर का निर्माण करते हैं| वर्गगत स्तरीकरणमें व्यक्ति का एक स्तर से दूसरे स्तर में प्रवेश करना सम्भव है |

मैकाइवर के अनुसार, ''एक सामाजिक वर्ग सामाजिक प्रस्थिति के आधार पर अन्य लोगों से पृथक् किए गए समुदाय का एक अंश है।'' इस प्रकार वर्ग एक प्रस्थिति समूह है। प्रस्थिति समूह मानने से उसे विभिन्न स्तरों वाले किसी समाज पर लागू किया जा सकता है। यह सामाजिक स्थिति की भावना ही विभिन्न वर्गों को एक दूसरे से अलग करती है। संक्षेप में सामाजिक स्थिति वह है, जिसके कारण उसके कुछ विशेषाधिकार, उत्तरदायित्व तथा शक्तियां हैं। प्रत्येक वर्ग में वर्ग चेतना तथा विशिष्ट संस्कृति पाई जाती है। कार्ल मार्क्स के अनुसार वर्ग आर्थिक भेदभावों पर आधारित होते हैं। समाजशास्त्रियों ने आर्थिक भेदभावों के अतिरिक्त व्यवसाय, शारीरिक श्रम, औसत आय, शिक्षा आदि अनेक कारकों के आधार पर वर्गों में अन्तर किया है।

14.2.6 सामाजिक स्तरीकरण का महत्व

सामाजिक स्तरीकरण सार्वभौमिक तथ्य है। इसका कोई न कोई रूप सभी समाजों एवं कालों में पाया जाता रहा है सामाजिक स्तरीकरण में किसी न किसी रूप में हमेशा विद्यमान रहा है। इसी से इसका महत्व एवं उपयोगिता प्रकट होती है। व्यक्ति एवं समाज के लिए का महत्व इस प्रकार है:-

15.5.1 व्यक्ति के लिए सामाजिक स्तरीकरण का महत्व

1. आवश्यकता पूर्ति में सहायक: मानव की आवश्यकताएं अगणित हैं। इनकी पूर्ति के लिए उसे विभिन्न व्यक्तियों का सहयोग लेना होता है। स्तरीकरण द्वारा समाज में कार्यों का विभाजन कर दिया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने निश्चित कार्य को कुशलता से करके मानव की आवश्यकता पूर्ति में सहयोग प्रदान करता है।

2. अधिक कार्य के लिए प्रोत्साहन: सामाजिक स्तरीकरण का एक महत्वपूर्ण प्रकार्य यह है कि यह व्यक्ति को अधिक कार्य करने की प्रेरणा देता है। समाज में महत्वपूर्ण पदों के लिए समाज द्वारा अधिक पुरस्कार की व्यवस्था की जाती है। प्रत्येक व्यक्ति में प्रसिद्धि पाने एवं बड़ा बनने की इच्छा होती है। इस इच्छा को पूरा करने एवं उच्च पद पाने के लिए स्तरीकरण द्वारा व्यक्ति को कठोर परिश्रम करने की प्रेरणा दी जाती है।

3. सहयोग को बढ़ावा: सामाजिक स्तरीकरण में विभिन्न योग्यता वाले व्यक्तियों को पद प्रदान किये जाते हैं। इससे समाज में संघर्ष की स्थिति पैदा नहीं होती और सभी व्यक्ति परस्पर सहयोग द्वारा समाज को सुचारु रूप से चलाने में योग देते हैं।

4. मनोवृत्तियों का निर्धारण: ओलसन मानते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण मानव की मनोवृत्तियों को भी तय करता है। व्यक्ति जिस जाति, वर्ग एवं प्रस्थिति-समूह का सदस्य होता है उसके विचार, क्रियाएं एवं मनोवृत्तियां भी उसी प्रकार की होती हैं।

5. शक्ति संतुलन: सामाजिक स्तरीकरण समाज में शक्ति संतुलन कायम रखता है। सामाजिक स्तरीकरण में कुछ व्यक्तियों के पास महत्वपूर्ण पद होते हैं, उनके पास शक्ति भी अधिक होती है। दूसरी तरफ राजनीतिक अधिकार एवं शक्तिविहीन लोगों की संख्या अधिक होती है। ये लोग शक्ति-सम्पन्न लोगों को शक्ति के दुरुपयोग करने से रोकते हैं। शक्तिशाली लोग सामान्य लोगों पर नियंत्रण रखते हैं और उन्हें निर्देशित करते हैं। इस प्रकार दोनों ही वर्ग परस्पर नियन्त्रण रखकर शक्ति संतुलन बनाये रखते हैं।

6. उत्तरदायित्व की भावना का विकास: सामाजिक स्तरीकरण में जब एक व्यक्ति को एक निश्चित पद प्रदान कर दिया जाता है तो वह अपने पद को बनाये रखने के लिए अपने कर्तव्यों का निर्वाह निष्ठापूर्वक करता है। इससे व्यक्ति में उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है।

7. व्यक्ति की प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्धारण: सामाजिक स्तरीकरण द्वारा प्रत्येक व्यक्ति का समाज में स्थान निर्धारित किया जाता है और व्यक्ति की प्रस्थिति के अनुसार ही उसे कार्य भी सौंपे जाते हैं।

समूह के लिए महत्व

सामाजिक स्तरीकरण के समूह के लिए कुछ कार्यों एवं महत्व इस प्रकार है:

1. समाजिक परिवर्तन: एक सामान्य धारणा यह है कि सामाजिक स्तरीकरण परिवर्तन विरोधी है, किन्तु इसके विपरीत सामाजिक स्तरीकरण परिवर्तन को प्रोत्साहन भी देता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता में वृद्धि करके उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने का प्रयास करता है और उसके द्वारा रिक्त किये हुए स्थान को नये व्यक्ति ग्रण करते हैं। साथ ही नये पदो के अनुरूप् व्यक्ति अपने व्यवहार सम्बन्ध, रहन-सहन, विचार एवं मनोवृत्तियों में भी परिवर्तन लाता है।

2. समाजिक संघर्षों से रक्षा: सामाजिक स्तरीकरण में समाज के विभिन्न समूहों में अधिकारों एवं कार्यों का विभाजन कर दिया जाता है। इससे उनमें परस्पर संघर्ष नहीं हो पाता। विभिन्न व्यक्तियों को उनकी योग्यता के अनुरूप पदों, कार्यों, सुविधाओं एवं पुरस्कारों के वितरण के कारण भी संघर्ष की स्थिति से बचा जाता है। सामाजिक स्तरीकरण इस बात का विश्वास दिलाता है कि महत्वपूर्ण पद योग्य व्यक्तियों को सौंपे जाएंगे।

3. समाजिक एकीकरण: सामाजिक स्तरीकरण में कार्यों का विभाजन कर दिया जाता है और प्रत्येक व्यक्ति एवं समूह अपने कार्यों का निर्वाह कर सामाजिक एकता एवं संगठन को बनाये रखने में योग देता है। इससे संघर्ष की स्थिति से बचते रहते हैं।

4. समाजिक प्रगति: सामाजिक स्तरीकरण में ऊंचे एवं नीचे पदों की व्यवस्था होती है। व्यक्ति उच्च पदों को प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं, कठिन परिश्रम करते हैं। इससे समाज में निर्माण का कार्य होता है, नवीन आविष्कार होते हैं और समाज प्रगति करता है।

5. समाजिक सम्बन्धों का निर्धारण: एक स्तर एवं वर्ग के लोगों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध पाये जाते हैं, क्योंकि उनके स्वार्थ एवं रुचियां समान होती हैं। उदाहरण के लिए, पूंजीपतियों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होते हैं। यही बात श्रमिकों में देखने को मिलती है। इसका कारण उनके उद्देश्यों की समानता है। इसी प्रकार से एक ही जाति के लोगों

में भी अन्य जातियों के लोगों की अपेक्षा घनिष्ठ सम्बन्ध पाये जाते हैं, क्योंकि एक व्यक्ति के नाते-रिश्ते अपनी ही जाति में होते हैं एवं संकट में जाति के सदस्य ही सहायक होते हैं।

6. श्रम विभाजन: सामाजिक स्तरीकरण में समाज के कार्यों का विभिन्न लोगों में विभाजन कर दिया जाता है। श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण के कारण कार्यकुशलता बढ़ती है, विभिन्न कार्य करने वालों में पारस्परिक निर्भरता एवं सहयोग बढ़ता है और अन्ततः यह सामाजिक एकता एवं संगठन को सुदृढ़ बनाता है। सामाजिक स्तरीकरण में यह भी तय होता है कि एक इकाई का अन्य इकाइयों के साथ कैसा सम्बन्ध होगा।

7. समाजिक मानदण्डों का पालन करने की प्रेरणा: सामाजिक स्तरीकरण में प्रत्येक व्यक्ति अपने पद को बनाये रखने के लिए जागरुक होता है और पद से सम्बन्धित सामाजिक मानदण्डों का पालन करता है। ऐसा न करने पर उसकी प्रतिष्ठा गिरने का डर रहता है। अतः सामाजिक स्तरीकरण में स्वतः ही अचेतन रूप में सामाजिक मानदण्डों का पालन किया जाता है।

8. अनावश्यक प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष से रक्षा: सामाजिक स्तरीकरण में समूहों के कार्यों, अधिकारों एवं व्यवसाय, आदि का विभाजन होने के कारण अनावश्यक प्रतिस्पर्धा और संघर्ष से बचा जा सकता।

14.3 सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न दृष्टिकोण

सामाजिक स्तरीकरण को समझाने हेतु विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किए गए हैं। ये किंग्सले डेविस तथा बिल्बर्ट मूर द्वारा प्रस्तावित प्रकार्यवादी सिद्धान्त, मार्क्स के वर्ग संघर्ष संबंधित विचारों तथा मैक्स वेबर की धारणा पर आधारित हैं। इन विभिन्न दृष्टिकोण का विश्लेषण निम्नवत् करेंगे:-

14.3.1स्तरीकरण का प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण

डेविस और मूर मानते थे कि सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों के लिए प्रकार्यात्मक दृष्टि से आवश्यक है। वे इसे सभी सामाजिक तंत्रों द्वारा सामाजिक संरचना में व्यक्तियों के 'संस्थापन एवं अभिप्रेरणा' से संबंधित समस्याओं के निदान के रूप में देखते हैं। वे इस समस्या के निदान का कोई अन्य साधन नहीं देते तथा ऐसा संकेत देते है कि सामाजिक विषमता मानव समाज का अपरिहार्य लक्षण है। वे ऐसा समझते हैं कि विभेदीय प्रतिफल समाज के लिए प्रकार्यात्मक है क्योंकि वे सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने तथा उसके कल्याण में योगदान देते हैं।

यह सिद्धान्त बताता है कि किसी समाज के संचालन हेतु सामाजिक असमानता एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है तथा उसके लाभकारी परिणाम होते हैं। अभिष्टों का विभाजन इस बात को सुनिश्चित करता है कि सबसे महत्वपूर्ण पद सबसे योग्य व्यक्तियों द्वारा ही भरें जाएं तथा इन पदों पर आसीन व्यक्ति अपना कार्य योग्यता के साथ करें। सभी समाजों में अनेक ऐसे व्यावसायिक पद होते हैं जिनका महत्व भिन्न-भिन्न होता है। कुछ कार्य बहुत सरल होते हैं जिनमें किसी विशेष कौशल की आवश्यकता नहीं होती है , जबकि कुछ कार्य कठिन होते हैं जिनके संपादन हेतु विशेष कौशल तथा दुर्लभ प्रतिभा की आवश्यकता होती है जो उन्हीं लोगों के पास होती है जिन्होनें दीर्घकाल तक उससे सम्बंधित शिक्षा प्राप्त की हो। उदाहरण के लिए बैल गाडी या रिक्शा चलाने, साफ़ – सफाई करने के लिए अधिक कौशल की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु किसी नदी के ऊपर पुल का निर्माण करने अथवा किसी मरीज के गुर्दे का प्रत्यारोपण करने अथवा ऐसे घरेलू ईंधन का अविष्कार करने जो सरल हो व उपयोग करने में हानिकारक न हो, ऐसे कार्य हैं जो जिम्मेदारीपूर्ण हैं, प्रकार्यात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण है तथा उसके

संपादन में विशेष योग्यताओं की आवश्यकता होती है। डेविस व मूर बताते हैं कि किसी कार्य का जितना अधिक प्रकार्यात्मक महत्व होता है, समाज उनके लिए उतना ही अधिक प्रतिफल देने को तैयार रहता है। इन विशेष पदों को भरने हेतु लोगों को अधिक त्याग करने के लिए प्रेरित करने के उद्देश्य से विशेष आर्थिक प्रतिफल तथा प्रतिष्ठा दी जाती है। परिणामस्वरूप समाज संसाधनों का विभाजन कर समाज प्रत्येक व्यक्ति को प्रेरित करता है कि वह सबसे महत्वपूर्ण पद पाने की महत्वकांक्षा रखे तथा इस हेतु अधिक कठोर, अच्छा व दीर्घकाल तक कार्य करे। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि डॉक्टर अधिक धन कमाते हैं क्योंकि चिकित्सा व्यवसाय में उच्च स्तर के कौशल की आवश्यकता होती है।इसी प्रकार प्राध्यापकों को भी पुरस्कार स्वरूप समाज में अधिक प्रतिष्ठा मिलती है। प्रकार्यात्मक सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि समाज उत्पादक गुणवालों को प्रोत्साहन देने वाला होता है जिसमें व्यक्तिगत गुणवत्ता पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण का एक तंत्र होता है। ऐसे समाज उन सभी व्यक्तियों को अवसर प्रदान करते हैं जो सामाजिक पदक्रम में ऊँचें पदों पर आसीन होने की क्षमता रखते हैं।

सबसे महत्वपूर्ण पदों पर सबसे योग्य व्यक्तियों को नियुक्त करना, स्तरीकरण संरचना में लोगों को प्रेरित करने हेतु पुरस्कारों के उपयोग का केवल पहलू है। एक बार लोग उच्च पदों पर आसीन होने की तैयारी करते हैं तो उन्हें अपने कार्य को योग्यतापूर्वक सम्पन्न करने हेतु प्रेरित करना आवश्यक होता है। इसलिए अधिक पुरस्कार या प्रतिफल उन्हीं लोगों को प्राप्त होते हैं जो अपना कार्य अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक कुशलता से करते हैं। इस प्रकार अधिक योग्य इंजीनियर, वैज्ञानिक, नौकरशाह, पुलिस अधिकारियों को उन लोगों से अधिक अभीष्ट प्राप्त होने चाहिए जो अपना कार्य कम अच्छा करते हैं। किन्तु यह भी सत्य है कि अनेक अक्षम डॉक्टर, इंजीनियर आदि उच्च स्तरीय सक्षम डॉक्टरों व इंजीनियरों से अधिक अभीष्ट प्राप्त करते हैं। स्तरीकरण के प्रकार्यात्मक सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक असमानता समाज के लिए प्रकार्यात्मक है।

प्रकार्यात्मक सिद्धान्त का विवेचनात्मक मूल्यांकन

समाज में ऐसे अनेक लोग होते हैं जिनके पास सत्ता, प्रतिष्ठा व संपत्ति होती है किन्तु उनका समाज में योगदान बहुत महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता है। उदाहरण के लिए फिल्मी सितारे, क्रिकेट, ब्रोकर और संगीतज्ञ लाखों-करोड़ों रूपये कमाते हैं जबकि वे वैज्ञानिक जो नए अविष्कार कर समाज के लिए बड़ा योगदान करते है उन्हें मुश्किल से कुछ हजार रूपये प्रतिमाह ही प्राप्त होते हैं।

समाज के कुछ सदस्यों जैसे गरीब लोग, महिलाएं, पिछड़े वर्ग के लोगों आदि को प्रतिस्पर्धा में कुछ बाधाओं का सामना करना पड़ता है जिसे प्रकार्यात्मक सिद्धांत नजर अंदाज करता है। इस वर्ग के लोगों में भी बहुत प्रतिभावान लोग होते हैं किन्तु उन्हें प्रतिस्पर्धा में भाग लेने का अवसर नहीं मिल पाता। जिससे उनकी प्रतिभा का समुचित प्रयोग नहीं हो पाता है।

14.3.2सामाजिक स्तरीकरण संघर्षवादी का दृष्टिकोण

कार्ल मार्क्स के अनुसार औद्योगिक पंजीवादी उत्पादन तंत्र के कारण उत्पन्न संपत्ति व सत्ता की विषमताओं ने वर्ग संघर्ष को अपरिहार्य बना दिया है। इस प्रकार संघर्ष सिद्धान्त का मानना है असमानता कुछ लोगा से संबंधित है जिसके पास उत्पादन के साधनों का स्वामित्व होता है तथा वे उन लोगों का शोषण करते हैं जिनके पास उत्पादन के साधनों का स्वामित्व नहीं होता है । स्तरीकरण संरचना के उच्च वर्ग के वे लोग जिनका समुदाय अथवा समाज के अभीष्टों पर एकाधिकार है, वे उसका उपयोग निम्न वर्ग के लोगों पर प्रभुत्व स्थापित करने में करते हैं। संघर्षवादी, सिद्धान्तवादी समाज को सहमति के स्थान पर संघर्ष द्वारा संचालित मानते हैं। वे लोग

जिनके पास संपत्ति, सत्ता व प्रतिष्ठा है, वे समाज की अभीष्ट वस्तुओं का अपना हिस्सा बनाए रखने अथवा उसे और बढ़ाने में समर्थ होते हैं।

इस प्रकार संघर्ष सिद्धान्त सत्ताधारी व सत्ताहीन, शोषणकर्ता व शोषित वर्ग के संघर्ष पर आधारित है। हम पूंजीवादियों का उदाहरण दे सकते हैं। ये लाग एक आस्थाओं के तंत्र का निर्माण कर श्रमिकों पर नियंत्रण रखते हैं, जिससे यथास्थिति को वैधता मिलती है इससे उन्हें भी लाभ मिलता है। चूंकि पूजीवादी समाज के सभी पहलू आर्थिक संरचना पर आधरित होते हैं, इसलिए वे लोग जो उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखते हैं (पूंजीपति) सारे देश में शिक्षा संस्थानों, मीडिया ,चर्च, सरकार आदि के माध्यम से अपने सिद्धान्त को फैलाते हैं व श्रमिक वर्ग में झूठी चेतना का निर्माण करते हैं। इस प्रकार शासन वर्ग के प्रभावशाली विचार शासित वर्ग के प्रभावशाली विचार बन जाते हैं। जब तक श्रमिक वर्ग इस प्रभावशाली विचारधारा को स्वीकार करते हैं व इस प्रकार अपनी स्वयं की ताकत से तथा किस सीमा वे शोषित हो रहे हैं, इस बात से अनभिज्ञ रहते हैं तब तक पूंजीवादी सुरक्षित रहते हैं।

मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी संभ्रान्त वर्ग को अर्थव्यवस्था के संपादन से अधिक बल प्राप्त होता है। उन्होंने कहा कि परिवार के माध्यम से संपत्ति व अवसर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलते हैं। उत्तराधिकारी कानून के माध्यम से न्यायिक तंत्र इस चलन का बचाव करता है। इसी प्रकार विशिष्ट अभिजात स्कूल संभ्रान्त वर्ग के बच्चों को प्रवेश देते हैं जिससे अनौपचारिक रूप से पूंजीवादी समाजों को बनने में प्रोत्साहन मिलता है व उन्हें जीवन पर्यन्त लाभ मिलता है। अतः मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी समाज प्रत्येक नई पीढ़ी में वर्ग संरचना उत्पन्न करते हैं। फिर भी मार्क्स का मानना है कि अंत में सर्वहारा वर्ग में वर्ग चेतना जागेगी तथा वे प्रभावकारी आस्था तंत्र को नकार देंगे। पूंजीपतियों की सत्ता को उखाड़ फेंकने के उपरान्त सर्वहारा वर्ग एक ऐसे समाजवादी समाज की रचना करेगा, जिसमें उत्पादन के साधन व संपत्ति पर सभी लोगों का समान स्वामित्व होगा। यह 'सर्वहारा' वर्ग की तानाशाही होगी जो पूंजीवादी समाज व साम्यवादी वर्गहीन समाज के बीच अस्थाई व्यवस्था होगी। अन्त में मानव गरीबी का अन्त करने हेतु साम्यवाद का साधन समाजवाद लेगा। मार्क्स की सामाजिक स्तरीकरण संबंधी विचारधारा स्वीकार नहीं की गई क्योंकिः-

मार्क्स ने कार्य निष्पादन व प्रतिफल को अलग कर दिया | मार्क्स ने समतावादी सामाजिक तंत्र का समर्थन किया। इस प्रकार मार्क्स ने डेविस मूर की धारणा कि लोगों को विभिन्न सामाजिक भूमिकाओं को सम्पन्न करने के लिए प्रेरित करने हेतु असमान प्रतिफल के तंत्र की आवश्यकता होती है, को नकार दिया। आलोचक यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि प्रतिफलों का कार्य निष्पादन से पृथक् करना एक बड़ी कमी थी जिसके कारण उत्पादन में कमी आई जो पूर्व सोवियत संघ (वर्तमान रूस) तथा विश्व की अन्य समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में स्पष्ट रूप से उनकी विशेषता रही है।

शोषण, क्रांति, वर्गविहिन समाज, साम्यवाद संबंधी विचार उन व्यक्तियों के लिए उपयुक्त नहीं हैं जो पूंजीवादी की उपलब्धियों पर तथा ऊध्र्वगामी सामाजिक गतिशीलता पर जोर देते हैं।

14.3.3सामाजिक स्तरीकरण पर मैक्स वेबर का दृष्टिकोण

वेबर मानते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण समाज में पायी जाने वाली असमान शक्ति की संगठित अभिव्यक्ति है | उन्होंने स्तरीकरण को तीन आयामों का परिणाम माना है - वर्ग, सामाजिक स्थिति व सत्ता। वेबर ने वर्ग को अधिक वर्ग के रूप में वर्णित न कर उसे एक अवस्थिति कहा है जिसमें किसी भी व्यक्ति को उच्च से निम्न

तक वर्गीकृत किया जा सकता है। उनके अनुसार सामाजिक स्थिति सामाजिक प्रतिष्ठा का माप है। सत्ता का भी स्तरीकरण में अपना महत्व है जबकि मार्क्स का विश्वास था कि प्रतिष्ठा व सत्ता आर्थिक स्थिति के कारण आते हैं। वेबर ऐसा नहीं सोचते थे। उन्होंने बताया कि कोई व्यक्ति स्तरीकरण के एक आयाम में उच्च स्थिति में हो सकता है किन्तु दूसरे में निम्न स्थिति में। वेबर ने सामाजिक स्तरीकरण का बहुआयामी विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

वेबर संपत्ति, सत्ता व प्रतिष्ठा को तीन भिन्न किन्तु परस्पर संबंधित पदानुक्रम मानते थे। संपत्ति की विषमताएं वर्गों को जन्म देती हैं, प्रतिष्ठा की विषमताएं प्रतिष्ठित समूहों अथवा स्तरों को जन्म देती हैं व सत्ता की विषमताएं दलों को जन्म देती है। इन्हें दलों की अपेक्षा गुट अथवा राजनैतिक खण्ड कहना अधिक सटीक होगा। वेबर मानते थे कि वर्गों, प्रतिष्ठा समूहों व दलों के बीच घनिष्ठ संबंध होते है। उनके अनुसार दलों का गठन समान वर्ग हितों अथवा समान प्रतिष्ठा हितों अथवा दोनों के आधार पर होता है।

समूहों की रचना सामूहिक कार्रवाई तथा राजनीतिक सत्ता पाने हेतु वर्गों की रचना एक आधार हो सकती है। किन्तु वेबर मानते हैं कि इन क्रियाओं के अन्य आधार भी हो सकते हैं। विशेषतः समूहों का निर्माण इसलिए होता है कि उनके सदस्यों की प्रस्थिति समान होती है। जबकि वर्ग का अर्थ आर्थिक प्रतिफलों के असमान वितरण के रूप में लिया जाता है। इसी प्रकार प्रस्थिति का अर्थ सामाजिक सम्मान के असमान वितरण के रूप में लिया जाता है। एक प्रस्थिति समूह की रचना उन व्यक्तियों से मिलकर होती है जिन्हें समान रूप से सामाजिक सम्मान प्राप्त होता है तथा वे समान प्रस्थिति रखते हैं। वर्गों के विपरीत प्रस्थिति समूहों के सदस्यों को सदैव ही अपनी समान प्रस्थिति का ज्ञान होता रहता है। इनकी जीवन शैली समान होती है तथा वे अपनी पहचान को प्रस्थिति समूह में विलीन कर देते हैं। अनके समाजों में वर्ग व प्रस्थिति एक-दूसरे से घनिष्ठता से जुड़े रहते हैं।

14.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई में सर्वप्रथम सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा का अध्ययन किया गया। सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताओं के विषय में ज्ञान प्राप्त किया गया। तत्पश्चात् सामाजिक स्तरीकरण के लक्षणों, स्वरूपों तथा महत्व के विषय में जानकारी प्राप्त की। इकाई के अंत में स्तरीकरण के प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण, संघर्ष का दृष्टिकोण तथा मैक्स वेबर के सामाजिक स्तरीकरण के दृष्टिकोण का अध्ययन किया।

14.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सामाजिक स्तरीकरण से आप क्या समझते हैं? सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. सामाजिक स्तरीकरण को परिभाषित करते हुए इसके लक्षणों की व्याख्या कीजिए।
3. सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा को समझाइए। सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप का वर्णन कीजिए।
4. सामाजिक स्तरीकरण के महत्व पर प्रकाश डालिए।
5. मैक्स वेबर के सामाजिक स्तरीकरण दृष्टिकोण की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

14.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।

2. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।

3. लवानिया, एम.एम. एवं पडियार, जी. (2010) भारत में सामाजिक समस्यायें, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर

4. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा

5. गुप्ता, एम. एल. एवं शर्मा डी.डी., मानव समाज, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2001।

6. आहूजा, राम, सामाजिक समस्याऐं, रावत पब्लिकेशन्स, द्वितीय संस्करण, जयपुर एवं नई दिल्ली, 2000।

7. लवानिया, एम.एम. एवं राठौड़, ए.एस. (1999) भारतीय समाज, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर

8. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर

9. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

10. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटस

11. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

12. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर

इकाई -15

सामाजिक विघटन की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 सामाजिक विघटन

15.3 सामाजिक विघटन के स्वरूप

15.3.1 वैयक्तिक विघटन

15.3.2 पारिवारिक विघटन

15.3.3 सांस्कृतिक विघटन

15.3.4 सामूहिक विघटन

15.4 सामाजिक संगठन तथा विघटन में अंतर

15.5 सारांश

15.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

15.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

15.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के उपरांत आप

सर्वप्रथम सामाजिक विघटन के अर्थ तथा परिभाषाओं के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

सामाजिक विघटन के लक्षणों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक विघटन के विषय पर प्रकाश डाला गया है। सामाजिक संगठन में आदतें, संस्थायें, समितियाँ आदि शामिल हैं। सामाजिक विघटन से ये सब अव्यवस्थित हो जाती है। सामाजिक विघटन मानव सम्बन्धों के प्रतिमानों तथा प्रक्रमों में पड़ने वाली बाधा है। इसका तात्पर्य व्यक्तियों के बीच कार्यात्मक सम्बन्धों का इस सीमा तक टूट जाना है, जिससे सम्पूर्ण समूह में अव्यवस्था तथा भ्रम उत्पन्न हो जाता है। अव्यवस्था का तात्पर्य विभिन्न समूहों और संस्थाओं के बीच असंतुलन उत्पन्न हो जाना तथा भ्रम का अर्थ समूह के सदस्यों की पारस्परिक अविश्वास का बढ़ जाना है। इस प्रकार सामाजिक विघटन की दशा में व्यक्ति अपने कर्तव्य भूल जाते है, सामाजिक नियमों का नियन्त्रण कम होने लगता है, समाज के विभिन्न अंगों का संतुलन ढीले पड़ने लगता है, सामाजिक आदर्श गिरने लगते है और सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचा अस्त-व्यस्त होने लगता है। इसके अतिरिक्त मॉकर

ने सांस्कृतिक सम्पर्क के टूट जाने तथा संस्कृति के विभिन्न पक्षों के बीच उत्पन्न होने वाले असंतुलन को सामाजिक विघटन कहा है। सामाजिक विघटन केवल एक दशा न होकर एक प्रक्रिया है।

15.2 सामाजिक विघटन

सामाजिक विघटन की अवधारणा

जब कभी भी एक समाज में अन्तक्रियाओं का व्यवस्थित क्रम टूट जाता है। तथा सामजिक संस्थाएँ प्रभावपूर्ण रूप से व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन की नियन्त्रित नहीं कर पाती, तब समाज में विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस दृष्टिकोण से सामाजिक विघटन भी एक सापेक्षिक धारणा है। एक विशेष दशा को सामाजिक विघटन कहने से पहले यह देखना आवश्यक है कि उस समाज के तत्कालीन मूल्य, आदर्श-नियम, नैतिकता तथा कानून किन व्यवहारों को मान्यता प्रदान करते है। यदि सामाजिक सन्तुलन को बनाए रखने वाले मूल्यों तथा नियमों का उल्लंघन होने से समाज की संरचना इस तरह टूट जाए, जिससे अनियन्त्रित, परस्पर विरोधी, तथा मनमाने आचरणों को प्रोत्साहन मिलने लगे, तब इसी दशा को हम सामाजिक विघटन कहते है।

प्रत्येक समाज की संरचना में बहुत-से छोटे-बड़े समूहों, संस्थाओं तथा सदस्यों की अन्तक्रियाओं का - योगदान रहता है। इनमें से प्रत्येक समूह तथा संस्था के अपने-अपने कुछ पूर्व-निर्धारित प्रकार्य होते है। ये प्रकार्य व्यक्ति को अपनी स्थिति के अनुरूप भूमिका निभाने की प्रेरणा ही नही देते, बल्कि सामाजिक व्यवस्था की उपयोगिता को भी बनाए रखते है। किन्ही विशेष परिस्थितियों में जब सामाजिक संरचना इस तरह टूट जाती है कि इसकी एक इकाई दूसरी इकाई के कायों में बाधा डालने लगती है, तो सामाजिक व्यवस्था में असन्तुलन पैदा हो जाता है। यही स्थिति सामाजिक विघटन की स्थिति है। अध्ययन की सरलता के लिए इस स्थिति को दो उदाहरणों की सहायता से समझा जा सकता है प्रथम उदाहरण मानव की जीव रचना का है। प्राणी की शरीर-रचना सावयवी व्यवस्था का एक सुन्दर उदाहरण है। इस व्यवस्था का निर्माण अनेक छोटे-बड़े अंगों, नाड़ी-व्यवस्था, रंक्त-संचालन तथा उपापचयन की प्रक्रिया के द्वारा होता है। सावयवी व्यवस्था के अन्तर्गत इनमें से कोई भी इकाई यदि अपना कार्य करना बन्द कर दे अथवा दूसरे अंगों की क्रियाशीलता को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करने लगे तो सम्पूर्ण शरीर अस्वस्थ हो जाता है। इस दशा को हम सावयवी विघटन कहते है। दूसरा उदाहरण हम अपने कालेज का ले सकते है। एक संगठित इकाई के रूप में कालेज के अपने बहुत-से नियम तथा मर्यादाएँ है। प्रत्येक अध्यापक तथा कर्मचारी की नियुक्ति एक विशेष योग्यता के आधार पर होती है। तथा प्रत्येक अध्यापक, विद्यार्थी तथा कर्मचारी से अपनी-अपनी स्थिति के अनुरुप भूमिका का निर्वाह करने की आशा की जाती है। जब तक इन सभी इकाइयों के बीच नियमों के अनुसार आदर्श अन्तक्रिया चलती रहती हैं, कालेज की संरचना संगठित रहती है। यदि किसी विशेष अवधि में विद्यार्थी कालेज का अनुशासन भंग करके मनमानी करने लगें, शक्ति के द्वारा निहित स्वार्थों को पूरा किया जाने लगे, नियमों के अनुपयोगी हो जाने के बाद भी अधिकारियों द्वारा उन्हें कठोरतापूर्वक लागू किया जाता रहे, विद्यार्थी इससे असन्तुष्ट होकर हड़ताल करना आरम्भ कर दें, अभिभावक अपना उत्तरदायितव समझे बिना इसके लिए कालेज के प्रबन्ध को दोषपूर्ण बताने लगें तथा अध्यापक स्थिति का लाभ उठाकर विद्यार्थियों के साथ मेहनत करना छोड़ दें ,तो ये सभी दशाएँ सामान्य निराशा, पारस्परिक अविश्वास तथा स्थिति और भूमिका के असन्तुलन को जन्म देकर कालेज के ढाँचे को विघटित कर देंगी। इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट होता हैं कि समाज में जब कभी भी ऐसी दशा उत्पन्न हो जाती हैं जिसमें सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाली इकाइयों के बीच कोई आदर्श सन्तुलन नहीं रह जाता, तब इस स्थिति को हम सामाजिक विघटन की स्थिति कहते है।

सामाजिक विघटन की परिभाषा

सामाजिक विघटन की दशा को विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूप से परिभाषित किया है।

राबर्ट फैरिस का कथन है ,"सामाजिक विघटन मानव सम्बन्धों के प्रतिमानों तथा प्रक्रमों में पड़ने वाली बाधा है।"

थॉमस तथा नैनिकी ने सामाजिक विघटन को परिभाषित करते हुए लिखा है, "सामाजिक विघटन का तात्पर्य एक समूह के सदस्यों के व्यवहारों पर वर्तमान सामाजिक नियमों का प्रभाव कम हो जाना है।"

इलियट और मैरिल के अनुसार, "सामाजिक विघटन एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा समूह में सदस्यों के सम्बन्ध टूट जाते है अथवा भंग हो जाते है।" इसका तात्पर्य है कि यदि किसी विशेष परिस्थिति में कुछ सम्बन्ध अस्थाई रूप से टूट जाये तो इसे सामाजिक विघटन की स्थिति नही कहा जायेगा। इसके विपरीत, जब अनेक कारकों के फलस्वरूप एक श्रृंखला में सामाजिक सम्बन्धों का सन्तुलन निरन्तर बिगड़ता चला जाता है, तभी इस स्थिति को सामाजिक विघटन कहा जा सकता है।

फेयरचाइल्ड द्वारा सम्पादित समाजशास्त्र के शब्दकोश में कहा गया है कि, "सामाजिक विघटन का अर्थ सुस्थापित व्यवहार प्रतिमानों, संस्थाओं तथा नियन्त्रण की क्रियाशीलता में असन्तुलन तथा अव्यवस्था का उत्पन्न हो जाता है।" इसका तात्पर्य है कि वैयक्तिक तथा सामूहिक व्यवहारों पर नियन्त्रण स्थापित करने वाली व्यवस्था का असन्तुलित तथा दुर्बल हो जाना ही सामाजिक विघटन है।

लेमर्ट का विचार है कि, "विभिन्न सामाजिक समूहों तथा संस्थाओं के बीच असन्तुलन और व्यापक संघर्ष उत्पन्न हो जाना ही सामाजिक विघटन है।"

मारर नेसांस्कृतिक सम्पर्क के टूट जाने तथा संस्कृति के विभिन्न पक्षों के बीच उत्पन्न होने वाले असन्तुलन को सामाजिक विघटन कहा है। बाह्य रूप से इन परिभाषाओं में कितनी ही भिन्नता क्यों न प्रतीत होती हो, लेकिन मूल रूप से सभी परिभाषाएँ यही स्पष्ट करती है कि सामाजिस विघटन समाज का एक असन्तुलित और विकृत स्वरूप है, जिसके अन्तर्गत एक बड़ी संख्या में व्यक्ति अपने लक्ष्यों को अवैध साधनों के द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगते है। इसी स्थिति को इस सामाजिक सम्बन्धें के टूटने की स्थिति कहते है।

फेरिस का अनुसार, "सामाजिक विघटन मानवीय सम्बन्धों के प्रतिमानों और रचनाओं का भंग होना है |" संगठित समाज में सामाजिक सम्बन्धों के कुछ रचनाओं और प्रतिमान होते है। इनका अव्यवस्थित होने ही विघटन है।

15.3 सामाजिक विघटन के स्वरूप

सामाजिक विघटन का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। इसक अन्तर्गत वैयक्तिक जीवन के असामंजस्य से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय असामंजस्य तक की सभी परिस्थितियों का समावेश रहता है। वास्तविकता यह है कि वर्तमान युग में जैसे-जैसे हमारे संबंधों के क्षेत्र का विस्तार होता जा रहा है, सामाजिक विघटन की अवधारण भी उतनी ही व्यापक बनती जा रही है इस दृष्टिकोण से सामाजिक विघटन के अनेक स्वरूपों को स्पष्ट किया जा सकता है।

15.3.1 वैयक्तिक विघटन

वैयक्त्कि विघटन का क्षेत्र सबसे छोटा है लेकिन सामाजिक विघटन के स्वरूपों में यह सबसे अधिक आधारभूत है। विघटन की यह दशा है जिसमें व्यक्ति कुछ आंतरिक या बाह्य दशाओं के कारण अपनी विभिन्न परिस्थितियों से अभियोजन नहीं कर पाता और इसके फलस्वरूप सामाजिक मूल्यों के विरूद्ध व्यवहार करने लगता है। अपराध, बाल-अपराध, वेश्यावृत्ति, भिक्षावृत्ति तथा पागलपन आदि वैयक्तिक विघटन की कुछ विशेष अभिव्यक्तियाँ हैं। आत्महत्या वैयक्तिक विघटन का चरम रूप है। सामान्य रूप से वैयक्त्कि विघटन एक व्यक्ति की विशेष की समस्या प्रतित होती है। लेकिन इसके मूल में समाज का विघटन छिपा है। वास्तव में वैयक्तिक विघटन की दर तथा गम्भीरता जब अधिक हो जाती है तभी समाज के अन्य क्षेत्रों में विघटन की प्रक्रिया क्रियाशील होती है।

1.3.2 पारिवारिक विघटन

विघटन की इकाई जब व्यक्ति न होकर परिवार होता है, तब इसे हम पारिवारिक विघटन कहते हैं। कोई परिवार अपने सदस्यों पर प्रभावपूर्ण नियंत्रण रखने तथा उनके व्यवहारों को सामाजिक मूल्यों के अनुसार निर्देशित करने में जब निरंतर असफल होता रहता है, तब इसी दशा को पारिवारिक विघटन कहते है। सीमित अर्थ में पारिवारिक विघटन का तात्पर्य पत्नी-पत्नी एंव उनकी संतानों के बीच उत्पन्न होने होने वाले तनाव तथा असामंजस्य से समझा जाता है, लेकिन वास्तव में किसी भी प्रकार की पारिवारिक तनाव, परित्याग, विवाह विच्छेद बच्चों में अनुशासनहीनता तथा गृह-पालन आदि पारिवारिक विघटन के रूप में स्पष्ट करते हैं। साधारणतया परिवार का अनैतिक वातावरण, मृत्यु, आकस्मिक विपत्तियाँ, शारीरिक उत्पीड़न तथा सदस्यों में तीव्र मतभेद पारिवारिक विघटन का कारण होते है।

15.3.3 सांस्कृतिक विघटन

वर्तमान समय में सांस्कृतिक विघटन लगभग सभी समाजों की एक प्रमुख समस्या बनती जा रही है। सांस्कृतिक विघटन का एक ऐसी स्थिति है जिसमें अधिकांश व्यक्ति संस्कृति द्वारा स्वीकार आचरण के तरीकों का अस्वीकार करके व्यवहार के नये ढंग को प्रोत्साहन देना आरम्भ कर देते है। इसका परिणाम है धर्म, नैतिकता चरित्र, मनोरंजन, शिष्टाचार का अभाव तथा कला की नाटुकारिता आदि अनेक ऐसी समस्याएँ हैं, जो सांस्कृतिक विघटन के बढ़ते हुए प्रभाव को स्पष्ट करती है।

15.3.4 सामूहिक विघटन

सामूहिक विघटन का तात्पर्य सभी समूहो के जीवन में असामंजस्य तथा असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न होना है। सुविधा की दृष्टिकोण से सामूहिक विघटन को भी तीन उपभागों में विभाजित किया जा सकता है-

(क) सामूहिक विघटन वह स्थिति है जिसमें है वृहत समाज के अन्दर ही विभिन्न समूह स्वयं को एक-दूसरें से पृथक समुदाय मानकर एक दूसरे का विरोध करने लगते है तथा अपनी पृथक सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। इस मनोवृत्ति से उत्पन्न समस्या ही सामूहिक विघटन की गम्भीरता को स्पष्ट करती हैं। उदाहरण के लिए जातिवाद, अस्पृश्यता, पिछड़े वर्गो का शोषण ,सम्प्रदायवाद-क्षेत्रवाद, भाषायी संघर्षा तथा नई और पुरानी पीढ़ी के बीच संघर्ष आदि सामुदायिक विघटन के प्रतीक है।

(ख) राष्ट्रीय विघटन एक ऐसी स्थिति है जिसमें सरकार द्वारा व्यक्तियों की आवश्यकताओं को पूरा न हो जाने के कारण राष्ट्रीय जीवन में सामंजस्य की समस्या उत्पन्न हो जाती है। किसी देश में निर्धनता के प्रति उदासीनता, गन्दी

बस्तियों, हिंसा तथा लूटपाट की स्थिति को देखकर यह ज्ञात किया जा सकता है कि उस देश में राष्ट्रीय विघटन की सीमा क्या है।

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय विघटन का प्रमुख कारण साम्राज्यवादी मनोवृत्तियां तथा राजनीतिक प्रभुत्व की इच्छा है। विभिन्न देशो का कुछ शिविरों में विभाजित होना, पारस्परिक घृण तथा विद्वेप को प्रोत्साहन देना, राजनीतिक स्वार्थो में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना करना तथा घातक शास्त्रों की आपूर्ति के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को बढ़ावा ऐसे विघटन के उदाहरण है। युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय विघटन की सबसे चरम अभिव्यक्ति है।

15.4 सामाजिक संगठन तथा विघटन में अंतर

सामाजिक विघटन की उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि विघटन की स्थिति संगठन से पूर्णतया भिन्न है। निम्नांकित विवेचना से इन दोनों प्रक्रियाओं में अन्तर स्पष्ट करने से इनकी प्रकृति की ओर अधिक सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।

1. सामाजिक संगठन की धारणा एक ऐसे सामजिक सन्तुलन का बोध कराती है जिसके अंतर्गत सभी समूह तथा संस्थाएँ अपने पूर्व निर्धारित लक्ष्यों के अनुसार व्यवहार करके सामाजिक समस्या का बनाए रखने में योगदान करती हैं। सामाजिक विघटन का तात्पर्य किसी भी ऐसी स्थिति से है जिसमें एक समूह के सदस्यों से सम्बन्ध टूट जाते हैं और इस प्रकार सामाजिक जीवन अव्यवस्थित हो जाता है। इस दृष्टिकोण से संगठन तथा विघटन की दशाएँ एक प्रक्रिया के रूप में क्रियाशील होने के बाद भी एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं।

2. सामाजिक संगठन की अनिवार्य विशेषता किसी समूह के सदस्यों में एकमत होना अर्थात अधिकतर विषयों के प्रति समान दृष्टिकोण प्रदर्शित करना है। विघटन की दशा में वह एकमत समूह अनेक छोटे-छोटे तथा स्वार्थपूर्ण समूहों में विभाजित हो जाता है।

3. सामाजिक संगठन में नियोजन का गुण निहित है। समाज मनुष्यों के सक्रिय प्रयासों के बिना संगठित नहीं रह सकता। इसके विपरीत, विघटन के लिए व्यक्ति पृथक अथवा नियोजित रूप से प्रयत्न नहीं करते, बल्कि अज्ञात रूप से अनेक घटनाएँ समाज को विघटित करती रहती है।

4. सामाजिक संगठन की स्थापना विकास की एक लम्बी प्रक्रिया के बाद ही सम्भव हो पाती है। तुलनात्मक रूप से विघटन की दशा में बहुत कम समय लगता है।,

5.सामाजिक संगठन की दशा में सभी सदस्यों की स्थिति तथा भूमिका सुनिश्चित रहती है और अधिकांश व्यक्ति व्यक्ति समूह की आशाओं के अनुसार अपनी भूमिका का निर्वाहन करते रहते है। दूसरी ओर विघटन की दशा में व्यक्ति की भूमिका तथा स्थिति के बीच एक सामान्य असंतुलन स्पष्ट होने लगता है।

6. सामाजिक संगठन का अभिप्राय सामाजिक नियंत्रण की व्यवस्था का प्रभावपूर्ण बने रहना है। इसके विपरीत, नियंत्रण की साधनों में जब दिखावा अथवा प्रभावहीनता उत्पन्न हो जाती है, तब इसी दशा को हम विघटन कहते है।

7. सामाजिक संगठन तार्किक है, जबकि सामाजिक विघटन अतार्किक और भावनात्मक है। इसका तात्पर्य है कि संगठन के अन्तर्गत व्यक्ति के व्यवहार सामाजिक मूल्यों के अनुरूप होते हैं तथा व्यक्ति के व्यवहारो को

सरलता से समझा जा सकतसा है। विघटन की दशा में अनिश्चिता, भ्रम तथा विवेकशून्यता इतनी बढ़ जाती है कि किसी भी व्यक्ति के व्यवहारों का पूर्वानुमान कर सकना बहुत कठिन हो जाता है।

8. संगठन वांछित है और विघटन अवांछित है। इसके पश्चात भी ये दोनो दशाएँ कम या अधिक मात्रा में प्रत्येक समाज में साथ-साथ क्रियाशील रहती है। इसका कारण यह है कि एक ओर जहाँ बहुत से व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को व्यवस्थित ढ़ग से पूरा करने के लिए सामाजिक संगठन को महत्व देते हैं,वहीं दूसरी ओर समाज में होने वाले परिवर्तन विघटनकारी दशाओं को भी उत्पन्न करते रहते है। यह दशाएँ वे होती हैं जो इच्छित नहीं होती बल्कि, आकस्मिक रूप से स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं।

15.5 सामाजिक विघटन के लक्षण

जिस तरह प्रत्येक बीमारी को कुछ बाहरी लक्षणों की सहायता से पहचाना जा सकता है, उसी प्रकार सामाजिक विघटन की अवधि में तथा उससे पहले कुछ ऐसी दशाएँ उत्पन्न हो जाती है जिनके आधार पर एक समाज में विघटन की प्रकृति तथा सीमा का अनुमान लगाया जा सकता है। मार्टिन न्यूमेयर का कथन है कि जिस समूह में एकमत तथा उद्देश्यों की एकता भंग हो जाये, समाजिक संरचना छिन्न-भिन्न हो जायें और समाज को क्रियाशील बनाए रखने वाले सम्बन्ध जब टूट जायें,तो यह मान लेना चाहिए कि सामाजिक विघटन के लक्षण उत्पन्न हो गये है। विभिन्न विद्वानों ने जिन लक्षणों के आधार पर सामाजिक विघटन की प्रकृति को स्पष्ट किया है, उन्हें संक्षेप में निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है।

(1) स्थिति तथा भूमिका की अनिश्चितता

समाज में कभी-कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जब अधिकांश व्यक्तियों की स्थिति और भूमिका के बीच असन्तुलन की दशा उत्पन्न हो जाती है। व्यक्ति यदि परम्परागत आदर्श नियमों के अनुसार अपनी भूमिका का निर्वाह करने है, तो उन्हें सनातनी और पिछड़ा हुआ कहा जाने लगता है, जबकि नये मूल्यों से अनुकूलम करना स्वयं उनके लिए कठिन होता है। यह स्थिति जीवन को बहुत अनिश्चित बना देती है। उदाहरण के लिए, हमारे समाज में आज बहुत-सी शिक्षित स्त्रियाँ आजीविका कमाना अच्छा समझती है| पुरूष एकाकी परिवार व्यवस्था के पक्ष में होते जा रहे है तथा युवा सदस्य परिवार में अधिकाधिक अधिकारों की माँग करने लगे है। हमारे परम्परागत आदर्श-नियम इन परिवर्तनों का विरोध करते हैं, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति की प्रस्थिति और भूमिका के बीच एक गम्भीर असन्तुलन की समस्या उत्पन्न हो गयी है। वास्तव में, स्थिति और भूमिका की अनिश्चितता समाज में व्यापक असन्तोष, निराशा और असुरक्षा को जन्म देकर समाज को विघटित करती है।

(2) नियन्त्रण के साधनों की शक्ति में कमी-

सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न अभिकरण जैसे परिवार राज्य, शिक्षा संस्थाएँ, धर्म, कानून, प्रथा तथा लोकाचार आदि व्यक्ति और समूह के व्यवहारों को एक निश्चित स्वरूप देकर उन्हें सामाजिक मूल्यों के अनुसार कार्य करने को बाध्य करते है। समाज में कभी-कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जब व्यक्ति या तो नियन्त्रण के इन परम्परागत साधनों के अनुसार व्यवहार करना आवश्यक नहीं समझते अथवा स्वयं इन साधनों का रूप रूढ़िगत हो जाने से वे लोगों के व्यवहारों को प्रभावित करने में असफल होने लगते है। किसी भी समाज में नियन्त्रण के अभिकरण जब अप्रभावी हो जाते है तो विभिन्न स्वार्थ-समूहों के आचरण अनियन्त्रित हो जाते है और इस प्रकार पारस्परिक संघर्षो की सम्भावना बढ़ जाती है।

(3) एकमत का अभाव-

एकमत का अभाव वह दशा है जिसमें समाज के अधिकांश सदस्य भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को लेकर उन लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगते है, जो किसी समाज के जीवन के लिए बहुत महत्वपूर्ण समझे जाते है। इस स्थिति में एक भ्रमपूर्ण वातावरण ही उत्पन्न नही हो जाता बल्कि अनिश्चितता के वातावरण में प्रत्येक व्यक्ति अपने दायित्व को दूसरे व्यक्तियों पर डालने की मनोवृत्ति विकसित कर लेते है। इसके फलस्वरूप समस्याएँ सुलझने के स्थान पर और अधिक उलझ जाती है और फलस्वरूप सामाजिक विघटन की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है।

(4) लोकाचारों तथा संस्थाओं के बीच संघर्ष

प्रत्येक समाज की संस्थाओं अथवा कार्य-विधियों का निर्धारण वहाँ के लोकाचारों के अनुसार किया जाता है। संस्थाओं तथा लोकचारों में सहयोग है और पारस्परिक निर्भरता बने रहने से ही सामाजिक व्यवस्था उपयोगी रूप से कार्य करती है। किसी समय यदि इन संस्थाओं तथा लोकचारों के बीच संघर्ष होने लगता अथवा दोनों एक-दूसरे के विरोधी हो जाते है तो यह स्थिति सामाजिक विघटन का एक महत्वपूर्ण लक्षण बन जाती है। उदाहरण के लिए, हमारे परम्परागत लोकाचार जिन व्यवहारों को महत्वपूर्ण समझते थे उन्हीं को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए अन्तविवाह, जाति व्यवस्था तथा संयुक्त परिवार जैसी कुछ विशेष संस्थाओं का हमारे समाज में विकास हुआ। वर्तमान युग में संस्थाओं के रूप में तेजी से परिवर्तन होने लगा है, यद्यपि हमारे लोकाचार आज भी अपने प्राचीन रूप में है। नई संस्थाएँ लोकाचारों को अनुपयोगी मानती है और लोकाचार इन संस्थाओं को अनैतिक समझते है। इस संघर्ष के फलस्वरूप वे सभी दशाएँ उत्पन्न होने लगती है, जो समाज को विघटित करने के प्रति उत्तदायी होती है।

(5) समिति और समूहों के कार्यो के हस्तांतरण

सामाजिक व्यस्था के अन्तर्गत प्रत्येक समूह तथा समिति का एक विशेष प्रकार्य होता है, जिसकी समुचित पूर्ति होना सामाजिक ढाँचे के सन्तुलन के लिए आवश्यक होती है।प्रत्येक समूह और समिति को बहुत लम्बे समय तक कुछ विशेष उत्तरदायित्वों को पूरा करते रहने के कारण अपने-अपने क्षेत्र में विशेष कुशलता भी प्राप्त हो जाती है। यदि किसी ऐसी दशा में किसी विशेष अवधि में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाये जिसमें विभिन्न समितियों और समूहो का हस्तांतरण नये समूहों में होने लगे तो इससे समाज में तनाव तथा संघर्ष की भावना बढ़ जाती है। नई परिस्थितियों से अनुकूल करना भी सदस्य के लिए कठिन प्रतीत होने लगता है। उदाहरण के लिए आज, संयुक्त परिवार के कार्यो का दूसरी समितियों के हस्तांतरण के कारण हमारे समाज में नई समस्याएँ सामने आयी हैं, वे इस दशा के प्रभाव को स्पष्ट करती है।

(6) व्यक्तिवादिता में वृद्धि

व्यक्तिवादी विचारों में अधिक वृद्धि होना सामाजिक विघटन का एक स्पष्ट लक्षण है। व्यक्तिवादिता में वृद्धि होने से अधिकांश व्यक्ति समूह-कल्याण को कोई महत्व न देकर अपने निजी स्वार्थों को पूरा करना अधिक महत्वपूर्ण समझने लगते हैं। धीरे-धीरे इससे अनियन्त्रित प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन मिलता है, जिसके फलस्वरूप लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनुचित और अनैतिक साधनों के उपयोग को भी बुरा नहीं समझा जाता है। इस प्रकार व्यक्तिवादिता एक प्रक्रिया के रूप में सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को विघटित कर देती है|

(7) सामाजिक परिवर्तन की तीव्रता

समाज में बहुत तेजी से परिवर्तन होना भी सामाजिक विघटन का प्रमुख लक्षण है। परिवर्तन की गति बहुत तेज होने की दशा में अधिकांश व्यक्ति बदलती हुई दशाओं से जल्दी-जल्दी अनुकूलन नहीं कर पाते, उनकी प्रस्थिति और भूमिका के बीच असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है; समूह का जीवन अनियन्त्रित होने लगता है; लोकाचारों तथा आदर्श नियमों के प्रति विरोधपूर्ण मनोवृत्तियाँ विकसित होने लगती हैं तथा समाज में स्तरीकरण और श्रम-विभाजन की व्यवस्था टूट जाती है। ये सभी दशाएँ सामाजिक विघटन के लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी हैं।

उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त फैरिस ने सामाजिक विघटन के आठ अन्य लक्षणों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैः (1) दिखावा अर्थात नियंत्रण के साधनों के प्रभाव में कमी; (2) पवित्र तत्वों का ह्रास (3) स्वार्थो और रूचियोवादिता (4) वैयक्तिक स्वतंत्रता और वैयक्तिक अधिकार पर बल (5) सुख संबंधी व्यवहारों पर बल (7) पारिस्परिवक अविश्वास (8) अशान्तिपूर्ण घटनाएँ। इस संबंध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह सभी लक्षण सामाजिक विघटन के कारण नहीं है, बल्कि केवल उन दशाओ को स्पष्ट करता हैं जिनके विद्यमान होने पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कोई समाज किस सीमा तक विघटित है। इस दृष्टिकोण से इन लक्षणों को ‘समाजिक विघटन के मापदण्ड‘ भी कहा जा सकता है।

16.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में सर्वप्रथम सामाजिक विघटन की अवधारणा, अर्थ एवं परिभाषाओं के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् सामाजिक विघटन के लक्षणों का अध्यन किया जिसमें अनेक बिन्दुओं का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

16.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सामाजिक विघटन से आप क्या समझते हैं? समझाए।
2. सामाजिक विघटन की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
3. सामाजिक विघटन के लक्षणों की व्याख्या कीजिए।
4. सामाजिक विघटन के स्वरूपों का उल्लेख कीजिए।
5. सामाजिक संगठन तथा विघटन में अंतर समझाए।

16.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
2. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर
3. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटस
4. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।
5. लवानिया, एम.एम. एवं राठौड़, ए.एस. (1999) भारतीय समाज, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर

6. लवानिया, एम.एम. एवं पडियार, जी. (2010) भारत में सामाजिक समस्यायें, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर

7. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा

8. गुप्ता, एम. एल. एवं शर्मा डी.डी., मानव समाज, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2001।

9. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।

10. आहूजा, राम, सामाजिक समस्याऐं, रावत पब्लिकेशन्स, द्वितीय संस्करण, जयपुर एवं नई दिल्ली, 2000।

11. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर

12. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

cc

इकाई -16

वैयक्तिक विघटन

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 वयैक्तिक विघटन

16.2.1 वैयक्तिक विघटन का अर्थ एवं परिभाषा

16.3 वैयक्तिक विघटन के लक्षण

16.4 वैयक्तिक विघटन के सामान्य कारण

16.5 सारांश

16.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

16.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

16.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप-

1. वैयक्तिक विघटन की अवधारणा का वर्णन कर सकेंगे।
2. वैयक्तिक विघटन के लक्षणों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे|
3. वैयक्तिक विघटन के सामान्य कारणों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में वैयक्तिक विघटन विषय का वर्णन किया गया है। जब एक व्यक्ति ऐसी परिस्थिति में घिर जाता है कि न तो वह अपनी भूमिका और कार्यो के बारे में स्थिर मत रखता है और न ही सामाजिक सम्बन्धों को सुरक्षित महसूस करता है तो इस प्रकार होने वाले असंतुलन को वैयक्तिक विघटन कहा जाता है। व्यैक्तिक विघटन व्यक्ति के उन आचरणों को व्यक्त करता है जो संस्कृति द्वारा अनुमोदित आदर्शो से इतना विचलित होते है कि उनमे सामाजिक अस्वीकृति उत्पन्न हो जाती है। इसके अतिरिक्त माररक के अनुसार वैयक्तिक विघटन व्यक्ति के ऐसे सभी व्यवहारों की ओर संकेत करता है जो सांस्कृतिक रूप से मान्यता प्राप्त आदर्श नियमों में इस सीमा तक हट गये हों कि सामाजिक रूप से उनकी निंदा की जाने लगे। व्यक्ति के व्यवहार जब संस्कृति द्वारा निर्धारित आदर्श-नियमों से इतने विचलित हो जाते हैं कि उन्हें समूह द्वारा मान्यता प्रदान नहीं की जाती तब इसी स्थिति को वैयक्तिक विघटन कहा जाता है।

16.2 व्यैक्तिक विघटन

व्यैक्तिक विघटन को सामाजिक विघटन का आधार कह सकते हैं। व्यैक्तिक विघटन की स्थिति उस समय आती है जब व्यक्ति अपने पर्यावरण से समायोजन नही कर पाता है ऐसी स्थिति में व्यक्ति सामाजिक मूल्यों एवं नियंत्रणों का विरोध करता है फलस्वरूप समाज के विरूद्ध व्यवहार करता है| ई0 आर0 मावरर के अनुसार व्यैक्तिक विघटन व्यक्ति के उन आचरणों को व्यक्त करता है जो संस्कृति द्वारा अनुमोदित आदर्शो से इतना विचलित होते है कि उनमे सामाजिक अस्वीकृति उत्पन्न हो जाती है। व्यैक्तिक विघटन के लिए शारीरिक दोष, मानसिक स्थिति का कमजोर होना, आफलता, आकास्मिक घटनायें, इत्यादि मुख्य रूप से जिम्मेदार होते है| जब व्यैक्तिक विघटन की स्थिति गम्भीर हो जाती है तो समाज में विघटन की प्रक्रिया गतिशील हो जाती है।

19.2.1 वैयक्तिक विघटन का अर्थ एवं परिभाषा

समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। एक ओर व्यक्ति की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ उसे इस बात की प्रेरणा देती है कि वह मनमाने ढंग से अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर ले तो दूसरी ओर समाज के आदर्श-नियम उस पर अनेक तरह के नियन्त्रण लगाकर व्यवहार के स्वीकृत ढंगों के अनुसार लक्ष्यों को पूरा करने की सीख प्रदान करते हैं। व्यक्ति के व्यवहार जब तक सामाजिक मूल्यों, आदर्श-नियमों तथा मनोवृत्तियों के अनुरूप बने रहते हैं, उसे एक समाजीकृत प्राणी के रूप में देखा जाता है। लेकिन, जब कुछ विशेष परिस्थितियों में व्यक्ति सामाजिक मूल्यों की अवहेलना करना आरम्भ कर देता है, समूह की प्रत्याशाओं से भिन्न प्रकार का व्यवहार करने लगता है, स्वंय अपनी स्थिति को भ्रमपूर्ण बना लेता है तथा अपने क्रियाओं के द्वारा समूह की सुरक्षा के लिए इस सीमा तक खतरा उत्पन्न कर देता है कि उसका व्यवहार जन-सामान्य के लिए निन्दा का विषय बन जाये, तब यही दशा उस व्यक्ति के लिए वैयक्तित विघटन की स्थिति बन जाती है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति के जीवन में निषेधात्मक व्यवहारों तथा मनोवृत्तियों का समावेश हो जाना ही वैयक्तिक विघटन है। वैयक्तिक विघटन की इस प्रकृति को विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूप से परिभाषित किया है।

नॉर्टन का कथन है कि ‘‘जब एक व्यक्ति ऐसी परिस्थितियों में घिर जाता है कि न तो वह अपनी भूमिका और कार्यो के बारे में स्थिर मत रहता है और न ही सामाजिक सम्बन्धों को सुरक्षित महसूस करता है तो इस प्रकार होने वाले असन्तुलन को वैयक्तिक विघटन कहा जाता है। इस कथन में नॉर्टन ने वैयक्तिक विघटन को कुछ कारणों के आधार पर परिभाषित किया है। ये कारण भी आंशिक हैं, इसलिए इस परिभाषा को अधिक उपयुक्त नहीं समझा जाता।

मॉरर के शब्दों में, ‘‘वैयक्तिक विघटन व्यक्ति के ऐसे सभी व्यवहारों की ओर संकेत करता है जो सांस्कृतिक रूप से मान्यता-प्राप्त आदर्श नियमों में इस सीमा तक हट गये हो कि सामाजिक रूप से उनकी निन्दा की जाने लगे। ‘‘ इस परिभाषा में मॉरर ने वैयक्तिक विघटन को सांस्कृतिक आधार पर स्पष्ट करते हुए बताया है कि व्यक्ति के व्यवहार जब संस्कृति द्वारा निर्धारित आदर्श-नियमों से इतने विचलित हो जाते हैं कि उन्हें समूह द्वारा मान्यता प्रदान नहीं की जाती तब इसी स्थिति को वैयक्तिक विघटन कहा जाता है।

लेमर्ट ने वैयक्तिक विघटन को एक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया है। आपके अनुसार ‘‘वैयक्तिक विघटन वह दशा अथवा प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति के व्यवहार उसकी मुख्य भूमिका के अनुरूप नहीं रहते , बल्कि अपनी भूमिका के चुनाव में वह अनेक भ्रमों और संघर्षो का सामना करने लगता है।‘‘ इस परिभाषा में लेमर्ट ने (क) व्यक्ति की कुशलता तथा उसे प्राप्त होने वाली स्थिति, एवं (ख) व्यक्ति की स्थिति तथा उसकी भूमिका के बीच उत्पन्न होने वाले असन्तुलन को वैयक्तिक विघटन का आधार स्वीकार किया हैं।

इलिएट तथा मैरिल के अनुसार, ''सामाजिक नियमों तथा सम्पूर्ण समाज के साथ व्यक्ति का तादात्मीकरण न होना ही वैयक्तिक विघटन है।''

इन परिभाषाओं से वैयक्तिक विघन की प्रकृति को निम्नांकित विशेषताओं के आधार पर समझा जा सकता है।

(1) वैयक्तिक विघटन सामाजिक विघटन का ही प्रारम्भिक स्वरूप है।

(2) वैयक्तिक विघटन का तात्पर्य व्यक्ति की मानसिकता, स्थिति एवं भूमिका तथा व्यवहार-प्रतिमानों के असन्तुलन से है।

(3) वैयक्तिक विघटन की अभिव्यक्ति व्यक्ति की असामान्य मनोवृत्तियों तथा विचलित व्यवहारों के रूप में देखने को मिलती है।

(4) वैयक्तिक तथा सामाजिक विघटन एक-दूसरे के कारण तथा परिणाम है।

16.3 वैयक्तिक विघटन के लक्षण

थॉमस तथा नैनकी के अनुसार ''वैयक्तिक जीवन के संगठन को उन बहुत-सी मनोवृत्तियों तथा मूल्यों की संरचना के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिनका विकास सामाजिक अनुभवों से होता है एवं जिनके द्वारा चेतन या अचेतन रूप से व्यक्ति अपने आधारभूत उद्देश्यों को पूरा करने का प्रयत्न करता है।'' इस कथन से स्पष्ट होता है कि एक व्यक्ति का अपना जीवन-संगठन ही नैतिकता, कानून, सामाजिक सम्बन्धों, धर्म, व्यापार या मनोरंजन के क्षेत्र में उसके लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है। वैयक्तिक जीवन-संगठन के नियम ही व्यक्ति को विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में एक विशेष ढंग से व्यवहार करने की प्रेरणा देते हैं। इस दृष्टिकोण से वैयक्तिक जीवन-संगठन की विशेषतायें ही यह निर्धारित करती हैं कि व्यक्ति कौन-से व्यवहार करेगा और कौन -से नहीं, अथवा यह कि अपने भावी जीवन में व्यक्ति एक धार्मिक नेता, राजनीतिज्ञ, शिक्षाविद, क्लर्क, जुआरी, अपराधी आदि में से कौन-सा व्यक्तित्व ग्रहण करेगा। इन्हीं विशेषताओं के आधार पर समाज मे विभिन्न व्यक्तियों के व्यक्तिगत जीवन-संगठन में महान भिन्नता पायी जाती है और यही भिन्नता इस बात का निर्धारण करती है कि एक व्यक्ति कैसा ही और वह भविष्य में क्या बन सकता है।

समाज और संस्कृति का प्रयत्न सदैव यह होता है कि व्यक्ति के जीवन में ऐसे गुणों को विकसित किया जाये जो समाज द्वारा स्वीकृत हों। इसके फलस्वरूप समाज में अधिकांश व्यक्तियों की मनोवृत्तियों, व्यवहार सामाजिक मूल्यों तथा एक ही समाज में सदस्यों की मानसिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा प्रजातीय विशेषताओं में बहुत अन्तर देखने को मिलता है। युवा सदस्यों की मनोवृत्तियाँ वृद्ध व्यक्तियों से अक्सर बहुत भिन्न होती है। जटिल और औद्योगिक समूहों की तुलना में सरल एवं ग्रामीण समूहों में सामाजिक प्रत्याशाओं का रूप भिन्न-भिन्न होता है तथा सामाजिक परिवर्तन के साथ ही व्यक्ति स्वयं अपने व्यवहारों में भी संशोधन करता रहता है। इन विभिन्नताओं के कारण वैयक्तिक जीवन में भी महान भिन्नताएं कट्टर समर्थक बने रहते हैं, कुछ व्यक्ति आवश्यकतानुसार इनमें मामूली संशोधन कर लेना बुरा नहीं समझते , जबकि अनेक व्यक्ति अपने वैयक्तिक हितो की पूर्ति के लिए सामाजिक मूल्यों से पूर्णतया विचलित व्यवहार प्रदर्शित करने लगते हैं। इस दृष्टिकोण से उन लक्षणों को समझना आवश्यक हो जाता है, जिनके आधार पर किसी समाज में वैयक्तिक विघटन की समस्या तथा सीमा को समझा जा सकता है।

(1) सामाजिक मूल्यों से भिन्न मनोवृत्तियों

सामाजिक मूल्य प्रत्येक व्यक्ति के लिए विभिन्न सामाजिक तथ्यों, परिस्थितियों तथा व्यवहारों के अर्थ को स्पष्ट करते हैं। इनका कार्य समूह के सभी सदस्यों के व्यवहारों में एकरूपता बनाये रखना होता है। वैयक्तिक विघटन की दशा समाज में तब उत्पन्न होती है, जब व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ सामाजिक मूल्यों से भिन्न हो जाती हैं। ब्लूमर का कथन है कि साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति वस्तुओं को अपने संदर्भ में परिभाषित करता है, उस पर निर्णय लेता है, चुनाव करता है, योजना बनाता है और तभी किसी कार्य को पूरा करता है। व्यवहार की इस प्रक्रिया में व्यक्ति कभी-कभी यह भूल जाता है कि सामाजिक मूल्यों अथवा आदर्श नियमों के अनुसार उसे किस तरह का व्यवहार करना चाहिए। वह अक्सर उसी ढंग से कार्य करने लगता है, जिससे उसी को अधिकतम लाभ प्राप्त हो, भले ही अन्य व्यक्तियों को इससे कितनी ही हानि क्यों न होती हो। वह सामाजिक मूल्यों से भिन्न व्यवहार करने लगता है। वह वस्तुओं तथा परिस्थितियों को उसी दृष्टिकोण से देखने लगता है जैसा कि वह देखना चाहता है। ये भ्रान्त तर्क ही उसके जीवन के पथ-प्रदर्शक बन जाते हैं। मनोवृत्तियों में होने वाला यह परिवर्तन समाज के साथ व्यक्ति के अभियोजन को प्रभावित करता है। इस प्रकार व्यक्ति द्वारा सामाजिक मूल्यों की उपेक्षा करना, तिरस्कार करना अथवा उन्हें चुनौती देना एक ऐसी दशा पैदा करता है, जिसमें उसका अन्य व्यक्तियों से अच्छा समायोजन नहीं हो पाता है। इससे स्पष्ट होता है कि किसी व्यक्ति में सामाजिक मूल्यों से भिन्न मनोवृत्तियों का विकसित होना एक विघटित व्यक्तित्व का लक्षण है।

(2) सामाजिक आदर्श-नियमों से विचलन

प्रत्येक समाज के अपने कुछ आदर्श-नियम होते हैं। आदर्श-नियम व्यवहार करने का एक ऐसा तरीका है जो सम्पूर्ण समाज को स्वीकार होता है। आदर्श-नियम एक विशेष परिस्थिति में व्यक्ति के आचरणों का निर्धारण करते हैं तथा सामाजिक आधार पर व्यक्ति के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखते हैं। व्यक्ति कभी-कभी अपने लाभ के लिए व्यवहारों में इस तरह संशोधन कर लेता है, जो सामाजिक आदर्श-नियमों के प्रतिकूल होते हैं। यही आदर्श-नियमों से विचलित होने की स्थिति है जो वैयक्तिक विघटन का एक स्पष्ट लक्षण है। व्यक्ति आदर्श-नियमों से अनेक कारणों से विचलित हो सकता है। सर्वप्रथम, व्यक्ति की कभी-कभी यह धारणा बन जाती है कि आदर्श नियम सम्पूर्ण समूह के लाभ के लिए हैं, जबकि उसका वैयक्तिक हित इन नियमों से दूर हटकर ही सम्भव है। दूसरा कारण यह है कि कुछ व्यक्ति परम्परागत आदर्श नियमों को उपयोग को आवश्यक नहीं समझते। उदाहरण के लिए, वर्तमान युग में यौनिक नैतिकता, देश के प्रति ईमानदारी, धार्मिक आचरणों तथा ईमानदारी द्वारा उपार्जित आय के अवसर इसलिए उपयोगी व्यवहार नहीं समझा जाता कि इनका भौतिकवादी आदर्शों के अन्तर्गत् कोई महत्व नहीं है। स्वाभाविक है कि ऐसी धारणाओं के प्रभाव से व्यक्ति का जीवन समाज के आदर्श-नियमों से विचलित हो जाता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना जरूरी है कि आदर्श-नियम केवल वही नियम हैं, जिन्हें सम्पूर्ण समूह की स्वीकृति प्राप्त होती है। यदि एक बच्चा अपने माता-पिता के अपराधी व्यवहार को ही अपने समूह का आदर्श-नियम समझकर उनका पालन करना आरम्भ कर दे तो यह स्थिति 'आदर्श-नियमों से अनुरूपता' की दशा को स्पष्ट नहीं करती। सम्पूर्ण समूह के संदर्भ में उसका यह व्यवहार आदर्श-नियमों से विचलन ही कहलायेगा। इस प्रकार व्यक्ति के व्यवहारों में जब कभी भी आदर्श-नियमों से विचलन की स्थिति पैदा होती है, तब उसके वैयक्तिक जीवन के विघटित होने की पूरी सम्भावना होती है।

(3) सामाजिक संरचना का अवांछित दबाव

व्यक्ति पर सामाजिक संरचना का आवश्यकता से अधिक दबाव भी इस बात का संकेत है कि उस समाज में वैयक्तिक विघटन की दर में वृद्धि में हो रही है। यह सच है कि सामाजिक संरचना व्यक्ति की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ ही व्यक्ति के समाजीकरण में सामाजिक संरचना का अधिक हस्तक्षेप के अनेक प्रकार है| लेकिन व्यक्ति के जीवन में सामाजिक संरचना का अधिक हस्तक्षेप अनेक प्रकार के मानसिक तनावों, चिन्ताओं और कभी-कभी निराशा को जन्म देकर वैयक्तिक विघटन की दशा उत्पन्न करता है। लेपटन ने यह बताया है कि सामाजिक-सांस्कृतिक दशाएं जब व्यक्ति के सामूहिक सम्बन्धों तथा अन्तक्रियाओं में अधिक हस्तक्षेप करती है तो व्यक्ति अनेक मानसिक विकारों का शिकार हो जाता है। उदाहरण के लिए, सामाजिक संरचना यदि इस तरह की हो जिसमें उच्च आर्थिक स्थिति के व्यक्तियों को प्रत्येक क्षेत्र में विकास के अधिक अवसर प्राप्त होते हो तथा निम्न आर्थिक स्थिति के व्यक्तियों को ऊंची प्रस्थितियाँ प्राप्त करने से रोक दिया जाता हो तो इस बात की अधिक सम्भावना की जा सकती है कि ऐसे समाज में वैयक्तिक विघटन की दर अधिक होगी। भारत में जाति व्यवस्था सामाजिक तथा सांस्कृतिक आधार पर नीची जातियों पर अनेक निर्योग्यताओं को लागू करके वैयक्तिक विघटन को बढ़ाने का कारण है। दुर्खीम ने आत्महत्या की धारणा में यह स्पष्ट किया है कि वैयक्तिक जीवन में सामाजिक संरचना का आवश्यकता से अधिक दबाव आत्महत्या का एक प्रमुख कारण है।

(4) प्रस्थिति तथा भूमिका का असन्तुलन

वैयक्तिक जीवन का संगठन एक बड़ी सीमा तक व्यक्ति की संवेगात्मक सन्तुष्टि पर निर्भर होता है। इसी सन्तुष्टि के लिए व्यक्ति परिवार, खेल के साथियों, विषम लिंगियों, आर्थिक समूहों तथा अनेक दूसरे समूहों में सामाजिक और मानसिक सुरक्षा सुरक्षा प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है। इन व्यक्तियों अथवा समूहों से परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने में जब कोई बाधा उत्पन्न होती है, तो उसके वैयक्तिक जीवन में विघटन के तत्व स्पष्ट होने लगते हैं। यह स्थिति मुख्य रूप से तब पैदा होती है जब उसके समूह के अन्य सदस्य यह अनुभव करने लगते हैं कि उस व्यक्ति की भूमिका उसकी स्थिति के अनुरूप नहीं है। यदि व्यक्ति स्वयं भी यह समझने लग जाये कि उसमें अपनी स्थिति के अनुरूप भूमिका का निर्वाह करने की योग्यता या कुशलता का अभाव है, तो उसमें स्वयं भी अनेक तनाव उत्पन्न हो जाते हैं । यह स्थिति भावनात्मक असुरक्षा में वृद्धि करके वैयक्तिक विघटन का कारण बन जाती हैं। वारेन का कथन है कि ‘‘अपनी भूमिकाओं का सही ढंग से संचालन न कर सकना है वैयक्तिक विघटन का कारण है।‘‘ औद्योगिकीकरण, धर्मनिरपेक्षता और परिवर्तन के वर्तमान युग में व्यक्ति को प्राप्त होने वाली स्थितियों में इतनी जल्दी-जल्दी परिवर्तन होता रहता है कि वह स्वयं समाज की प्रत्याशाओं के अनुसार अपनी भूमिका का निर्धारण नहीं कर पाता । लिण्टन ने वैयक्तिक विघटन में प्रस्थिति और भूमिका की अनिश्चितता के प्रभाव को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ‘‘व्यक्ति अक्सर अपने आपको ऐसी परिस्थितियों के बीच पाता है कि वह अपनी और अन्य व्यक्तियों की प्रस्थिति तथा भूमिका के बारे में अनिश्चित होता है।यह स्थिति भ्रम और निराशा में वृद्धि करके वैयक्तिक जीवन को विघटित करती है।‘‘ उदाहरण के लिए, एक ही समय पर एक स्त्री को यदि पत्नी, माँ, मित्र, सेविका, कुल वधू और आजीविका उपार्जित करने वाली स्त्री की प्रस्थिति और भूमिका को ग्रहण करती है लेकिन इनमें संतुलन इस्थापित नहीं कर पाती तो इस प्रकार का असन्तुलन उसके जीवन को विघटित कर सकता है। आज विभिन्न समाजों में सामाजिक संरचना के अन्तर्गत जैसे-जैसे विभिन्न स्थितियों का रूप बदलता जा रहा है, वैयक्तिक विघटन की घटनाओं में वृद्धि होती जा रही है।

(5) अलगाव की भावना

आज अधिकांश समाजशास्त्री अलगाव की दशा को वैयक्तिक विघटन का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण और कारण मानते है। साधारण शब्दों में अलगाव एक ऐसी सामाजिक-मानसिक दशा है, जिसमें व्यक्ति सामाजिक जीवन के एक या अनेक क्षेत्रों में स्वयं को दूसरों से विमुख पाता है। अलगाव का अभिप्राय पाँच दशाओं से माना जाता है-

1. शाक्तिहीनता अर्थात व्यक्ति की यह धारणा कि वह अपनी सामाजिक दशाओं को किसी प्रकार प्रभावित नहीं कर सकता।

2. अर्थहीनता, अर्थात व्यक्ति के व्यवहारों तथा विश्वासों के मार्ग-निर्देशन का समाज में अभाव होना।

3. नियमहीनता, व्यक्ति का यह विश्वास कि किसी लक्ष्य को पाने के लिए अवैध साधनों को उपयोग में लाना आवश्यक है।

4. पृथक्करण अर्थात, एक ऐसी धारणा कि व्यक्ति का अपने समूह में कोई महत्व नहीं है।

5. अपवर्तन, अर्थात अपनी मेहनत तुलना में समुचित पुरस्कार प्राप्त करने की असमर्थता।

ये सभी वे दशायें हैं जो व्यक्ति को वैयक्तिक, सामूहिक ओर संवेगात्मक स्तर पर बहुत असुरक्षित और शंकालु बनाकर वैयक्तिक विघटन के लिए उचित वातावरण तैयार कर देती है। एरिक फ्राम के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि किस प्रकार अलगाव की भावना वर्तमान औद्योगिक समाजों में वैयक्तिक विघटन में वृद्धि करती है। आपका विचार है कि प्रौद्योगिक विकास ने मनुष्य को अनेक लाभ प्रदान किये| लेकिन जैसा समझा जाता है, वास्तव में वैसा नहीं हुआ। प्रौद्योगिक विकास के फलस्वरूप व्यक्ति के सम्बन्ध पहले की तरह मजबूत नहीं रहे। आज आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति स्वयं को शक्तिहीन, दिशाहीन, अकेला और असुरक्षित महसूस करता है। आज व्यक्ति ने अशिक्षा, भूख और अनेक दूसरी समस्याओं पर विजय प्राप्त कर ली है, लेकिन भावनात्मक दृष्टि से वह बिल्कुल अकेल रह गया है। इलिएट और मैरिल का यहाँ तक विचार है कि मद्यपान, मस्तिष्क की विकृति और आत्महत्या के रूप में वैयक्तिक विघटन की घटनायें प्रत्यक्ष रूप से इस स्थिति का परिणाम है। मर्टन ने समाज द्वारा स्वीकृत लक्ष्यों तथा उन्हें प्राप्त करने के साधनों में असन्तुलन की दशा को अलगाव का कारण माना है। आपके अनुसार जब कभी भी लक्ष्यों पर अधिक बल दिया जाता है लेकिन उन्हें प्राप्त करने के संस्थागत साधनों का समुचित विकास अथवा पालन नहीं होता तो अपराध की दर बढ़ जाती है, जो वैयक्तिक विघटन की परिचायक है।

16.4 वैयक्तिक विघटन के सामान्य कारण

वास्तविकता यह है कि वैयक्तिक विघटन अनेक दशाओ के संयुक्त प्रभाव का परिणाम होता हैं। यद्यपि समाजशास्त्री वैयक्तिक विघटन की समस्या को किसी एक कारक से सम्बन्धित करके ही स्पष्ट नहीं करते हैं| भारतीय पृष्ठभूमि में वैयक्तिक विघटन की दशा को अ कारणों के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता हैः

1. व्यक्तिवादी मनोवृत्तियों में वृद्धि

समाज में व्यक्तियों का व्यवहार कुछ ऐसी मनोवृत्तियों के द्वारा निर्धारित होता है, जो उस समाज की संस्कृति के द्वारा मान्य होती हैं। माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन, मित्रों, पड़ोसियों, शिक्षकों तथा अपने साथियों से हम किस प्रकार से सम्बन्धों की स्थापना करेंगे तथा उनके प्रति हमारा कर्तव्य क्या होगा, इसका निर्धारण हमारे सामाजिक मूल्यों तथा मनोवृत्तियों के द्वारा ही होती है। जब इन मनोवृत्तियों के स्थान पर व्यक्तिवादी मनोवृत्तियों में

वृद्धि होती है, तो समूह-कल्याण के स्थान पर व्यक्गित स्वार्थ प्रबल बन जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों का न केवल समूह में तिरस्कार होने लगता है बल्कि उनमें स्वयं भी समाज विरोधी भावनाओं का विकास हो जाता है। यह स्थिति वैयक्तिक विघटन का महत्वपूर्ण कारण है। भारत में आज व्यक्ति द्वारा परिवारों को अपनी-स्वार्थ पूर्ति का साधन मानना, दूसरें लोगो से स्वार्थपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना तथा नैतिकता के क्षेत्र में नयी-नयी धारणाओं को विकसित करना वैयक्तिक मनोवृत्तियों के उदाहरण हैं, जिनके फलस्वरूप यहाँ वैयक्तिक विघटन में वृद्धि हुई है।

2. पारिवारिक विघटन

अनेक परिस्थितियों में पारिवारिक विघटन वैयक्तिक विघटन का एक प्रमुख कारण बन जाता है। परिवार व्यक्ति के सामाजीकरण का सर्वप्रमुख आधार है। इसी के द्वारा व्यक्ति को अपनी संस्कृति और सामाजिक आदर्श-नियमों को ग्रहण करने की शिक्षा मिलती है। इसके विपरीत, यदि एक परिवार में पुरूष जुआ खेलते हों, शराब पीते हों, समाज-विरोधी कार्यो से अथवा बेईमानी से जीविका उपार्जित करते हों, बच्चे से गलत काम करवाते हों और उन्हें समुचित मार्गदर्शन न मिल पाता हों, तो इनमें से प्रत्येक परिस्थिति वैयक्तिक विघटन की दशा उत्पन्न करती है। भारत में औद्योगिकरण तथा पश्चिमीकरण के कारण पारिवारों के विघटन की समस्या आज हमारी एक प्रमुख समस्या बन गयी है। इसके फलस्वरूप तरह-तरह के अपराधों, अनैतिकता, मद्यपान और आत्महत्या की घटनाओं में भी वृद्धि हुई है, जो वैयक्तिक विघटन की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।

3. धार्मिक रूढ़िवादिता

धर्म का कार्य व्यक्तियों में मानवीय गुण उत्पन्न करना और उन्हें एकता के सूत्र में बाँधना है। यही धर्म जब रूढ़िवादी हो जाता है, तो व्यक्तियों में स्नेह, त्याग और बन्धुत्व के गुण न करके उनके बीच कटुता, शोषण, मानसिक तनावों और संघर्षो में वृद्धि करने लगता है। उनके फलस्वरूप अक्सर वैयक्तिक विघटन की समस्या उत्पन्न हो जाती है। भारत में मध्यकालीन युग से धर्म का जो रूढ़िवादी स्वरूप हमारे सामने आया है| उसके फलस्वरूप व्यक्तियों का सम्पूर्ण जीवन तरह-तरह के कर्मकाण्डों और बाह्य आडम्बरो को पूरा करने में ही व्यतीत हो जाता है |दो दिन का सार्वजनिक संतोष उसके सम्पूर्ण जीवन को ऋणग्रस्त बना देता है, आर्थिक संकट के कारण निर्धनता में वृद्धि होती है, सामाजिक कुप्रथाएँ व्यक्ति के सामने अनेक संकट उत्पन्न करती हैं, और इस प्रकार वैयक्तिक स्तर पर व्यक्ति उन सभी समस्याओं का शिकार हो जाता है, जौ वैयक्तिक विघटन के लिए उत्तरदायी हैं।

4. निर्धनता तथा बेकारी

ये दोनों दशाएँ संयुक्त रूप से वैयक्तिक विघटन में वृद्धि करती हैं| गरीबी और बेकारी की दशा में व्यक्ति जब तनाव से घिर जाता है, इसके फलस्वरूप वह या तो अपराधी व्यवहार करने लगता है अथवा मद्यपान और जुए का शिकार हो जाता है। अनेक परिस्थितयों में व्यक्ति का जीवन इतना विघटित हो जाता है कि वे आत्महत्या कर बैठते हैं। निर्धनता और बेकारी की दशा में व्यक्ति पर उसके परिवारों के सदस्य भी अविश्वास करने लगते हैं। ये दशाएँ व्यक्ति की कार्यक्षमता को कम कर देती हैं, जिसके फलस्वरूप उसे भविष्य में भी उसे सफलता पाना बहुत कठिन हो जाता है। भारत में आज गरीबी और बेकारी के कारण जिन लाखों व्यक्तियों का जीवन स्तर स्वयं उनके लिए भार बना हुआ है, उसमें वैयक्तिक विघटन की गम्भीरता को सफलतापूवर्क समझा जा सकता है।

5. स्थिति तथा भूमिका का असन्तुलन

साधारणतया जिस व्यक्ति में जैसी योग्यता, कुशलता और रुचि होती है उसी के अनुरूप उसे एक विशेष प्रस्थिति प्राप्त होती है, जिससे वह अपनी भूमिका उचित रूप से निर्वाह कर सकें। इसे हम स्थिति और भूमिका

सन्तुलन कहते हैं। यदि व्यक्ति को अपनी योग्यता और रूचि के अनुरूप स्थिति प्राप्त नहीं हो पातीं तो वह अपनी भूमिका का भी उचित रूप से निर्वाह कर पाता। इससे उसके अन्दर निराशा , हीनता और कभी-कभी प्रतिशोध की भावना उत्पन्न हो जाती हैं। यही भावना उसके व्यक्तिव को विघटित कर देती हैं।

6. आकस्मिक तथा संचयी संकट

सामाज में व्यक्ति के सामने जब आकस्मिक अथवा संचयी संकट आते हैं, तो वह बदली हुई परिस्थितियों से अचानक अनुकूलन नहीं कर पाता। इसके फलस्वरूप उसका जीवन विघटित हो जाता है। उदाहरण के लिए, भारतीय परिवार में जीविका उपार्जित करने वाले सदस्यों की अचानक मृत्यु हो जाना एक प्रकार का आकस्मिक संकट है, जो परिवार के दूसरे सदस्यो के लिये एक बड़ी समस्या बन जाती है। स्वतंत्रता के बाद भारत का विभाजन एक आकस्मिक संकट था, जिसने लाखों शरणार्थियों के वैयक्तिक जीवन को पूर्णतया विघटित कर दिया। संचयी संकट वे हैं, एक के बाद दूसरी प्रतिकूल प्रतिस्थितियो को जन्म देकर व्यक्ति के सामने सामाजिक और आर्थिक अनुकूलन की समस्या उत्पन्न करते हैं। अत्यधिक महंगाई, व्यापक भ्रष्टाचार तथा अनियोजित परिवर्तन इसी तरह के संकट हैं जो वैयक्तिक विघटन वृद्धि करते हैं।

7. औद्योगिकरण

अनेक दूसरे देशो के समान भारत में भी औद्योगिक विकास से आर्थिक विषमता में बहुत वृद्धि हुई है। इसके फलस्वरूप न केवल कुटीर उद्योग-धन्धों और दस्तकारी के काम मे लगे व्यक्ति बेरोजगार हो गये, बल्कि उनमें से लाखों लोगों को कारखानों अथवा खेतो में श्रमिको के रूप में कार्य करना आवश्यक हो गया। यह स्थिति व्यक्तियों के मानसिक सन्तुलन को बिगाड़कर तथा उनके सामने आर्थिक कठिनाइयाँ पैदा करके वैयक्तिक विघटन को प्रोत्साहन देती है। औद्योगिकरण के कारण व्यापारिक उतार चढ़ाव में वृद्धि होने से आज का उद्योगपति कुछ ही समय में दिवालिया हो सकता है ऐसे में व्यक्तिक विघटन हो जाना स्वाभाविक है।

8. मानसिक रोग

आधुनिक सभ्यता का एक कटु परिणाम मानसिक रोगो की वृद्धि के रूप में हमारे सामने आया है। आज नगरो में हजारो लागों का जीवन तरह-तरह के भय, चिन्ताओं, असुरक्षा की भावना तथा निराशाओं से घिरा हुआ है। समाज में प्राथमिक सम्बन्धों का अभाव हो जाने के कारण व्यक्ति को मानसिक सुरक्षा भी नहीं मिल पाती। इसके फलस्वरूप मानसिक तनाव और उत्तेजना की घटनाएँ व्यक्तियों के सम्पूर्ण जीवन को विघटित कर देती हैं।

(9) अस्वस्थ मनोरंजन

वर्तमान युग में परिवार के स्वस्थ मनोरंजन के स्थान पर अधिकांश व्यक्ति चलचित्रों द्वारा ही मनोरंजन की आवश्यकता को पूरा करते हैं। चलचित्रों को देखने के बाद व्यक्तियों में यह धारणा प्रबल हो जाती है कि वे भी अपराधी व्यवहारों के द्वारा अधिक धन, आनन्द और जीवन की सुख-सुविधाओं को प्राप्त कर सकते हें। बहुत से चलचित्र अपराध करने के नये-नये तरीके भी जनसामान्य के सामने प्रस्तुत करते हैं। इसे फलस्परूप समाज में न केवल नैतिकता का स्तर गिर जाता है, बल्कि बहुत से व्यक्ति अपराधी जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर देते हैं। चलचित्रों के कथानक तो केवल काल्पनिक होते हैं, लेकिन जब बहुत-से व्यक्ति व्यावहारिक रूप से इन्हीं का अनुकरण करने लगते हैं। इसके फलस्वरूप उनका मानिसक सन्तुलन इतना अधिक बिगड़ जाता है कि वे जुआ खेलने, शराब पीने, तस्करी करने अथवा चोरी और हिंसा करने लगते हैं। इस प्रकार चलचित्रों के आकर्षण ने कितने ही व्यक्तियों के जीवन को विघटित करके वैयक्तिक विघटन में वृद्धि की है।

(10) दोषपूर्ण संगति

वैयक्तिक विघटन का एक प्रमुख कारण दोषपूर्ण संगति है। किसी व्यक्ति के परिवार का वातावरण चाहे कितना ही अच्छा हो, लेकिन यदि उसके मित्रों और साथियों का जीवन दोषपूर्ण हो, तब उसमें तरह-तरह के दोष उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। धीरे-धीरे ये दोष उसकी आदत का अंग बन जाते हैं और यहीं से उसका व्यक्तिगत विघटन आरम्भ हो जाता है।

16.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई में सर्वप्रथम वैयक्तिक विघटन के बारे में अध्ययन किया गया। तत्पश्चात् वैयक्तिक विघटन के लक्षणों के विषय में ज्ञान प्राप्त किया तथा इकाई के अंत में वैयक्तिक विघटन के सामान्य कारणों के बारे में जानकारी प्राप्त किया।

16.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. वैयक्तिक विघटन से आप क्या समझते हैं परिभाषित कीजिए।
2. वैयक्तिक विघटन के लक्षणों पर प्रकाश डालिए।
3. वैयक्तिक विघटन के सामान्य कारणों की व्याख्या कीजिए।

16.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।
2. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।
3. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
4. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर
5. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटस
6. लवानिया, एम.एम. एवं राठौड़, ए.एस. (1999) भारतीय समाज, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
7. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा
8. लवानिया, एम.एम. एवं पडियार, जी. (2010) भारत में सामाजिक समस्यायें, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
9. गुप्ता, एम. एल. एवं शर्मा डी.डी., मानव समाज, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2001।
10. आहूजा, राम, सामाजिक समस्याऐं, रावत पब्लिकेशन्स, द्वितीय संस्करण, जयपुर एवं नई दिल्ली, 2000।
11. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
12. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

इकाई -17

पारिवारिक विघटन

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 पारिवारिक विघटन का अर्थ एवं परिभाषा

17.3 पारिवारिक विघटन के कारण

17.4 भारत में पारिवारिक विघटन

17.5 सारांश

17.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

17.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

17.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप

1. पारिवारिक विघटन के अर्थ एवं परिभाषा को समझ सकेंगे।
2. पारिवारिक विघटन के कारणों का वर्णन कर सकेंगे।
3. भारत में पारिवारिक विघटन के विषय तथा कारणों को जान सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में पारिवारिक विघटन के विषय में वर्णन किया गया है। पारिवारिक विघटन पारिवारिक सम्बन्धों में बाधा पड़ना है अथवा यह संघर्षों की श्रृंखला का वह चरम रूप है जो परिवार की एकता के लिए खतरा पैदा कर देता है। यह संघर्ष किसी भी प्रकार में हो सकते हैं। संघर्षों की इस श्रृंखला को पारिवारिक विघटन कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त पारिवारिक विघटन में उन बंधनों की थिशिलता, असामंजस्य अथवा पृथ्ककरण को सम्मिलित करते हैं जो समूह के सदस्यों को एक-दूसरे से बाँधे रखते है‘‘ पारिवारिक विघटन केवल पति-पत्नी के बीच तनाव पैदा होना ही नहीं है बल्कि माता-पिता व बच्चों के सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न होना भी पारिवारिक विघटन है। इस प्रकार पारिवारिक विघटन का अर्थ पारिवारिक बन्धनों की नियंत्रण शक्ति में कमी आना तथा सदस्यों के बीच मतैक्य का समाप्त हो जाना ही है।

17.2 पारिवारिक विघटन का अर्थ एवं परिभाषा

पारिवारिक विघटन का तात्पर्य पारिवारिक अव्यवस्था से है, चाहे यह पारिस्परिक निष्ठा और पारिवारिक नियंत्रण की कमी से संबंधित हो, अथवा व्यक्तिवादिता की वृद्धि से। एलिएट और मैरिल के शब्दों में कहा जा सकता है कि, "पारिवारिक विघटन में हम किन्ही भी उन बंधनों की शिथिलता, असामंजस्य अथवा पृथ्ककरण को सम्मिलित करते हैं, जो समूह के सदस्यों को एक-दूसरे से बाँधे रखते है" इस प्रकार पारिवारिक विघटन का अर्थ केवल पति-पत्नी के बीच तनाव पैदा होना ही नहीं है, बल्कि माता पिता और बच्चों के संबंधों में तनाव उत्पन्न होना भी परिवार के लिए उतना ही अधिक घातक है।

मॉरर के अनुसार "पारिवारिक विघटन का अर्थ पारिवारिक सम्बन्धों में बाधा पड़ना है, अथवा यह संघर्षो की श्रृखला का वह चरम रूप है जो परिवार की एकता के लिए खतरा पैदा कर देता है। ये संघर्ष किसी भी प्रकार का हो सकते हैं लेकिन संघर्षो की इस श्रृंखला को पारिवारिक विघटन कहा जा सकता है।" इस कथन से स्पष्ट होता है कि पारिवारिक सम्बन्धों में सामान्य तनाव होना पारिवारिक विघटन नहीं है, बल्कि परिवार के सदस्यों के बीच पारिस्परिक तनाव जब सयम-समय पर अनेक संघर्ष उत्पन्न करते रहते हैं, तभी इस दशा को हम पारिवारिक विघटन कहते है।

मार्टिन न्यूमेयर के शब्दो के अनुसार, " पारिवारिक विघटन का अर्थ परिवार के सदस्यों में मतैक्य और निष्ठा का समाप्त हो जाना, अथवा बहुधा पहले के सम्बन्धों का टूट जाना ,पारिवारिक चेतना का समाप्त हो जाना अथवा पृथक्ता में विकास हो जाना है।" पारिवारिक विघटन का यह अर्थ विघटन की प्रकृति के कारणों का ध्यान में रखते हुए दिया गया है। सामान्य शब्दों में कहा जा सकता है कि परिवार में जिस चेतना और निष्ठा के आधार पर सदस्य एक-दूसरे से बँधे रहते है और असीमित दायित्व की भावना को महसूस करते हैं, उसी चेतना और निष्ठा का कम हो जाना अथवा इसमें कोई गम्भीर बाधा पड़ना ही पारिवारिक विघटन है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश पड़ता हैः-

(क) पारिवारिक विघटन का अर्थ परिवार में सदस्यों के सम्बन्धों का टूट जाना है|

(ख) पारिवारिक विघटन का सम्बन्ध केवल पति-पत्नी के सम्बन्ध में उत्पन्न तनाव से ही नहीं है|

(ग) सम्बन्धों का टूटना ही नहीं, बल्कि परिवार के प्रति निष्ठा का भंग होना भी परिवार के संगठन के लिए उतना ही अधिक घातक है|

(घ) परिवार में आकस्मिक रूप से उत्पन्न होने वाला कोई विवाद अथवा तनाव पारिवारिक विघटन की दशा को स्पष्ट नहीं करता बल्कि दिन-प्रतिदिन उत्पन्न होने वाले संघर्ष जब परिवार की स्थिरता के लिए खतरा पैदा कर देते हैं, तभी हम इस दशा को पारिवारिक विघटन कहते हैं।

वास्तविकता यह है कि पति-पत्नी के स्नेह-सम्बन्ध इतने आंतरिक होते हैं कि परिवार को इन्ही सम्बन्धों में सुरक्षा प्राप्त होती है। इन सम्बन्धों कें कोई भी शिथिलता आने पर अधिकांश अवसरों पर परिवार विघटित हो जाते हैं। बहुत से व्यक्ति का विचार यह है कि पारिवारिक विघटन का रूप पति या पत्नी द्वारा दूसरे को छोड़ देना, विवाह विच्छेद, पारस्परिक सहायता करने में असफलता तथा शारीरिक उत्पीड़न आदि के रूप में देखने को मिलता है। वास्तव में ये दशाएँ स्वयं में महत्वपूर्ण जरूर हैं, लेकिन परिवार को आवश्यक रूप से विघटित नहीं करती। ऐसे बहुत से परिवार देखने को मिलेंगे जो आन्तरिक रूप से पूर्णतया विघटित हैं लेकिन उनमें बाह्य रूप से ऐसी दशाएँ देखने को नहीं मिलतीं। बहुत से पति-पत्नी एक-दूसरे से बिल्कुल असहमत होते हुए भी उपर्युक्त दशाएँ इसलिए

उत्पन्न नहीं होने देते, क्यों कि उनके धार्मिक विश्वास (जैसा भारत में) या कुछ सामाजिक –सांस्कृतिक दशाएं उन्हें ऐसा करने से रोकती हैं अथवा उनके आर्थिक स्वार्थ (जैसा की पश्चिमी देशो में) उन्हें ऊपरी रूप से एक-दूसरे से बाँधे रखते हैं| इस प्रकार पारिवारिक विघटन का अर्थ पारिवारिक बन्धनों की नियंत्रण शक्ति में कमी आना तथा सदस्यों के बीच मतैक्य का समाप्त हो जाना ही है।

17.3 पारिवारिक विघटन के कारण

परिवार का सर्वव्यापी संस्था है। प्रत्येक समाज में इसके द्वारा समाज की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति होने के बाद भी विभिन्न समाजो में इसका रूप एक जैसा नहीं होता। यही कारण है कि पारिवारिक संगठन को विघटित करने वाले कारणों की भी कोई सामान्य सूची नहीं बनाई जा सकती। भारत में महिलायें पर पति के बड़े से बड़े अत्याचार, या प्रतिकूल दशाएँ भी परिवार को बहुत कम विघटित कर पाते हैं जबकि पश्चिमी देशों में पुरूषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक अधिकारों की आकाक्षां करती हैं और उनके प्राप्त न होने की दशा में अक्सर पारिवारिक विघटन की समस्या उत्पन्न हो जाती है। इसका तात्पर्य है कि सामाजिक मूल्यों की भिन्नता के अनुसार प्रत्येक समाज में पारिवारिक विघटन के कारण पृथक-पृथक हो जाते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत विवेचन में हम अनेक सम्भावित कारणों का उल्लेख करेंगे जो परिवार को विघटित कर सकते हैं। कूगर ने पारिवारिक तनावों को पारिवारिक विघटन का प्रमुख कारण माना है। ये तनाव अनेक परिस्थितियों में उत्पन्न हो सकते हैं जिन्हें इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता हैः-

(1) परिवार के सदस्यों में उद्देश्यों की एकता समाप्त हो जाना तथा वैयक्तिक स्वार्थो का प्रभाव बढ़ जाना।

(2) सहयोगी प्रयत्नों में बाधा पड़ना अथवा उनका समाप्त हो जाना।

(3) एक-दूसरे के हित में होने वाले सेवाओं का अवरूद्ध हो जाना

(4) परिवार का अन्य सामाजिक समूहों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना अथवा उसकी प्रकृति में परिवर्तन हो जाना।

(5) पति-पत्नी के संबंधों में स्नेह, मधुरता और सहानुभूति जैसी विशेषताओं का समाप्त हो जाना।

(6) पति और पत्नी की संवेगात्मक मनोवृत्तियों में विरोध हो जाना अथवा उदासीनता आ जाना।

इलिएट और मैरिल के अनुसार

इलिएट और मैरिल ने पारिवारिक विघटन के विभिन्न कारणों का विस्तृत विवेचना किया है। सामान्यतया इन कारणो को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है- (1) समाज की संरचना में परिवर्तन (2) परिवार के कार्यो में परिवर्तन,(3) वैयक्तिक तथा सामाजिक तनाव। इन्ही पारिवारिक कारणों के आधार पर पारिवारिक विघटन की दिशा को अधिक व्यवस्थित रूप से समझा जा सकता है।

सामाजिक ढाँचे का निर्माण उन बहुत सी स्थितियों और भूमिकाओं से होता है जिनके अनुसार व्यक्ति एक-दूसरे से अपने सम्बन्धों की स्थापना करते हैं। व्यक्ति की प्रस्थिति तथा भूमिकाओं में अनिश्चितता उत्पन्न होने से सामाजिक संरचना बदनले लगती है। यही स्थिति पारिवारिक विघटन का प्रमुख कारण है। उदाहरण के लिये, विवाह के क्षेत्र में व्यक्तियों की स्थिति और भूमिका में आज बहुत से तेजी परिवर्तन हो रहें हैं और सच तो यह है कि पति और पत्नी की वर्तमान स्थिति उनकी परम्परागत स्थिति से बिलकुल ही भिन्न हो गयी है। वे उन भूमिकाओं को पूरा नहीं कर पाते जिनकी समाज के वृद्ध व्यक्ति उनसे आशा रखते हैं। इसके फलस्वरूप वे यह निर्णय नहीं कर पाते कि पत्नी

को जीविकापार्जन करना चाहिए या नहीं, घर की आर्थिक व्यवस्था का अधिकार किसे मिलना चाहिए, अथवा बच्चे पति के नियन्त्रण में रहें या पत्नी के , आदि।

यद्यपि पति अथवा पत्नी में से किसी की भी प्रस्थिति और भूमिका में असन्तुलन होने से परिवार विघटित हो जाता है लेकिन आधुनिक युग में स्त्री की स्थिति विशेष रूप से इतनी जटिल हो गयी है कि वह अपनी विभिन्न भूमिकाओं का निर्वाह कठिनता से ही कर पाती है। इसका कारण स्त्री की स्वभाव सम्बन्धी दुर्बलता अथवा जैविकीय अकुशलता नहीं है। बल्कि वे संक्रमणकालीन दशाएँ हैं जिनसे अभियोजन करना बहुत कठिन हो गया है।

वर्तमान समाजों में उत्पन्न इस प्रवृत्ति के अतिरिक्त कुछ दूसरे दशाएँ भी व्यक्ति की स्थिति और भूमिका में असन्तुलन उत्पन्न करके परिवार के जीवन को विघटित कर रही हैं। ये दशाएँ इस प्रकार हैः

(क) भूमिकाओं की बहुलता

आज विभिन्न सामाजिक वर्गों में स्त्रियों से एक-दूसरे से भिन्न व्यवहारों की आशा की जाती है। निम्न वर्ग में स्त्रियों से मां, गृहिणी और आजीविका उपार्जित करने वाली स्त्री की भूमिका का साथ-साथ निर्वाह करने की आशा की जाती है जबकि उच्च वर्ग स्त्री से साथी, सलाहकार, प्रेमिका आदि बनने की आशा रखता है। माध्यम वर्ग में, इन सबसे अलग पत्नी में यह सभी विशेषताएं होने की आशा की जाती है। इन परिस्थितियों में बहुत-सी स्त्रियाँ परिवार के अन्य सदस्यों से अभियोजन करने में कठिनाई महसूस करती है और अनुकूलन न कर पाने की दशा में उनका परिवार विघटित हो जाता है।

(ख) भूमिका से असन्तोष

स्त्री-शिक्षा में निरन्तर वृद्धि होने से वे पुरूषों के समान विभिन्न व्यवसायों में कार्य करने के योग्य हो गयी है। लेकिन साथ ही उन्हें घर के कार्य भी करने पड़ते हैं जिनसे आजीविका उपर्जित करने के बाद उन्हें छूट मिल जानी चाहिए थी। इस स्थिति ने कुछ परिवारों में इतना असन्तोष उत्पन्न कर दिया है कि वे बिल्कुल ही विघटित दिखाई देने लगे हैं।

(ग) विभिन्न भूमिकाओं के बीच संघर्ष

सामान्यतया पति और पत्नी की भूमिकाओं में संघर्ष होने की स्थिति में भी परिवार विघटित हो जाता है। पति अपनी पत्नी के ऐसे प्रत्येक कार्य को अवांछनीय समझता है जिसे परम्परागत रूप से वह अपना अधिकार मानता रहा था। पत्नी द्वारा अधिक कार्य करने अथवा आर्थिक जीवन में पति से अधिक सफल होने पर भी वह अक्सर परिवार में कोई अधिकार प्राप्त नहीं कर पाती। पति साधारणतया यह समझता है कि स्त्री का कार्य-क्षेत्र केवल खाना पकाना और बच्चों की देख-रेख करना है जबकि पत्नी प्रत्येक क्षेत्र में समान अधिकारों का दावा कर सकती है। भूमिकाओं का यह संघर्ष जब एक सीमा के बाहर निकल जाता है, तब परिवार विघटित हो जाता है।

17.4 भारत में पारिवारिक विघटन

भारत में पारिवारिक विघटन आज हमारी महत्वपूर्ण समस्याओं में से एक है। औद्योगिक क्रान्ति से पहले तक भारतीय परिवारों का रूप संयुक्त था लेकिन औद्योगीकरण, नगरीकरण, शिक्षा तथा पश्चिमी जीवन दर्शन के प्रभाव से भारतीय परिवारों की संरचना और प्रकार्यों में तेजी से परिवर्तन होने लगा। इस परिवर्तनों में न केवल परिवार की संरचना को अन्संतुलित बना दिया बल्कि सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों, सामंजस्य की प्रक्रिया, परिवार के अनुशासन तथा व्यवहार प्रतिमानों को विघटन करनेके लिए भी यही परिवर्तन सबसे अधिक उत्तरादायी

सिद्ध हुए। भारत में आज परिवार में अनेक समस्यायों ने जन्म ले लिया है जिनके आधार पर भारतीय परिवारों को विघटन प्रक्रिया की ओर अग्रसर माना जा सकता है| भारत में पारिवारिक विघटन से संबंधित प्रमुख समस्याएँ हैं:-

(1) पति-पत्नी के बीच असामंजस्य

यह वर्तमान भारतीय परिवारों की सबसे विषम समस्या हैं। परम्परागत रूप से संयुक्त परिवारों के अनुशासन, स्त्रियों में अनुभव तथा बाल विवाहों के कारण पति-पत्नी के बीच असामंजस्य की समस्या अनुभव नहीं की जाती थी। हमारे धर्मशास्त्र तथा सामाजिक मूल्य बचपन से ही स्त्रियों के अपने पति को 'देवता' तथा 'स्वामी' के रूप में मानने का प्रशिक्षण देते थे। आज स्त्रियों में शिक्षा का तेजी से प्रसार हुआ है, संयुक्त परिवारों के स्थान पर एकाकी परिवारों की स्थापना हुई है तथा आर्थिक क्षेत्र में स्त्रियों का सहभागिता बढ़ती जा रहा है। इस स्थिति में एक ओर पुरूष ऊपर से भले ही समानता और स्वतंत्रता का ढोंग रचाते रहें लेकिन मानसिक रूप से वे आज भी पत्नी को एक आश्रित नारी, सेविका, गृहणी तथा बच्चों की संरक्षिका के रूप में देखना चाहते है। इस स्थिति में पति-पत्नी की प्रत्याशाओं तथा व्यवहारों में असन्तुलन पैदा हो जाने के कारण अधिकांश परिवारों में कलह, संघर्ष ,अविश्वास तथा पृथक्करण सामान्य सी घटनाएं बनती जा रही हैं।

(2) विवाह विच्छेद की दर में निरन्तर वृद्धि

विवाह विच्छेद भारतीय परिवारों में विघटन की एक अन्य अभिव्यक्ति है। आज पारस्परिक त्याग, सहिष्णुता तथा विवाह बन्धन की पवित्रता के मूल्य कमजोर पड़ गये हैं। विवाह को एक ऐसे समझौते के रूप में देखा जाने लगा है जिसका उद्देश्य आर्थिक सुरक्षा तथा योनिक सुख प्राप्त करना है। इसके फलस्वरूप नगरीय क्षेत्रों में आज तलाक की संख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में भी पृथक्करण की समस्या आज पहले से अधिक गम्भीर है।

(3) बच्चों के समुचित पालन-पोषण का अभाव

यह हमारे परिवारों की एक स्थायी विशेषता बनती जा रही है| परम्परागत रूप से भारतीय परिवार बच्चों के समाजीकरण का आदर्श केन्द्र थे जहाँ उन्हें सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, शैक्षणिक तथा अन्य सभी प्रकार की शिक्षा देना परिवार के सदस्यों का नैतिक दायित्व था। आज परिवार में व्यक्ति का जीवन आत्म-केन्द्रित, अत्यधिक व्यस्त तथा भौतिक सुखों की ओर उन्मुख है। अधिकांश माता-पिता अपने दायित्व को भूलकर शिक्षा संस्थाओं को ही बच्चे का अन्तिम संरक्षक मानने लगे हैं। परिवार में बच्चों को नैतिक व सांस्कृतिक प्रशिक्षण के स्थान पर सदस्यों से तिरस्कार और उदासीनता का व्यवहार मिलने लगा है। इसके फलस्वरूप परिवार में ही तनाव तथा कलह में वृद्धि नहीं हुई हैं बल्कि बच्चों की अनुशासहीनता सामाजिक जीवन को भी विषाक्त करने लगी है।

(4) परिवार के नियन्त्रण में कमी

आधुनिक युग में व्यक्ति इस बारे में आश्वस्त हो गया है कि परिवार की परम्पराओं तथा मर्यादाओं को तोड़कर ही वह जीवन में सभी सुख-सुविधाएँ प्राप्त कर सकता है। परिवार के हास्य, व्यंग्य अथवा तिरस्कार का व्यक्ति के जीवन में कोई महत्व नही है। दूसरी ओर, वर्तमान परिवार व्यक्ति के लिए वे कार्य भी नहीं कर रहे हैं जिसके कारण उसके जीवन पर परिवार का नियन्त्रण बना हुआ था। आज व्यक्ति अपनी सामजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, शैक्षणिक, मनोरंजनात्मक और यहाँ तक कि जैविकीय आवश्यताओं के लिए भी अन्य संस्थाओं पर निर्भर हो गया है| अतः परिवार एक संस्था न रहकर एक सुविधापूर्ण तथा हित-प्रधान समिति के रूप में परिवर्तित हो रहे हैं।

(5) परिवार में संस्तरण का भंग हो जाना

परम्परागत रूप से भारतीय परिवारों में प्रत्येक सदस्य की प्रस्थिति दूसरे सदस्य की तुलना में पूर्व-निर्धारित थी। यह संस्तरण परिवारिक अनुशासन , सामाजिक अनुशासन तथा सामाजिक सीख की प्रक्रिया को प्रभाव पूर्ण बनाये रखने में भी बहुत सहायक था। आज अनियमित स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिवादी मनोवृत्तियों के कारण परिवार का प्रत्येक सदस्य अधिक से अधिक अधिकारों की माँग करने लगा है। आयु, नातेदारी तथा नैतिकता के सभी आधार धूमिल पड़ गये हैं। परिवार में वृद्ध सदस्यों का तिरस्कार करना तथा उन्हें सुविधाओं से वंचित रखना आम बात माना जाता है । इस स्थिति ने एक ऐसी पारिवारिक संरचना का निर्माण किया है जिसमें सभी सदस्य परिवार में शासक और अधिनायक की स्थिति में है लेकिन किसी की भी रूचि दूसरे के कल्याण में नहीं है।

(6) गृहणियों की स्थिति तथा भूमिका में संघर्ष

भारत में आज मध्यम और उच्च वर्ग के परिवारों में शायद ही कोई परिवार ऐसा जिसे जिसमें स्त्रियां अपनी स्थिति से सन्तुष्ट हों तथा पुरूष स्त्रियों की भूमिका में प्रति आश्वस्त हों। आज स्त्रियां शिक्षित होने के बाद सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करना चाहती है, बच्चों के प्रशिक्षण तथा घरेलू प्रबन्धक में वे पुरूष को बराबर का सहयोगी बनाना चाहती हैं तथा सामजिक स्वतन्त्रता एवं भौतिक सुखों में उनकी रूचि निरन्तर बढ़ रही है। पुरूष वर्ग इन आकांक्षाओं के अनुरूप स्त्रियों की स्थिति को मान्यता देने के लिए तैयार नहीं है। इसके फलस्वरूप भारत में पारिवारिक विघटन का खतरा निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

(7) नैतिकता के नए मापदण्ड

परिवार में आज नैतिकता के परम्परागत मूल्यों का प्रभाव धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। सबसे अधिक ह्रास यौन सम्बन्धी मूल्यों में देखने को मिलता है। आज माता-पिता के सामने ही परिवार के अविवाहित युवा सदस्यों द्वारा विषमलिंगय मित्रों से धनिष्टता प्रदर्शित कराना तथा उत्तेजक साहित्य का अध्ययन करना बुरा नहीं समझा जाता। विवाह को मात्र यौन सुख प्राप्त करने का साधन समझने के कारण यह अपने मूल उद्देश्यों से दूर हटता जा रहा है तथा प्रेम पर आधारित विवाह करना आधुनिकता की कसौटी बनती जा रही है| फ्रॅायडवादी विचारों तथा पश्चिमी जीवन -दर्शन के अनुसार ऐसे व्यवहार भले ही अच्छे मान लिए जायें लेकिन भारतीय जीवन-पद्धति में इन व्यवहारों ने अनेक नयी समस्याओं को जन्म देकर हजारों परिवारों को विघाटित कर दिया है।

(8) परिवार में व्याप्त रूढ़ियाँ

इनके दुष्परिणाम हमारे समाज में परिवारिक विघटन का ज्वलन्त उदाहरण है| भारत में आज ग्रामीण तथा नगरीय क्षेत्रों के अधिकांश परिवार अन्धविश्वासों, कुरीतियों, अनुपयोगी कर्मकण्डों तथा विघटनकारी प्रथाओं के बीच जीवन व्यतीत कर रहे हैं| जिन परिवारों में प्रत्येक सदस्य भाग्य की दुहाई देता हो,बाल-विवाह, दहेज, जाति भेद, कुलीनता तथा वैधव्य जीवन की निर्योग्यताओं को अपने लिए आदर्श समझता हो, ऋण लेकर भी कर्मकण्ड़ो को पूरा करना अनिवार्य समझता हो तथा पुरूषों द्वारा स्त्रियों का एवं वृद्ध स्त्रियों द्वारा नव-विवाहित स्त्रियों का शोषण किया जाता हो,उन्हें किस प्रकार संगठित परिवार कहा जा सकता है|

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भारत में पारिवारिक व्यवस्था आज संक्रमण के दौर से गुजर रही है कुछ विद्वानों का विचार है कि इस परिवर्तनशील दशा को पारिवारिक विघटन नहीं मानना चाहिए लेकिन वास्तविकता यह है कि आज भारतीय परिवारों में अभूतपूर्व संकट की समस्या उत्पन्न हुई है इसे विघटन की दशा न मानने से तो पारिवारिक पुनर्गठन की सम्भावना और भी कम रह जायेगी।

17.4.1 भारत मे पारिवारिक विघटन के कारण

हम पारिवारिक विघटन के कारणों को विस्तार से स्पष्ट कर चुके है लेकिन इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे कारणों का भी उल्लेख किया जाना आवश्यक है जो मुख्यतः भारत में परिवारों की विघटित करने के लिए अधिक उत्तरदायी सिद्ध हुए है। ये कारण निम्नलिखित हैं :-

1. औद्योगीकरण तथा नगरीकरण

औद्योगीकरण के कारण आज आजीविका उपार्जित करने का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है| गाँवों से लाखों श्रमिक प्रतिदिन उद्योगों में काम करने के लिए नगरों में आते हैं जहाँ स्थान की कमी के कारण परिवार के साथ स्थायी रूप से रह सकना सम्भव नहीं हो पाता । इसके फलस्वरूप गाँव में उनके बच्चे अपने पिता के नियन्त्रण से मुक्त हो जाते हैं| स्नेह के अभाव में परिवार के नियम उनके व्यवहारों की नियन्त्रित नहीं कर पाते अक्सर नगर की चकाचैध तथा मानसिक तनाव पुरूष को अपने परिवार के प्रति उदासीन बना देते है| यह स्थिति कभी -कभी स्त्रियों को भी अनैतिकता की ओर ले जाती है| ऐसे परिवारों का विघटित हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

2. दोषपूर्ण शिक्षा

शिक्षा की वर्तमान व्यवस्था युवा पीढी में शारीरिक श्रम तथा ग्रामीण रहन-सहन के प्रति घृणा पैदा करके भौतिक जीवन को प्रोत्साहन दे रही है| भारत में जहाँ लाखों युवक विवाह पश्चात् भी नगर में शिक्षा ग्रहण करने आते हैं| धीरे-धीरे अपने ग्रामीण परिवार से उदासीन हो जाते हैं, माता-पिता भी बच्चे में उच्च संस्कारों की अपेक्षा कृत्रिम व्यवहारों की सीख को ही शिक्षा की सार्थकता के रूप में देखते है| यही बच्चे बाद में जब परिवार के आदर्श नियमों, प्रथाओं, मर्यादाओं तथा अनुशासन को तोडना है तो परिवार विघटित होना आरम्भ हो जाता है| वर्तमान शिक्षा ने आकांक्षाओं, आन्दोलनकारी प्रवृत्तियों तथा व्यक्तिवादिता को जन्म दिया है| उसमें भारतीय परिवारों में पहले से विद्यमान त्याग , आत्म-संयम तथा स्नेह के गुण समाप्त होते जा रहे हैं | इसी से परिवार विघटित रहे हैं।

3. आर्थिक तनाव

भारत में आर्थिक तनाव आज अपनी चरम सीमा पर है जिसका परिवारों के संगठन पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है| एक ओर हमारे देश में आज लगभग तीन करोड़ व्यक्ति बेरोजगार है तो दूसरी ओर लगभग आधी जनसंख्या निर्धनता की सीमा-रेखा से नीचे की जिन्दगी व्यतीत कर रही है| आर्थिक विषमताओं के बाद भी स्त्रियों द्वारा जीविका उपार्जित करना अच्छा नही समझा जाता| यह आर्थिक तनाव पारस्परिक अविश्वास को प्रोत्साहन देकर, परिवार में कलह को बढाकर, पुरुषों को मद्य तथा जुए की ओर प्रवृत्त करके तथा कभी-कभी स्त्रियों को अनैतिक कार्यो के लिए बाध्य करके परिवार को विघटित कर रहे है।

4. पश्चिमी मनोवृत्तियाँ

भारतीय परिवारों विघटित करने में पश्चिमी मनोवृत्तियाँ बहुत प्रभावपूर्ण सिद्ध हुई है। पश्चिमी जीवन-दर्शन ने हमारे समाज में धीरे-धीरे यह विचारधारा विकसित की कि केवल एकाकी परिवारों के द्वारा ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है और यह कि परिवार में युवा सदस्यों की स्थिति वृद्ध सदस्यों से कम महत्वपूर्ण नहीं, इसके अतिरिक्त स्त्री स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन देकर परम्परागत मूल्यों को रूढिकर सिद्ध करके तथा आचरण के नये तरीकों को लोकप्रिय बनाकर भी पश्चिमी जीवन-दर्शन ने हमारे परिवारों की स्थिरता को कम किया है| पश्चिम

की व्यक्तिवादी तथा सुखवादी मनोवृत्तियों का ही परिणाम है कि आज बीमारी, बेकारी, अपंगता , वृद्धावस्था ,वैधव्य अथवा किसी अन्य संकट की दशा में व्यक्ति अपने परिवार में ही स्वयं को अकेला और असहाय महसूस करने लगा है।

5. सामाजिक संरचना में परिवर्तन

हमारी परम्परागत सामाजिक संरचना में उत्पन्न होने वाले वर्तमान परिवर्तन भी पारिवारिक विघटन के लिए उत्तरदायी है उदाहरण के लिए विवाह आज परिवार का दायित्व न होकर व्यक्ति की इच्छा का विषय बन गया है| संयुक्त सम्पत्ति की धारणा का लोप हो चुका है| धर्म आचरण की शुद्धता से सम्बन्धित न रहकर एक संगठित व्यवसाय बनता जा रहा है| नैतिक मूल्य निरन्तर टूट रह है| विभिन्न वर्गों के लोगों की स्थिति तथा भूमिका का संतुलन लगभग नष्ट हो चुका है| शिक्षा में सामाजिक व सांस्कृतिक सीख का कोई स्थान नही है तथा आर्थिक विकास को ही सामाजिक संगठन का सबसे महत्वपूर्ण आधार समझा जाने लगा है| सामाजिक संरचना में उत्पन्न ये सभी परिवर्तन परिवार की पवित्रता को नष्ट करके इसे विघटन की ओर ले जा रहे है।

6. नये सामाजिक अधिनियम

भारत में स्वतन्त्रता के बाद बनने वाले सामाजिक अधिनियमों का मुख्य उद्देश्य रूढ़ियों तथा कुरीतियों के प्रभाव को कम करके सामाजिक न्याय में वृद्धि करना था, लेकिन दुर्भाग्य से यही अधिनियम पारिवारिक विघटन का भी महत्वपूर्ण कारण बन गये । हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम के फलस्वरूप परिवार की सम्पत्ति अथवा संयुक्त कोष की धारणा समाप्त हो गई तथा भारत जैसे खेतिहर देश में भूमि के विभाजन को प्रोत्साहन मिला । हिन्दू विवाह अभिनियम ने विवाह विच्छेद को प्रोत्साहन देकर बच्चों को आर्थिक संरक्षण तो दिया लेकिन उन्हें कहीं अधिक उच्छृखल तथा अनुशासनहीन भी बना दिया ।

7. धर्म के प्रभाव के ह्रास

परम्परागत रूप से भारतीय परिवारों में धार्मिक दायित्वों को पूरा करना वह सबसे दृढ आधार था जो परिवार के सदस्यों को एक-दसरों से बाँधे रखता था वर्तमान युग में धर्म की व्याख्या दायित्व -बोध के आधार पर न करके भ्रान्त तर्को तथा वैयेक्तिक स्वार्थो के आधार पर की जाने लगी है| इसके फलस्वरूप धर्म तथा अर्थ का निर्वाह परिवार का कार्य न रहकर व्यक्तिगत कार्य बन गया है| संस्कारों को रूढियों के रूप में देखा जाने लगा है तथा अनुष्ठानों की पूर्ति को परिवार में आवश्यक नही समझा जाता है| इसके फलस्वरूप परिवार के संगठन का आधार भावनात्मक न रहकर सुविधा के सम्बन्धों पर आधारित हो गया। यही वह स्थिति है जिसने परिवार में तरह-तरह के तनावों संघर्षो तथा वैमनस्य को जन्म देकर इसे विघटित कर दिया।

उपर्युक्त कारण भारतीय परिवारों को विघटित करने वाले कुछ प्रमुख कारण है| इनके अतिरिक्त वर्तमान परिवारों में सदस्यों के कार्यो की बहुलता, परिवार के कार्यों का दूसरी समितियों को हस्तान्तरण, सांस्कृतिक मिश्रण के कारण पति-पत्नी के व्यवहारों में भिन्नता बच्चों के प्रति बढती हुई उदासीनता, नैतिक मूल्यों में संघर्ष हित प्रधान सम्बन्धों में वृद्धि तथा स्थानीय गतिशीलता आदि वे सहयोगी दशाएँ जो भारत में पारिवारिक विघटन में निरन्तर वृद्धि कर रही है।

17.5 सारांश

इस इकाई में सर्वप्रथम पारिवारिक विघटन के अर्थ तथा परिभाषा का अध्ययन किया गया |इसके पश्चात् पारिवारिक विघटन के कारणों के विषय में जानकारी प्राप्त की तथा उक्त में भारत में पारिवारिक विघटन तथा विघटन के कारणों के विषय में अध्ययन किया।

17.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. पारिवारिक विघटन की अवधारणा को समझाइये।
2. पारिवारिक विघटन के कारणों पर प्रकाश डालिए।
3. भारत में पारिवारिक विघटन के स्वरूप का वर्णन कीजिए।
4. भारत में पारिवारिक विघटन के कारणों की व्याख्या कीजिए।

17.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।
2. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।
3. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
4. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर
5. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटस
6. लवानिया, एम.एम. एवं राठौड़, ए.एस. (1999) भारतीय समाज, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
7. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा
8. लवानिया, एम.एम. एवं पडियार, जी. (2010) भारत में सामाजिक समस्यायें, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
9. गुप्ता, एम. एल. एवं शर्मा डी.डी., मानव समाज, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2001।
10. आहूजा, राम, सामाजिक समस्याऐं, रावत पब्लिकेशन्स, द्वितीय संस्करण, जयपुर एवं नई दिल्ली, 2000।
11. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
12. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

इकाई -18

सामाजिक समस्या

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 सामाजिक समस्या का अर्थ एवं परिभाषाएँ

18.3 सामाजिक समस्या की विशेषताएँ

18.4 सामाजिक समस्या के प्रमुख कारण

18.5 सामाजिक समस्या के सामान्य तत्व

18.6 सामाजिक समस्याओं का वर्गीकरण

18.7 व्यक्तिगत और सामाजिक समस्याओं में अन्तर

18.8 सामाजिक समस्याओं का मापन

18.6 सारांश

18.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

18.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

18.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप -

1. सामाजिक समस्याओं के अर्थ एवं विशेषताओं का वर्णन कर सकेंगे।
2. तत्पश्चात् सामाजिक समस्याओं के कारणों एवं तत्वों के विषय में ज्ञान प्राप्त करेंगे।
3. सामाजिक समस्याओं के वर्गीकरण तथा सामाजिक समस्याओं के मापन के विषय को समझ सकेंगे|
4. व्यक्तिगत तथा सामाजिक समस्याओं में अन्तर को समझ सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

सामाजिक समस्याएँ समाज एक अविभाज्य अंग है। मानव समाज न तो कभी भी सामाजिक समस्याओं से पूर्णतः मुक्त रहा है और न ही भविष्य में कभी रहने की सम्भावना है | समाज में गतिशीलता और परिवर्तनशीलता बढ़ने के साथ –साथ सामाजिक समस्याएँ भी बढती हैं और इनका स्वरुप भी परिवर्तित होता है | वर्तमान भारतीय समाज की सामाजिक समस्याएं प्राचीन काल की सामाजिक समस्याओं से भिन्न हैं | सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने

के लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक समस्याओं का उन्मूलन किया जाए |सामाजिक समस्याओं के उन्मूलन के लिए उनके अर्थ , प्रकृति ,प्रकार , तथा कारणों को समझना आवश्यक है |

18.2 सामाजिक समस्या का अर्थ एवं परिभाषाएँ

पाल डर्टन के अनुसार ''सामाजिक समस्या वह दशा है जो अवैध रूप से अत्यधिक संख्या में व्यक्तियों के जीवन को प्रभावित करती हैं तथा जिसके विषय में यह समझा जाता है कि सामूहिक प्रयासों के द्वारा इसमें सुधार किया जा सकता है।''

रिचार्ड सी. फुल्टर एवं रिचार्ड मायर्स के अनुसार, ''व्यवहार के जिन प्रतिमानों या परिस्थितियों को किसी समय समाज के बहुत से सदस्य आपत्तिजनक अथवा अवाँछनीय मानते हों, वे ही सामाजिक समस्यायें हैं। इन सदस्यों की यह मान्यता रहती है कि इन समस्याओं को हल करने और उनके कार्यक्षेत्र को कम करने के लिए सुधारात्मक नीतियों, कार्यक्रमों एवं सेवाओं की आवश्यकता होती है।''

वाल्स एवं फर्फे के मत में, ''सामाजिक समस्या सामाजिक आदर्शों का विचलन है जिसका निराकरण सामूहिक प्रयास से ही सम्भव है।''

शेपर्ड तथा वास के अनुसार, ''एक सामाजिक समस्या समाज की कोई भी ऐसी सामाजिक दशा है जिसे समाज के एक बहुत बड़े भाग या शक्तिशाली भाग द्वारा अवाँछनीय और ध्यान देने योग्य समझा जाता है।''

रोब एवं सेल्जनिक के अनुसार, ''सामाजिक समस्या मानवीय सम्बन्धों से सम्बन्धित एक समस्या है जो समाज के लिए एक गम्भीर खतरा पैदा करती है अथवा जो व्यक्तियों की महत्वपूर्ण आकांक्षाओं की प्राप्ति में बाधाएँ उत्पन्न करती है''।

डब्ल्यू. वेल्स वेवर के मतानुसार, ''सामाजिक समस्या एक ऐसी दशा है जो चिन्ता, तनाव, संघर्ष या नैराश्य उत्पन्न करती है तथा आवश्यकता की पूर्ति में बाधा डालती है।''

पाल लैण्डिस के मतानुसार, ''सामाजिक समस्यायें व्यक्तियों की कल्याण सम्बन्धी अपूर्ण आंकाक्षाएँ हैं।''

अरनाल्ड एम. रोज के अनुसार, ''सामाजिक समस्या एक ऐसी परिस्थिति है जो किसी समूह के द्वारा अपने सदस्यों के लिए असन्तोष के रूप में देखी जाती है और जिसमें अच्छे विकल्पों को मान्यता दी जाती है ताकि समूह में कई व्यक्ति परिवर्तन लाने के लिए प्रेरित होते रहें। इसे सामाजिक समस्या इसलिए माना जाता है क्योंकि यह सामाजिक वातावरण में ही पायी जाती है और उत्तरदायी कारणों को इस रूप में देखा जाता है कि वे पर्यावरण में ही उपस्थिति हैं।''

उपरोक्त परिभाषाओं के अध्ययन एवं अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि ''सामाजिक समस्या, समाज द्वारा निर्धारित मूल्यों, प्रतिमानों, आदर्शों, मनोवृत्तियों में आये तीव्रतम परिवर्तनों से उत्पन्न विघटनकारी शक्तियों के प्रादुर्भाव से सृजित वे स्थितियाँ हैं जिनमें सामाजिक बुराइयों का आधिक्य होता है।'' इन परिस्थितियों में समाज में रहने वाले लोगों की आकांक्षाएँ पूर्ण नहीं हो पातीं और वे व्याधिकीय बुराइयों में आकर सामाजिक समस्या में संलिप्त हो जाते हैं।

18.3 सामाजिक समस्या की विशेषताएँ

सामाजिक समस्यायों की परिभाषाओं का अध्ययन एवं अवलोकन करने से सामाजिक समस्या की निम्नलिखित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं:-

1. सामाजिक समस्यायें मात्र वही समस्यायें हैं जिनका सम्बन्ध सामाजिक संरचना से होता है। प्राकृतिक एवं जैविकीय समस्याओं को सामाजिक समस्या कहना न्यायोचित नहीं है।
2. सामाजिक नियमों, प्रथाओं, आदर्शों, मूल्यों, व्यवहारों, मनोवृत्तियों का उल्लंघन करने, विचलनपूर्ण व्यवहार करने की दशाएँ सामाजिक समस्या को प्रदर्शित करती हैं।
3. कुछ व्यक्तियों के पारस्परिक अभियोजन में उत्पन्न होने वाली बाधाओं को सामाजिक समस्या नहीं कहा जा सकता बल्कि सामाजिक समस्या में सामूहिकता का तत्व विद्यमान होता है।
4. सामाजिक सुधार, सामाजिक नीति का निर्धारण एवं क्रियान्वयन, सामाजिक क्रिया द्वारा जन जागरण, सहभागिता आदि सामाजिक समस्या से सम्बन्धित वे चरण हैं, जिनके माध्यम से ग्रामीण अथवा नगरीय किसी भी समुदाय में इसका निवारण सम्भव होता है।

18.4 सामाजिक समस्या के प्रमुख कारण

समाज में विभिन्न प्रकार के समूह का समावेश होता है और इन समूहों की संरचना भी भिन्न प्रकार की होती है, इनकी आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं में भी विविधता होती है। समाज में नाना प्रकार की सामाजिक समस्यायें विद्यमान होती हैं। ये सामाजिक समस्यायें स्वतः प्रस्फुटित नहीं होतीं वरन इनके पुलकन का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। इन कारणों में सामाजिक संरचना में आये तीव्र परिवर्तनों के फलस्वरूप सामाजिक विघटन, सामाजिक अगतिशीलता एवं सामाजिक कानूनों, प्रथाओं एवं आदर्शों में विखण्डन प्रमुख हैं। सामाजिक विघटन की स्थित उत्पन्न होने पर सामाजिक व्यवस्था का विछिन्न हो जाना स्वाभाविक है और ऐसी स्थिति में सामाजिक समस्याओं का जन्म होता है। इसी प्रकार जब सामाजिक आकांक्षाएँ अधिक्य हो जाती हैं उस स्थिति में उनका पूर्ण होना चिन्ता का विषय है परिणामस्वरूप सामाजिक समस्यायें पैदा होती जाती हैं। जैसे-जैसे समाज गतिशील होता जाता है वैसे-वैसे सामाजिक समस्याओं का प्रादुर्भाव होता जाता है। इसी प्रकार समाज में प्रचलित विभिन्न प्रथाओं के कारण भी सामाजिक समस्या उत्पन्न होती है। अतः यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक समस्या उत्पन्न होने के एक नहीं वरन् अनेक कारण हैं। विभिन्न विद्वानों द्वारा बताये गये सामाजिक समस्या के कारणों का वर्णन निम्नलिखित रूप से विनिर्दिष्ट किया गया हैः

पी. एच. लेण्डिस ने सामाजिक समस्याओं के चार प्रमुख कारणों का निरूपण किया है, जो हैं:

1. वैयक्तिक समायोजन में असफलता,
2. सामाजिक संरचना में कमी,
3. संस्थात्मक समायोजन में असफलता, तथा
4. सामाजिक नीतियों में संस्थात्मक विलंबन।

रॉब और सेल्जनिक ने सामाजिक समस्या के लिए उत्तरदायी पाँच कारणों का निरूपण किया है जो हैं:

1. जब एक संगठित समाज के लोगों के सम्बन्धों को सुचारू रूप से संचालित तथा नियमित करने की योग्यता में कमी आना ,
2. समाज की विभिन्न संस्थाओं में विचलन पाया जाना ,
3. समाज के सदस्यों द्वारा सामाजिक नियमों, कानूनों का उल्लंघन करना ,
4. समाज के मानदंडों एवं मूल्यों का उचित रीति से एवं सम्यक रूप से समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरण नहीं होना , तथा
5. समाज के सामान्य नागरिकों की अपेक्षाओं एवं आकांक्षाओं की संरचना में तारतम्य का अभाव होना।

18.5 सामाजिक समस्या के सामान्य तत्व

सामाजिक समस्याओं में निम्नलिखित सामान्य तत्व पाये जाते हैं:

1. सामाजिक समस्या एक ऐसी कष्टकारी स्थिति है जो व्यक्ति और समाज के विकास में बाधक है।
2. किसी सामाजिक दशा के सामाजिक समस्या कहलाने के लिए यह आवश्यक है कि समूह या जन सामान्य में उसके प्रति जागरुकता हो।
3. असामांजस्यपूर्ण शक्तियों तथा उनके भयावह परिणामों को रोकने के लिए सामाजिक क्रिया एवं नियंत्रण की आवश्यकता पड़ती है।
4. सामाजिक समस्या का मनोवैज्ञानिक एवं भौतिक विस्तार इतना होता है कि उससे एक अनुभव की जाने वाली आवश्यकता में बाधा पड़ती है।
5. पुनः सामंजस्य स्थापित करने के लिए पर्यावरण सम्बन्धी परिस्थिति में संरचनात्मक संशोधन आवश्यक रहता है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक समस्याओं को उन सामाजिक दशाओं के रूप में जाना जा सकता है जिनका समाज के कल्याण पर अत्यधिक बुरा प्रभाव पड़ता है।

फुल्लर के अनुसार किसी सामाजिक दशा को सामाजिक समस्या के रूप में समझने और हल करने के लिए तीन अवस्थाओं से गुजरना आवश्यक है:

1. किसी परिस्थिति को सामाजिक समस्या मानने के लिए यह आवश्यक है कि लोगों को यह दृढ़ विश्वास हो कि वह परिस्थिति लोगों की मूल व्यवस्था की दृष्टि से अनुचित है और उसको हल करने के लिए कुछ करना चाहिए।
2. सामाजिक समस्या के अस्तित्व को स्वीकार करने पर उसके निवारण के लिए अनेक सुझावों में से किसी एक को मानकार उसके अनुरूप साधन दूढ़ँने का प्रयास किया जाना चाहिये।
3. सामाजिक समस्या के समाधान के लिए किसी साधन को खोजने के पश्चात् उसको कार्यान्वित कर सुधार लाने की कोशिश की जानी चाहिए है।

18.6 सामाजिक समस्याओं का वर्गीकरण

विभिन्न समाज वैज्ञानिकों ने सामाजिक समस्याओं को अपने-अपने स्तर से वर्गीकृत करने का प्रयास किया है। हेराल्ड ए. फेल्प्स के अनुसार, प्रत्येक समाज में आर्थिक सम्पन्नता, शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य तथा व्यक्तिगत एवं सामूहिक अनुकूलन से सम्बंधित कुछ प्रतिमान अवश्य पाये जाते हैं। समाज की अनेक दशायें इन प्रतिमानों से पृथक हो जाती हैं तब समाज में असमानता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार हेराल्ड फेल्प्स ने सभी समस्याओं को चार वर्गों में वर्गीकृत किया हैः

1. आर्थिक समस्याओं का सम्बन्ध आर्थिक साधनों के अभाव से है। इस प्रकार निर्धनता, बेरोजगारी तथा आर्थिक निर्भरता कुछ प्रमुख आर्थिक समस्यायें हैं।
2. जैविकीय समस्यायें वे हैं जो व्यक्ति में अनेक शारीरिक दोष उत्पन्न करके उसके सामाजीकरण में बाधाएँ उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार से सभी तरह के शारीरिक रोग तथा अपंगता आदि जैविकीय समस्याओं के उदाहरण हैं।
3. जैविक-मनोवैज्ञानिक समस्यायें वे हैं जो मनोवैज्ञानिक कारणों से उत्पन्न होती हैं। इसके अन्तर्गत पागलपन, मानसिक दुर्बलता, नशाखोरी, वैयक्तिक असमायोजन तथा आत्महत्या जैसी समस्याओं को सम्मिलित किया गया है।
4. सांस्कृतिक तत्वों से उत्पन्न समस्याओं में फेल्प्स ने वृद्धावस्था, वैधव्य, गृहविहीनता, तलाक, अवैध सन्तानों का जन्म, अपराध तथा बाल अपराध को सम्मिलित किया है।

जोन जे. केन ने सामाजिक समस्या को दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया है, जो हैं:

(1) प्रकट सामाजिक समस्यायें

एक प्रकट सामाजिक समस्या एक ऐसी दशा है जिसके लिए राज्य या निजी संस्थायें अथवा दोनों के द्वारा सामूहिक रूप से उपचारात्मक प्रयत्न किये जाते हैं |जन सामान्य को इसके प्रति जागरुक कर दिया जाता है और वह ऐसा विश्वास करने लगता है कि यह दशा समाज की मूल व्यवस्थाओं के अनुसार समाज के लिए खतरा है। बाल अपराध, मद्यपान, बेरोजगारी, निर्धनता तथा जनसंख्या वृद्धि इसी श्रेणी में आती हैं।

(2) प्रछन्न या गुप्त सामाजिक समस्यायें

एक प्रछन्न सामाजिक समस्या वह है जिसके लिए कोई उपचारात्मक सामूहिक कार्यवाही नहीं की गयी हो, लेकिन जो फिर भी समाज के लिए खतरा है, कम से कम जनता के किसी खण्ड या समूह अथवा कई सुयोग्य अवलोकनकर्ताओं के मत में। प्रछन्न सामाजिक समस्या भी एक वास्तविक समस्या है, परन्तु वह उस समय तक सामाजिक समस्या के रूप में प्रतीत नहीं होती जब तक कि उसके प्रति जनता में जागरुकता पैदा नहीं की जाती और उसके निवारण के लिए कोई सामूहिक कार्यवाही नहीं की जाती। हमारे देश में अस्पृश्यता सैकड़ों वर्षों तक एक प्रछन्न सामाजिक समस्या के रूप में रही है, परन्तु वर्तमान में यह एक प्रकट सामाजिक समस्या बन गयी है क्योंकि इसके प्रति अब जनता में जागरूकता पायी जाती है और इसके निवारण के लिए सामूहिक प्रयत्न किये जा रहे हैं।

उपरोक्त विवेचना से यह ज्ञात होता है कि सामाजिक समस्याओं का अध्ययन स्वयं में एक जटिल विषय है। यह विषय जितना जटिल है, समाज के संगठन और पुनर्निर्माण के दृष्टिकोण से उतना ही महत्वपूर्ण भी। इस दृष्टिकोण से

सामाजिक सम्बन्धों तथा सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करने वाला विज्ञान अपने दायित्व से इतर नहीं हो सकता।

18.7 व्यक्तिगत और सामाजिक समस्याओं में अन्तर

सर्वप्रथम आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्तिगत समस्याओं और सामाजिक समस्याओं से तात्पर्य क्या है? इस बात को जानने के पश्चात् हम इनके मध्य अन्तर को जानने का प्रयास करेंगें। जैसा कि नाम से स्पष्ट है व्यक्तिगत समस्याओं का सम्बन्ध व्यक्तियों की अपनी वैयक्तिक समस्याओं से तथा सामाजिक समस्याओं का सम्बन्ध समाज से है। अन्य शब्दों में कई विद्वानों की परिभाषाओं को सम्मिलित करते हुए यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत समस्याओं से व्यक्ति का विकास अवरूद्ध हो जाता है। मावरर के अनुसार, ''व्यक्तिगत समस्यायें व्यक्ति के उन व्यवहारों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो संस्कृति द्वारा मान्यता प्राप्त प्रतिमानों से इतने अधिक नीचे गिर जाते हैं कि समाज उन्हें अस्वीकृत कर देता है। लेमर्ट के अनुसार, ''व्यक्तिगत समस्या वह स्थिति अथवा प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अपने मुख्य व्यवहार के चारों तरफ अपने व्यवहार को स्थिर नहीं रख पाता उसकी भूमिकाओं के चयन की प्रक्रिया में संघर्ष और भ्रामक स्थिति बनी रहती है।''

व्यक्तिगत और सामाजिक समस्या के मध्य अन्तर को निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता हैः-

1. व्यक्तिगत समस्या मुख्यतया व्यक्ति विशेष तक ही सीमित होती है, इसका सीधा सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से होता है जबकि सामाजिक समस्या सम्पूर्ण समुदाय तथा समाज से सम्बन्धित होती है।
2. व्यक्तिगत समस्या व्यक्ति के विकास में बाधक होती है जबकि सामाजिक समस्या सामाजिक प्रगति एवं विकास में अवरोध उत्पन्न करती है।
3. व्यक्तिगत समस्या की उत्पत्ति के लिए व्यक्ति विशेष या कुछ व्यक्ति उत्तरदायी होते हैं और परिणाम इन्हें ही भुगतना होता है जबकि सामाजिक समस्या की उत्पत्ति में कई समूहों, समुदायों का हाथ होता है और उसके परिणाम समाज के समस्त लोगों को भुगतने पड़ते हैं।
4. व्यक्तिगत समस्या का सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से होता है फलतः इसे हल करने का उत्तरदायित्व व्यक्ति विशेष का होता है जबकि सामाजिक समस्या के निराकरण हेतु सामूहिक प्रयास किये जाते हैं।
5. व्यक्तिगत समस्या से व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व में असन्तुलन और विघटन होना स्वाभाविक है जबकि सामाजिक समस्या से सामाजिक संरचना विछिन्न हो जाती है परिणामस्वरूप सामाजिक विघटन, संघर्ष आदि की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

18.8 सामाजिक समस्याओं का मापन

सामाजिक समस्याओं की प्रकृति को जानना एवं उनका मापन करना अत्यन्त दुर्लभ कार्य है क्योंकि जो परिस्थिति एक समाज में सामाजिक समस्या के रूप में मानी जाती है, वही दूसरे समाज में सामान्य तथ्य के रूप में मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त एक समय विशेष में जो दशा सामाजिक समस्या के रूप में चिन्हित की जाती है, वही दूसरे काल या समय में सामान्य स्थिति मानी जा सकती है। इसके माप की तीन विधियों या आधारों का उल्लेख किया जा रहा है।

(1) भावनात्मक आधार

भावनाओं एवं सामाजिक समस्या में निकटस्थ सम्बन्ध परिलक्षित होता है। किसी भी दशा को उस समय सामाजिक समस्या माना जायेगा जब वह जनसामान्य की भावनाओं के प्रतिकूल हो। जनभावनायें किसी दशा या स्थिति के जितनी अधिक प्रतिकूल होंगी, सामाजिक समस्या उतनी ही अधिक गम्भीर होगी। वर्तमान युग में अनेक कारणों से नारी के प्रति पुरुष भावनाओं में परिवर्तन आने से वेश्यावृत्ति को एक सामाजिक समस्या के रूप में देखा जाता है। किसी समय शादी विवाह तथा सामाजिक उत्सवों के अवसर पर वेश्याओं के नाच-गाने को उचित समझा जाता था। उस समय वेश्यावृत्ति का रूप सामाजिक समस्या के परिप्रेक्ष्य में नहीं था। वास्तव में जनसाधारण की भावनाओं के पीछे नैतिकता की धारणा पायी जाती है जिसके आधार पर उचित-अनुचित का भेद किया जाता है। जो व्यवहार या दशा नैतिक रूप से अनुचित समझे जाते हैं, जन भावनायें उनके प्रति अत्यन्त प्रतिकूल होती हैं और उन्हें सामाजिक समस्या के रूप में देखा जाता है। जब समाज के अधिकांश लोग किसी व्यवहार को नैतिक रूप से अनुचित मानते हैं, तब वह व्यवहार सामाजिक समस्या माना जाता है।

(2) सांस्कृतिक आधार

जो दशा या व्यवहार एक समाज विशेष की सांस्कृतिक विशेषताओं या परम्पराओं के प्रतिकूल होता है, उसे सामाजिक समस्या के रूप में देखा जाता है। प्रत्येक समाज की संस्कृति के अन्तर्गत कुछ मूल्य, आचरण, आदर्श, प्रतिमान, मनोवृत्तियाँ, नियम आदि आते हैं। समाज के सभी सदस्यों से इन सांस्कृतिक विशेषताओं को बनाए रखने की आशा की जाती है। जब किसी समाज में अधिकांश लोग सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों, आदर्शों, नियमों और मान्य व्यवहार प्रतिमानों के विपरीत आचरण करने लगते हैं तो ऐसे व्यवहार को सामाजिक समस्या माना जाता है। वर्तमान समय में हमारे सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन परिलक्षित हुआ है, आदर्श-नियम भी परिवर्तित हुए हैं तथा कुछ नवीन व्यवहार प्रतिमानों की उत्पत्ति हुयी है। अतः, आज अस्पृश्यता, बाल विवाह, दहेज प्रथा तथा विधवा विवाह निषेध आदि को सामाजिक समस्यायें माना जाता है। कालान्तर में ये समस्यायें सामाजिक समस्याओं के रूप में नहीं थीं क्योंकि इनसे सम्बन्धित व्यवहार को सांस्कृतिक विशेषताओं के अनुरूप माना जाता था। परन्तु आज ऐसा व्यवहार हमारे परिवर्तित हुए सांस्कृतिक मूल्यों के विपरीत समझा जाता है और कारणतः इसे समस्या की श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है।

(3) सांख्यिकीय आधार

सांख्यिकी के प्रयोग को आज सम्पूर्ण विश्व ने स्वीकृति प्रदान की है, इसका प्रयोग सर्वत्र किया जाने लगा है। सामाजिक समस्याओं के मापन में सांख्यिकी निश्चित सुस्पष्ट और वैज्ञानिक आधार है। इसके द्वारा यह पता लगाया जाता है कि किसी व्यवहार या स्थिति का जनसामान्य पर क्या प्रभाव पड़ता है, इससे कितनी मात्रा में लोग प्रभावित होते हैं। इसके परिप्रेक्ष्य में सूचनाओं को संकलित करने के लिए सरकारी, गैर-सरकारी संगठनों या कुछ विद्वानों द्वारा सर्वेक्षण किये जाते हैं। ऐसे सर्वेक्षणों से व्यक्तियों की क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं- मनोवृत्तियों, समस्याओं इत्यादि के विषय में जानकारी मिलती है। सांख्यिकी गणना से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न समस्याओं का समाज पर क्या प्रभाव पड़ा है, लोगों की सोच और दृष्टिकोण में क्या परिवर्तन हुए हैं आदि। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सांख्यिकीय गणना से सामाजिक समस्याओं को मापने में वैज्ञानिक निष्कर्षों की प्राप्ति होती है।

18.9 सारांश

इस इकाई में सामाजिक समस्याओं की अवधारणा का अध्ययन किया गया । सामाजिक समस्याओं की विशेषताओं तथा कारणों के विषय में ज्ञान प्राप्त किया गया । इसके पश्चात सामाजिक समस्याओं के तत्वों तथा वर्गीकरण का अध्ययन किया तत्पश्चात व्यक्तिगत तथा सामाजिक समस्याओं में अन्तर को समझा तथा सामाजिक समस्याओं के मापन के विषय में जानकारी प्राप्त किया।

18.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सामाजिक समस्याओं का अर्थ एवं परिभाषाओं का वर्णन कीजिए।
2. सामाजिक समस्याओं की विशेषताओं तथा कारणों पर प्रकाश डालिए।
3. सामाजिक समस्याओं के सामान्य तत्वों पर प्रकाश डालिए।
4. समाजिक समस्याओं के वर्गीकरण की व्याख्या कीजिये।
5. व्यक्तिगत तथा सामाजिक समस्याओं के बीच अन्तर को समझाइए।

18.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. लवानिया, एम.एम. एवं पडियार, जी. (2010) भारत में सामाजिक समस्यायें, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
2. गुप्ता, एम. एल. एवं शर्मा डी.डी., मानव समाज, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2001।
3. आहूजा, राम, सामाजिक समस्याऐं, रावत पब्लिकेशन्स, द्वितीय संस्करण, जयपुर एवं नई दिल्ली, 2000।
4. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
5. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
6. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।
7. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।
8. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
9. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर
10. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटस
11. लवानिया, एम.एम. एवं राठौड़, ए.एस. (1999) भारतीय समाज, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
12. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा

इकाई -19

निर्धनता एवं बेरोजगारी

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 निर्धनता की अवधारणा

19.3 निर्धनता के कारण

19.4 निर्धनता निवारण के प्रभावी उपाय

19.5 बेरोजगारी

19.6 बेरोजगारी के प्रकार

19.7 बेरोजगारी के कारण

19.6 सारांश

19.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

22.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

19.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप

1. निर्धनता की अवधारणा , कारण तथा निवारण के उपायों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
2. बेरोजगारी के अर्थ , प्रकार तथा कारणों की व्याख्या कर सकेंगे।`

19.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में निर्धनता एवं बेरोजगारी पर चर्चा की गयी है। भारत में ये दोनों ही सामाजिक समस्याएँ समाजिक तथा व्यक्तिगत विकास में बाधक है | निर्धनता वह स्थिति है जिसमे किसी व्यक्ति को जीवन जीने के लिए आवश्यक मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती या कोई व्यक्ति जीवनयापन से सम्बंधित मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वांछित आय अर्जित नहीं कर पाता | इसके अतिरिक्त बेरोजगारी कार्य करने वाले सामान्य आयु वर्ग के एक सदस्य का सामान्य समय में सामान्य वेतन पर और सामान्य काम करने वाली दशाओं में वैतनिक काम से अनिच्छापूर्वक या जबरदस्ती अलग कर देने की स्थिति से है। इस प्रकार जब कोई व्यक्ति जो कार्य करने में सक्षम है, जिसके बदले में वह धन प्राप्त कर सकता है, लेकिन जब वह कार्य नहीं मिल पाता , चाहे वह

परिस्थितिवश हो या अन्य कोई भी कारण हो। ऐसी स्थिति को बेरोजगारी कहते हैं अथवा व्यक्ति जो कार्य कर रहा है वह कार्य छूट जाता है तो उसे बेरोजगारी की समस्या का सामना करना पड़ता है।

19.2 निर्धनता की अवधारणा

निर्धनता समाज की आर्थिक स्थिति का द्योतक होने के साथ–साथ सामाजिक प्रस्थिति का भी परिचायक है, क्योंकि व्यक्ति की आर्थिक स्थिति का घनिष्ठ सम्बन्ध सामाजिक वर्ग से भी है। गिलिन एवं गिलिन का मत है कि गरीबी एवं अमीरी तुलनात्मक सम्बोधन हैं। आमजन को भाषा में गरीबी का तात्पर्य आर्थिक असमानता, आर्थिक पराश्रित तथा आर्थिक अकुशलता से समझा जाता है। निर्धनता को केवल आर्थिक अभाव के रूप में समझने का अर्थ होगा, इसे संकुचित अर्थ देना। प्रमुख समाज वैज्ञानिकों हारा प्रस्तुत निर्धनता की परिभाषाएं निम्नांकित हैं:–

बीवर लिखते हैं कि गरीबी एक ऐसे जीवन स्तर के रूप में परिभाषित की जा सकती है कि जिसमें स्वास्थ्य एवं शारीरिक क्षमता बनी नहीं रहती।

गोडार्ड निर्धनता के इस प्रकार परिभाषित करते हैं ' 'निर्धनता उन वस्तुओं की अपर्याप्त पूर्ति की वह दशा है, जिनकी एक व्यक्ति को अपने तथा आश्रितों के स्वास्थ्य एवं शक्ति को बनाए रखने के लिए आवश्यकता होती है।

''गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, "निर्धनता वह दशा है जिसमें एक व्यक्ति या तो अपर्याप्त आय अथवा मूखर्तापूर्ण व्यय के कारण अपने जीवन स्तर को इतना ऊँचा नहीं रख पाता कि उसकी, शारीरिक एवं मानसिक क्षमता बनी रह सके और उसको तथा उसके प्राकृतिक आश्रितों को अपने समाज के स्तरों के अनुरूप उपयोगी ढंग से कार्य करने के योग्य बनाये रख सकें। "इस प्रकार उपर्युक्त वर्णित परिभाषाओं में निर्धनता या गरीबी को इस आधार पर समझने का प्रयास किया है कि किसी व्यक्ति को जीवनयापन करने के लिए न्यूनतम कितना रूपया चाहिए तथा इस न्यूनतम सीमा से कम आय वाले व्यक्ति को निर्धन करार दिया जा सकता है।

प्रो. योगोश अटल के अनुसार "गरीबी की अवधारणा का सम्बन्ध सापेक्ष रूप से वंचित रहने के तथ्य से है। "इस प्रकार योगोश अटल वे गरीबी को तुलनात्मक दृष्टि से राष्ट्रीय आय से वंचित रहने के रूप में परिभाषित करते हैं। जब हम गरीब को राष्ट्रीय आय के पैमाने के द्वारा समझने का प्रयास करते हैं तब इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि वह आय दोष के सभी लोगों में समान रूप से वितरित होती है, वरन् राष्ट्रीय आय में से जिन लोगों को कम भाग मिलता है, गरीब कहलाते हैं तथा जिन्हें अधिक हिस्सा मिलता है, धनवान वर्ग में सम्मिलित किए जाते हैं। इस दृष्टि से गरीबी एक तुलनात्मक तथ्य है।

माईकल हैरिंगटन के अनुसार, "निर्धनता भोजन, स्वास्थ्य, घर, शिक्षा तथा मनोरंजन के उन न्यूनतम स्तरों का वंचन है जो एक विशिष्ट समाज की समकालीन प्रौद्योगिकी, विश्वास तथा मूल्यों के अनुसार होता है।

"मिलर तथा रोबी के अनुसार "निर्धनता एक प्रकार की असमानता है जो निर्धनों की जीवन–दशा तथा उनके जीवित रहने की सम्भावनाओं पर आय की असमानता से पड़ने वाले प्रभावों को स्पष्ट करती है। जिनके पास जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए साधन अथवा सामर्थ्य नहीं है, वे निर्धन कहलाते हैं तथा जो लोग आयक्रम के निम्नतम तल पर होते हैं, वे निर्धनों की श्रेणी के अन्तर्गत समाविष्ट किए जाते हैं। "उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर निर्धनता के सन्दर्भ में यह निष्कर्ष निकलता है:–

- निर्धनता जीवनयापन करने के लिए न्यूनतम आय का प्रतिबिम्ब है।
- निर्धनता निम्नतम जीवन निर्वाह के स्तर का परिचायक है।

- निर्धनता जीवनयापन करने के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं की पृष्ठ को दर्शाती है।
- निर्धनता समय एवं स्थान सापेक्षिक जीवन स्तर को दर्शाती है।
- निर्धनता प्रचलित मानदण्डों के अनुसार न्यूनतम जीवन स्तर है।
- निर्धनता असमानता तथा वंचना के आधार पर समझी जा सकती है।

19.3 निर्धनता के कारण

निर्धनता अनेक कारकों की मिली जुली पारस्परिक क्रिया एवं अन्त: का परिणाम है। निर्धनता के। अनेक कारण होते हैं, जिनमें प्रमुख निम्नानुसार है:–

(1) भौतिक पर्यावरण

भौतिक पर्यावरण से हमारा तात्पर्य प्रकृति द्वारा प्रदत्त जलवायु, प्राकृतिक सम्पदा, खनिज, उपजाऊ भूमि नदियाँ, झीलें इत्यादि को सम्मिलित किया जाता हैं। यदि किसी राष्ट्र में प्राकृतिक भण्डारों व खनिज पदार्थों का अभाव है। भूमि अनुपजाऊ है, रेगिस्तान में वर्षा की कमी है। वर्ष पर्यन्त बहने नदियों का अभाव है, इत्यादि तो ऐसी स्थिति में उस भू–भाग पर निवास करने वाले लोगों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में मुश्किलों का सामना करना पड़ेगा। अत: उक्त भू–भाग पर रहने वाले लोगों में देखने को मिलेगी। इसी प्रकार इसके ठीक विपरीत परिस्थितियों वाले राष्ट्र में समृद्धि देखने को मिलती है। लोग सुखी एवं धनवान होते हैं। मौसम की अनिश्चितता के कारण अत्यधिक गर्मी, सर्दी, अल्पवृष्टि, ' आतेवृष्टि के कारण फसलों का नुकसान हो जाता है तथा लोग अभाव एवं निर्धनता में जीवन जीने के लिए हो जाते हैं। आसाम, बिहार पश्चिम बंगाल, उत्तर–प्रदेश इत्यादि राज्यों में मौसम के कारण जान और की हानि होती है। इसी प्रकार समुद्र के किनारे रहने वाले लोगों को तूफान एवं कुसमय की वर्षा का सामना 'करना पड़ता है, जिससे जान और माल का भारी नुकसान होता है तथा लाखों लोग बेघर हो जाते हैं। कीडे–मकोड़े जीव–जन्तु इत्यादि फसलों और उद्योगों को नुकसान कर देते हैं तथा फलों, कागज, कपास, लकडी रेशम इत्यादि को नष्ट कर देते हैं। इससे इन उद्योगों से सम्बन्धित लोगों को निर्धनता का सामना करता है।

(2) वैयक्तिक कारण

जे.फिगिन ने अमेरिका में निर्धनता के कारणों को मालूम करने के लिए एक अध्ययन किया। जिसमें निर्धनता के लिए लोगों ने व्यक्ति को ही दोषी ठहराया। इन लोगों का मत है कि कोई भी व्यक्ति निर्धन इसीलिए है क्योंकि उसमें योग्यता, इच्छाशक्ति एवं प्रतिस्पर्धात्मक युग में जीवनयापन करने की प्रेरणा का अभाव पाया जाता है। ऐसे लोग अपनी दरिद्रता के लिए स्वयं उत्तरदायी होते हैं। व्यक्ति की अयोग्यता निर्धनता को जन्म देती है। शारीरिक निर्बलता, वंशानुगत बीमारियां, दुर्घटना, मानसिक योग्यता, नैतिक पतन, अविवेकपूर्ण खर्च इत्यादि, व्यक्ति की निर्धनता के लिए व्यक्तिगत कारण होते हैं। अल्पकालिक और दीर्घकालिक बीमारियां परिवार में निर्धनता उत्पन्न करती हैं। इसी प्रकार किसी व्यक्ति की दुर्घटना ग्रस्त होने पर, अंग भंग ' होने पर, लूला–लंगड़ा अथवा अन्य किसी शारीरिक अक्षमता होने पर आर्थिक दशा प्रभावित होती है। बीमारी, बुढ़ापा, दुर्घटना, अपंगता इत्यादि शारीरिक क्षमताओं पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है, जिसके कारण व्यक्ति अर्थोपार्जन नहीं करने के फलस्वरूप अन्य लोगों पर निर्भर रहता है।

(3) सामाजिक कारण.

सामाजिक कारणों के अन्तर्गत शैक्षणिक दोष, स्वास्थ्य संबंधी सुविधाओं का स्थान, आवास की अनुपालता, विवाह और पैतृक ज्ञान का अभाव इत्यादि को सम्मिलित करते हैं। दोषयुक्त शिक्षा व्यवस्था ने

शिक्षित बेरोजगारी को जन्म दिया है। वर्तमान समय में विद्यमान शिक्षा–व्यवस्था रोजगारोन्मुखी न होकर डिग्री प्रदाता बन गई है, जिसके कारण बेकारी पनपी है। आधुनिक विज्ञान ने अनेक खोजों एवं अन्वेषण के द्वारा पूर्व में असाध्य बीमारियों पर नियंत्रण कर लिया है। फिर भी भारतवर्ष में लोगों के स्वास्थ्य रक्षण हेतु समुचित सुविधाओं का अभाव नजर आता है, जिसके कारण लोग अकाल मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं तथा परिवार को गरीबी का सामना करना पड़ता है। गन्दी बस्तियाँ, दवा, बिजली–पानी व प्रकाश का अभाव, भीड–भाड युका घर व्यक्ति के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर डालते हैं। जो कि अन्ततोगत्वा निर्धनता को जन्म देते हैं। भारतवर्ष में बच्चों का विवाह कम उस में कर दिया जाता है। जिसके कारण वे पारिवारिक दायित्वों का निर्वहन करने में असमर्थ रहते हैं तथा ये पराश्रित को जन्म देते हैं। 'औद्योगिक क्रान्ति, वैश्वीकरण, निजीकरण एवं स्वतंत्रता के विचारों ने नारी स्वातंत्रय है' पर बल दिया है, जिसके कारण आर्थिक उपार्जन के लिए घर की देहली लांघ कर बाहर काम करने के लिए तैयार हो जाती हैं। माता–पिता तथा बच्चों एवं पति–पत्नी के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों में व्यक्ति केन्द्रित भावना के अभ्युदय के कारण सम्बन्धों में शिथिलता देखने को मिलती है। भारत में जाति व्यवस्था, संयुक्त परिवार प्रणाली तथा धार्मिक अन्ध–विश्वास भी गरीबी के उद्भव के लिए उत्तरदायी होते हैं। संयुक्त परिवार तथा जाति प्रथा व्यक्ति की गतिशीलता में बाधा उत्पन्न करते हैं तथा अपने सदस्यों को घर से बाहर जाने पर अंकुश लगाते हैं। जाति व्यवस्था के अन्तर्गत लोग परम्परागत पेशों पर ही अपना जीवनयापन करना पसन्द करते हैं तथा नवीन व्यवसाय को स्वीकार करने में संकोच एवं झिझक महसूस करते हैं। धार्मिक अन्धविश्वासों, कर्मवाद के सिद्धान्त तथा पूर्वजन्म के सिद्धान्तों के गलत निर्वचन ने लोगों को भाग्यवादी दृष्टिकोण अपनाने में मदद की है, जिसके कारण उनमें उद्यमशील प्रकृति एवं जोखिम लेने की प्रवृत्ति का अभाव पाया जाता है।

(4) **आर्थिक कारक.**

आर्थिक आयाम के अन्तर्गत निर्धनता का सम्बन्ध आय और व्यय के सन्दर्भ में किया जाता है। अपर्याप्त उत्पादन, असमान वितरण, आर्थिक उतार–चढ़ाव, गरीबी का दुष्चक्र।, मन्दी, बेरोजगारी इत्यादि निर्धनता को जन्म देने के प्रमुख कारक हैं। भारत कृषि प्रधान देश है। यहाँ पर कृषि एवं कुटीर उद्योगों में उत्पादन के लिए परम्परागत साधनों को प्रयुक्त किया जाता है। इन क्षेत्रों में आय सीमित ही होती है। अनेक बार मौसम के प्रतिकूल होने की स्थिति में उत्पादन पर्याप्त नहीं हो पाता। इसके आतिरिक्त उत्पादन के साधनों पर सीमित लोगों का एकाधिकार होने के कारण निर्धन व्यक्ति की आर्थिक दशा सुधरने की सम्भावना गौण ही रहती है। इस प्रकार सम्पत्ति तथा आय का असमान वितरण, बेरोजगारी की अवस्था एवं व्यापारिक मन्दी निर्धनता को जन्म देती है।

(5) **सांस्कृतिक कारक** :

सनातन संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरूषार्थों की प्राप्ति। हेतु समन्वयक प्रयास करने पर बल दिया। केवल अर्थ की प्राप्ति हेतु जीवन को प्रयुक्त करना एकांगी दृष्टिकोण खैर, जिसे पूर्ण रूप से नकार दिया गया है। अत: भारतीय सांस्कृतिक तत्वों में संतोष धन' को सबसे महत्वपूर्ण माना गया है। इस सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति में कुछ मत एवं विचारधाराएँ एवं जीवन शैली ऐसी भी है जो येन–केन–प्रकरण धन कमाने पर ही बल देती हैं।

(6) राजनीतिक कारक :

राजनैतिक उथल–पुथल एवं अस्थिरता निर्धनता को जन्म देने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है। इस प्रकार की स्थिति समाज में मुनाफाखोरी, जमाखोरी, कालाबाजारी एवं सूदखोरी अपनी चरम सीमा पर होती है। वर्तमान भारतीय राजनीति में केन्द्र में विद्यमान अस्थिरता केन्द्र सरकार को म,महँगाई नियन्त्रण करने में शिथिल कर देती है। सरकार की आर्थिक नीतियाँ एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दे सरकार को अस्थिर बनाते हैं और इससे

अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। केन्द्र में अगर गठबंधन सरकार अस्तित्व में हो तो स्थिति बद से बदतर हो जाती है।

सरकार की कर नीति, आयात–निर्यात नीति, उत्पादन एवं वितरण व्यवस्था किसी भी राष्ट्र के लोगों की आर्थिक दशा को प्रभावित करती है। ब्रिटिश साम्राज्य ने भारत का जमकर आर्थिक शोषण किया हैं। इंग्लैण्ड के कारखानों की पूर्ति हेतु कच्चा माल भारत से निर्यात होता था एवं तैयार माल बिकने के लिए भारत ही आता था। अंग्रेजों ने भारतीय वसुंधरा पर कल–कारखाने एवं उद्योगों की स्थापना को कभी महत्व प्रदान नहीं किया।

(7) **युद्ध** :

युद्ध के दौरान आर्थिक अपव्यय बहुत ज्यादा होता है। किसी भी राष्ट्र को युद्ध के अवश्यभावी परिणाम के रूप में गरीबी रूपी बीमारी को सहन करना पड़ता है। विगत दो विश्वयुद्धों ने पश्चिमी देशों को आर्थिक पतन के कगार पर खड़ा कर दिया था। जर्मनी–जापान तो पूरी तरह नष्ट हो चुके। युद्ध के समय में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को गम्भीर क्षति होती है क्योंकि व्यापारिक मार्ग अवरूद्ध हो जाते हैं। व्यापारिक क्षति का दुष्परिणाम गरीबी के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

(8) **परम्परागत कृषि** :

भारतीय कृषि व्यवस्था मानसून पर आधारित होने के कारण इसे का जुआ' कहा जाता है। वर्षा की पर्याप्त मात्रा से निर्धन किसानों का भरण–पोषण सुचारू रूप से होने की होती है, अन्यथा ग्रामीण निर्धनों को भूखमरी का सामना करना पड़ता है। भारत में पर्याप्त सिंचाई के,साधनों का अभाव, उन्नत खाद, बीज एवं तकनीकी की जानकारी का अभाव एवं परम्परागत कृषि करने के तरीकों पर अत्यधिक बल देने के कारण कृषि की उपज कम होती है।

(9) **बेरोजगारी** :

बेरोजगारी व्यक्ति को पराश्रित बना देती है। वांछित आय के अभाव में बेरोजगार व्यक्ति में कुंठाओं का जन्म होता है और उसे "अलगाव'' का सामना करना पड़ता है। बेरोजगारी व्यक्ति की आवश्यकताओं को न्यून कर, निम्न जीवन स्तर जीने के लिए बाध्य कर देती है। अनेक बार बेरोजगार स्वयं का और अपने परिवार का भरण–पोषण भिक्षावृत्ति के माध्यम से करने में भी संकोच नहीं करता। इस प्रकार बेरोजगारी निर्धनता को जन्म देती है।

(10) जनसंख्या में विस्फोटक वृद्धि :

भारत की जनसंख्या प्रतिवर्ष ऑस्ट्रेलिया की जनसंख्या के बराबर बढ़ है। जनाधिक्य निर्धनता को जन्म देता है। जिस तीव्र गति से भारत में जनसंख्या की वृद्धि हो रही है, उसी में जीवनयापन के लिए वांछित एवं उपयुक्त संसाधनों एवं सुविधाओं में वृद्धि नहीं होती, जिसके परिणामस्वरूप लोगों को बेरोजगारी, बेकारी एवं भूखमरी का सामना करना पड़ता है। माल्थस ने अत्यधिक जनसंख्या वृद्धि को निर्धनता के लिये उत्तरदायी माना है। जब जनसंख्या वृद्धि के अनुपात में उत्पादन की मात्रा में वृद्धि नहीं हो जाती, तब तक राष्ट्र का आर्थिक सन्तुलन चरमरा जाता है। माँग और पूर्ति के असन्तुलन के फलस्वरूप मूल्यों में वृद्धि होने के साथ–साथ महँगाई भी बढ़ जाती है, जिससे लोगों की क्रय शक्ति घट जाती है। अत: लोग अपनी आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति नहीं कर पाते और उन्हें निर्धनता की स्थिति में जीवनयापन करना पड़ता है।

(11) सूदखोरी प्रथा :

भारतीय ग्रामीण क्षेत्र में सहकारी समितियाँ पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाई हैं। किसानों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सूदखोरों के पास जाना पड़ता है। सूदखोर ग्रामीण किसानों की मजबूरी एवं अज्ञानता का फायदा उठाकर उनका आर्थिक, शारीरिक एवं मानसिक शोषण करते हैं। ऋण के दुष्चक्र से गरीब किसान एवं आदिवासी लोग मुक्त नहीं हो पाते। उनकी पीढ़ियाँ सूदखोर के ऋण चुकाने में अपना जीवन खपा देती हैं। डूँगरपुर–

बाँसवाड़ा के ग्रामीण आँचल में सूदखोरों का ' खतरनाक ' जाल है। एक बार इन सूदखोरों के चुंगल में कोई आदिवासी परिवार फंस जाता है तो ये सूदखोर उसका आर्थिक एवं मानसिक शोषण कर उसे निर्धनता की पराकाष्ठा पर खड़ा कर देते हैं। भारत को आजाद हुए छ: दशक बीत चुके हैं परन्तु वर्तमान समय तक इन सूदखोरों पर अंकुश लगाने का प्रभावशाली कानून नहीं बना है।

राजस्थान में कुछ समय पूर्व तक सागड़ी प्रथा 'प्रचलन में थी। इस प्रथा के अनुसार उधार लेने वाले व्यक्ति अथवा परिवार को सूदखोर साहूकार के घर तब तक मुफ्त सेवाओं के रूप में कार्य करना पड़ता था, जब तक वह उस साहूकार के ऋण से उऋण न हो जाए। एक बार साहूकार के चुंगल में फँसने पर उससे मुक्ति असंभव थी और निर्धन व्यक्ति एवं उसका परिवार निर्धन एवं पराश्रित ही बना रहता था।

(12) अशिक्षा और अज्ञान :

भारत में शिक्षा का प्रतिशत काफी कम है। गाँवों में तो स्थिति भयावह है। शिक्षा की कमी के कारण लोग साहूकारों एवं सूदखोरों के चंगुल में फँस जाते हैं तथा अशिक्षा इन्हें अन्ध विश्वास एवं अवांछित परम्पराओं की पालना करने और करवाने में सहायक सिद्ध होती है। अशिक्षा के कारण इनमें वैज्ञानिक, तार्किक एवं बोधपरक बुद्धि का विकास नहीं हो पाता जिसके कारण निर्धन लोग उन सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं का निर्बाध गति से पालन करते रहते हैं, जिनका वर्तमान युग में किसी भी प्रकार का महत्व नहीं रह गया है। ग्रामीण परिवेश में अशिक्षा का लाभ उठाकर सूदखोर और आधुनिक जमींदार निर्धन लोगों का आर्थिक एवं शारीरिक शोषण करते है।

(13) **सामाजिक कुरीतियाँ** :

वर्तमान हिन्दू सामाजिक एवं सांस्कृतिक संरचना में अनेक कुरीतियों का समावेश है जैसे मृत्युभोज, दहेज प्रथा, खर्चीला विवाह एवं जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तक अनेक संस्कार। इन रीति–रिवाजों को पूरा करने के लिए व्यक्ति अपनी आर्थिक क्षमता से अधिक खर्चा लेकर इसलिए करता है। जिससे कि समाज में उसकी प्रतिष्ठा बनी रहे। इसके लिए वह ऋण लेता है तथा अपनी भूमि, भवन, अन्य सम्पत्ति तथा आभूषण गिरवी रखने के कारण मजदूरी के द्वारा जीवनयापन करना पड़ता है। सूदखोरों एवं साहूकारों की ब्याज दरें इतनी अधिक होती हैं कि एक बार ऋण के दुष्चक्र में फँसने के बाद कई पीढ़ियों को ऋण होने के लिए सागडी प्रथा के अन्तर्गत मजदूरी करनी पड़ती है अथवा कम दर पर सूदखोर के यहाँ काम करना पड़ता है। महज इतना ही नहीं निर्धन लोग गरीबी को ईश्वर की देन भी मानते हैं। ये लोग सामाजिक सांस्कृतिक एवं धार्मिक कुरीतियों को अन्धविश्वास, अज्ञान एवं रूढ़िवादिता के कारण त्यागते नहीं हैं एवं निर्धनता की चादर को अनवरत अपने ऊपर ओढ़े रहते हैं।

(14) नरम राज्य :

गुन्नार मिर्डल समस्त अविकसित राष्ट्रों में व्याप्त निर्धनता का एक कारण 'नरम राज्य' को मानते हैं। मिर्डल का नरम राज्य से अभिप्राय उस सामाजिक अनुशासनहीनता से है जो विभिन्न स्वरूपों में दृष्टिगोचर होती है, यथा कानून की कमियाँ एवं सीमाएँ तथा कानून का क्रियान्वयन करने में व्यापक खामियाँ, भिन्न–भिन्न स्तरों पर प्रशासकीय अधिकारियों द्वारा इन नियमों एवं निर्देशों की बृहत् स्तर पर अवहेलना, जिनके क्रियान्वयन का उन पर उत्तरदायित्व होता है। वस्तुत: इन अधिकारियों के सम्बन्ध (अनैतिक) एवं साठ–गांठ उन से अन्त एवं सत्ताधीश वर्ग एवं जाति के लोगों से होते हैं, जिनके विपथगामी व्यवहार एवं आपराधिक आचरण को नियमित एवं रोकने की जिम्मेदारी इन्हीं अधिकारियों पर होती है, जो कि असंभव है। नरम राज्य की संकल्पना में भ्रष्टाचार भी समाहित है। नरम राज्य में सामाजिक, आर्थिक एवं. राजनीतिक संभ्रान्त निर्धन लोगों का षोशण करते हैं और समाज तथा राज्य के नियमों एवं मानदण्डों के विरूद्ध आचरण करते हैं। भ्रष्टाचार के कारण उच्च वर्ग निम्न वर्ग का शोषण

करता है और निम्न वर्ग इनके खिलाफ वांछित कार्यवाही करने में संकोच करता है। वह यथास्थिति की पालना करते हुए निर्धनता में जीवनयापन करता है।

(15) औद्योगिकीकरण एवं पूँजीवाद :

औद्योगिकीकरण एवं पूँजीवाद ने एक ऐसी नई सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था को जन्म दिया है। जिनके मूल में व्यक्तिगत मुनाफा एवं शोषण की मानसिकता निहित है। आधुनिक कल–कारखाना लगाने वाले पूँजीपतियों ने अपनी आर्थिक सत्ता के बल पर बड़े–बड़े कल–कारखाने स्थापित किए, परिणामस्वरूप ग्रामीण कुटीर उद्योग नष्टप्राय: हो गए और कुटीर व्यवसाय को संचालित करने वाला वर्ग मजदूर हो गया। नई व्यवस्था ने परम्परागत व्यवसायों को समाप्त कर बेरोजगारों की फौज खड़ी कर दी और इस नई व्यवस्था ने गरीबी के एक नए स्वरूप को जन्म दिया। नवीन उद्योग व्यवस्था ने समाज में मजदूर एवं मालिक दो ऐसे वर्ग खड़े कर दिए जो परस्पर विचारधारा में विरोधी थे। उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण करने वाले उद्योगपतियों ने ' का शोषण किया। इन्होंने गरीबों को और अधिक गरीब बना दिया।

19.4 निर्धनता के दुष्प्रभाव

निर्धनता दुनिया में सबसे बड़ा अभिशाप है। निर्धनता किसी देश के लोगों के निम्न जीवन स्तर के लिए महत्वपूर्ण उत्तरदायी कारक है। निर्धनता के कारण लोगों में किसी कार्य के प्रति समर्पण, साहस एवं जोश की भावना का लोप हो जाता है। वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में चहुँ ओर निजीकरण एवं खुलेपन की विचारधारा का प्रबल स्वरूप देखने को मिल रहा है। प्रत्येक व्यक्ति अपना जीवन स्तर उठाने के लिए अधिक से अधिक धन अर्जन के लिये प्रयासरत है। धन सब कुछ नहीं है, परन्तु बहुत कुछ धन ही है। निर्धनता की स्थिति में व्यक्ति को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इसके कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व के समस्त आयामों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि निर्धनता समस्त बुराइयों की अमर बेल निम्नलिखित आधारों पर निर्धनता के दुष्प्रभावों को बिन्दुवार समझने का प्रयास किया गया है

1. **शारीरिक दुष्प्रभाव** :

निर्धनता की अवस्था में व्यक्ति वांछित पोशाक तत्वों एवं सन्तुलित आहार को अपने भोजन में सम्मिलित नहीं कर पाता। इसीलिए अनेक बीमारियों का जन्म निर्धनता से ग्रस्त सामाजिक परिवेश में देखने को मिलता है। मूलत: क्षय रोग (टीबी) को गरीबों की बीमारी की मान्यता मिली हुई है। दीर्घावधि तक रोगग्रस्त रहने के कारण व्यक्ति की कार्य करने ,की क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। धन के अभाव में निर्धन लोग उचित चिकित्सा सुविधा नहीं ले पाते तथा मृत्यु का अनचाहे वरण करते है। इसलिए निर्धनता का सम्बन्ध मृत्यु दर की वृद्धि से भी है। धनवान लोगों की अपेक्षा निर्धन लोगों के बच्चों की मृत्यु दर, गर्भपात दर तथा मृत बच्चे जन्म लेने की संख्या अधिक होती है। निर्धन देशों में माताएँ एवं गर्भस्थ महिलाएँ कुपोषण का शिकार होती हैं। अत: कुपोषण से शिकार महिलाओं के बच्चे भी निश्चित रूप से कुपोषित ही होते हैं। निर्धनता व्यक्ति की कार्य क्षमता को प्रभावित कर व्यावसायिक थकान पैदा करती है। निर्धन लोगों को वांछित धनाभाव के कारण चिकित्सा के प्रति उपेक्षा, दुर्गन्ध एवं गन्दगी युक्त आवासों में निवास, मनोरंजन का अभाव, अस्वस्थता, छूत एवं कुपोषण पर आधारित बीमारियों का सामना करना पड़ता है। निर्धनता के कारण जलवायु परिवर्तन के अनुरूप अपने एवं अपने बच्चों के बचाव के लिए निर्धन लोग उचित वस्त्रों की व्यवस्था भी नहीं करवा पाते।

2. **मानसिक दुष्प्रभाव** :

निर्धनता अनेक बीमारियों को जन्म देकर व्यक्ति के मानसिक असन्तुलन का कारण बनती है। निर्धनता कुपोषण का कारण बनती है तथा कुपोषण मानसिक व्याधियों को जन्म देता है। इसी प्रकार निर्धन बच्चों का कुपोषण एवं वांछित शारीरिक पुष्टि कारक तत्वों के अभाव में बौद्धिक स्तर निम्न रहने की प्रबल सम्भावना रहती है। ठीक इसी प्रकार निर्धनता के कारण गरीब लोग अपने बच्चों को उचित शिक्षा की व्यवस्था नहीं करवा पाते जिसके कारण उनके समुचित बौद्धिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। सरकार के द्वारा पिछड़े वर्गों के लोगों के उन्नयन एवं विकास के लिए अनेक प्रकार की योजनाओं का क्रियान्वयन कर उनके समुचित विकास के लिए प्रयास किये जा रहे हैं।

3. सामाजिक दुष्प्रभाव.

निर्धनता प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सामाजिक पद, प्रतिष्ठा एवं मान–सम्मान को प्रभावित करती हैं। निर्धनता का सामान्य आशय निम्न सामाजिक प्रस्थिति से निम्न सामाजिक परिस्थति व्यक्ति के व्यक्तित्व पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। निर्धनता बाल अपराध, अपराध, भगोड़ेपन आवारागर्दी एवं मानसिक असन्तुलन को जन्म देती हैं। निर्धनता निर्धन लोगों की समस्त समस्याओं की जड़ है। गरीबी लोगों में मानसिक हीनता को जन्म देती है और इस प्रकार के व्यक्तित्व समाज में स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा करने में स्वयं को असमर्थ पादे हैं।

4. अपराधग्रस्तता :

निर्धनता किसी व्यक्ति से समाज एवं कानून विरोधी कार्य करवाने में सक्रिय भूमिका का निर्वहन करती है। अपराध एवं बाल अपराध करने वाले अधिकांश अपराधी समाज के निर्धन वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन लोगों के पास सामान्य जीवनयापन करने की मूलभूत सुविधाओं का अभाव रहता है। निर्धन लोगों के पास पोषण, स्वास्थ्य एवं आवास की पर्याप्त सुविधाऐ विद्यमान नहीं रहती। ये लोग अपनी तथा अपने परिवार की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चोरी, डकैती, जेब–तराशी, सेंधमारी इत्यादि कानून विरूद्ध कृत्य करते हैं।

5. पारिवारिक विघटन :

निर्धनता समाज में पारिवारिक विघटन को जन्म देने में प्रमुख भूमिका का निर्वहन करती है। निर्धनता के कारण माता–पिता को धन अर्जन के लिए घर से बाहर जाना पड़ता है तथा बच्चे भी पारिवारिक आय में मदद करने के लिए कुछ न कुछ कार्य करते हैं। यहाँ तक कि निर्धनता से निवृत्ति पाने के लिए घर की लड़कियाँ तथा स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति तथा कॉल गर्ल की भूमिका अनचाहे वरण करती हैं। आर्थिक अभाव परिवार के सदस्यों के मध्य तनाव मनमुटाव, संघर्ष एवं झगड़ों की स्थिति पैदा करता है। गरीब परिवारों के बच्चे आयरा, भगोड़े बाल–अपराधी हो जाते हैं। इन परिवारों की समाज में निम्न स्थिति होती है। निर्धनता गरीबों में व्यवस्था के प्रति रोष एवं असंतोष पैदा करती है तथा सुदृढ़ पारिवारिक संगठन एवं सामाजिक व्यवस्था के लिए खतरा उत्पन्न करती है। इस प्रकार गरीबी पारिवारिक विघटन करने के साथ–साथ गरीबों में निराशा, कुण्ठा, हीनता एवं निराशा के नकारात्मक भावों को जन्म देती है।

6. भिक्षावृत्ति '

निर्धनता भिक्षावृत्ति को जन्म देने के लिए उत्तरदायी कारण है। निर्धन लोगों के पस आय के पर्याप्त साधन नहीं होने के कारण उनके लिए भीख माँगना ही आय अर्जन का एक सरलतम जरिया होता है। इन लोगों का व्यावसायिक प्रशिक्षण एवं शिक्षा के अभाव में रोजगार प्राप्त करना मुश्किल होता है। ' अत: परिवार के भरण–पोषण के लिए भिक्षा को आय का जरिया बनाते हैं।

7. दुर्व्यसनों में वृद्धि

निर्धनता के कारण लोग मानसिक अवसाद, चिन्ता एवं निराशा के शिकार हो जाते हैं। इनसे मुक्ति पाने के लिए अनेक दुर्व्यसनों को अपने व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बना लेते हैं। ये लोग अपने तनावों, कुण्ठाओं एवं निराशाओं का शमन करने के लिए मद्यपान, जुआ एवं वैश्यावृति का सहारा लेते हैं।

8. चारित्रिक हास :

निर्धनता की अवस्था में उच्च चरित्र बनाये रखना सम्भव नहीं हो पाता क्योंकि हम भूखे व्यक्ति से ईमानदार एवं शतक बने रहने की अपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि बुभुक्षं किं न करोती पापं (भूखा व्यक्ति कौन–सा पाप नहीं करता) आर्थिक अभाव के कारण परिवार के भरण–पोषण के लिए घर की लड़कियाँ एवं महिलाएँ तक वैश्यावृत्ति को आय का साधन बना कर पैसा कमाती हैं।

यहाँ पर यह लिखना उपयुक्त होगा कि निर्धनता एक ऐसा चक्रव्यूह है जो अनेक व्याधियों एवं सामाजिक बुराईयों को अपने अन्दर समाहित कर लेता है। निर्धनता एक कुचक्र है। अधिकांश लोग निर्धन हैं क्योंकि वे बेरोजगार हैं और अधिकांश लोग बेरोजगार हैं, क्योंकि वे निर्धन हैं। सामान्यत: निर्धन व्यक्ति शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक एवं आध्यात्मिक रूप से सम्पन्न एवं सशक्त नहीं होते। निर्धनता एक कुचक्र सामाजिक आर्थिक समस्या है जो अनेक समस्याओं की जननी है। यह भुखमरी, बेरोजगारी, बाल–अपराध, अपराध, पारिवारिक विघटन एवं सामाजिक अव्यवस्था तथा क्रान्ति के लिए उत्तरदायी सिद्ध होती है। निर्धनता के कारण समाज में अपराधों की दर बढ़ जाती है एवं लोग कुपोषण का शिकार हो जाते है, जिससे उनकी कार्य क्षमता घट जाती है तथा जीवन स्तर गिर जाता है।

19.5 निर्धनता निवारण के प्रभावी उपाय

यद्यपि निर्धनता का उन्मूलन करना असम्भव सा कार्य प्रतीत होता है तथापि इस सामाजिक–आर्थिक समस्या के समाधान हेतु निम्नलिखित सुझावों को मस्तिष्क पटल पर रख कर ईमानदारी से प्रयास किये जा सकते है। :–

1. जनसंख्या विस्फोट पर प्रभावी नियन्त्रण स्थापित करना।
2. कृषि व्यवस्था में वैज्ञानिक एवं तकनीकी सुधार करने के लिए असक्षम किसानों की मदद करना।
3. बेरोजगारी का उन्मूलन करने के लिए उत्पादकता से सम्बद्ध श्रम जुटाने की व्यवस्था करना।
4. संसाधनों का उचित वितरण करने के लिए प्रभावशाली तंत्र की स्थापना करना।
5. कुटीर एवं लघु उद्योगों का समुचित विकास करना।
6. रोजगारोन्मुखी शिक्षा–प्रणाली का वैज्ञानिक तरीके से विकास करना।
7. सामाजिक कुप्रथाओं को प्रभावशाली कानून के द्वारा नियंत्रित करना।
8. भ्रष्टाचार का उन्मूलन करना।
9. सामाजिक बीमा योजना को भारत के गरीब लोगों तक पहुँचाना।
10. प्राकृतिक विपदाओं से सुरक्षा के पुख्ता प्रबन्ध करना।
11. मद्यपान को पूर्णत: समाप्त करना।
12. गन्दी बस्तियों के स्थान पर साफ–सुथरे आवास की व्यवस्था करना।
13. मुफ्त चिकित्सा सुविधा उपलब्ध करवाना।
14. ग्रामीण क्षेत्रों में यातायात एवं सड़क सम्पर्क स्थापित करना।

15. बचत की आदत को प्रोत्साहन देना।

19.6 बेरोजगारी

बेरोजगारी की अवधारणा को स्पष्ट करने से पूर्व 'रोजगार' शब्द के अर्थ को समझना उपयुक्त होगा। मूलत: रोजगार शब्द से अभिप्राय किसी भी व्यवसाय से संबंधित कार्य को इस प्रकार करना है जिससे कि कार्य के प्रतिफल (परिणाम) के रूप में या तो धन (रुपये) मिल जाये अथवा उक्त कार्य के बदले न्याय सम्मत वस्तुएं मिल जाए। इस प्रकार से अर्जित धन उन वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन से होता है जिनको बाजार में खरीदा या बेचा जा सकता हो। बेरोजगारी की अवधारणा को समझने के लिए हम प्रमुख विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई विभिन्न परिभाषाओं का अवलोकन करेंगे :–

- काल प्रिब्राम (Kall Pribram us Encyclopedia of Social Sciences में लिखा है कि "बेरोजगारी श्रम बाजार की वह "दशा" है जिसके अन्तर्गत श्रमशक्ति की पूर्ति कार्य करने के स्थानों की संख्या से अधिक होती है।"
- जी. आर. मदान का मत है कि "जब स्वस्थ शरीर वाले ऐसे व्यक्तियों को मजदूरी के सामान्य स्तर पर कार्य नहीं मिल पाता है तो वह स्थिति बेरोजगारी की स्थिति मानी जा सकती है।"
- फेयर चाइल्ड के अनुसार :– "बेरोजगारी वह स्थिति है जिसमें सामान्य दशाओं तथा सामान्य वेतन–दर पर किसी व्यक्ति को बलपूर्वक एवं अनैच्छिक रूप से वेतन के कार्य से अलग कर दिया जाता है।"
- एसी.पीगू का दृष्टिकोण है कि – "बेकारी का तात्पर्य वेतन अर्जित वर्ग में विद्यमान बेरोजगारी से है और इसका सम्बन्ध केवल मजदूरी कार्य से ही होता है।
- बैंक ऑफ बड़ौदा द्वारा सम्पादित "वीकली रिव्यू नमक पत्रिका में बेरोजगारी को श्रम शक्ति की पूर्ति तथा श्रम शक्ति की मांग के मध्य पाए जाने वाले अन्तर को माना है।

  इंटरनेट पर उपलब्ध बेरोजगारी को निम्नांकित रूप से परिभाषित किया है :–

- जब पूर्व में कार्यरत श्रमिक को कार्य से हटा दिया जाता है अथवा स्वैच्छिक रूप से आर्थिक लाभप्रद रोजगार में संलग्न नहीं रहता।
- श्रमिकों का वह माप जिसमें ये (श्रमिक) कार्य तो करना चाहते हैं परन्तु इनके पास कार्य उपलब्ध नहीं है।
- बेरोजगारी उस वक्त उत्पन्न होती है जब उत्पादन के किसी भी एक साधन – श्रम, भूमि, पूँजी एवं उद्यमशीलता, को वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन में नियोजित नहीं किया जाता। बेरोजगारी उस परिस्थिति में उत्पन्न होती है जब श्रम (उत्पादन के साधन के रूप में) को उपयुक्त कार्य के अभाव में पूर्ण रूप से इस्तेमाल नहीं किया जाता।
- वे लोग जो किसी कार्य में संलग्न नहीं हैं परन्तु क्रियाशील रूप से कार्य करना चाहते हैं तथा इसके लिए सतत्। प्रयासरत रहते हैं।
- एक ऐसी स्थिति जिसमें किसी व्यक्ति के पास उपयुक्त कार्य उपलब्ध नहीं है;
- बेरोजगारी किसी व्यक्ति की वह दशा होती है जिसमें वह प्रतिफल के रूप में आय प्रदान करने वाले कार्य की तलाश में रहता है परन्तु उसे उपयुक्त कार्य नहीं मिलता। बेरोजगारी के अंतर्गत पूर्णकालिक छात्र, सेवानिवृत,

बच्चे अथवा वे लोग जो आय प्रदान करने वाले कार्य की तलाश नहीं करते, को सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

19.7 बेरोजगारी के प्रकार

बेरोजगारी को विभिन्न स्वरूपो को देखते हुए बेरोजगारी को कई स्वरूपों में विभाजित किया गया है। इसके प्रमुख प्रकार निम्न हैं:

1. औद्योगिक बेरोजगारी:- आधुनिक एवं औद्योगिकीकरण के बहुत से लोगों को बेरोजगार किया है। मशीनीकरण से कम समय एवं लागत में उत्कृष्ट उत्पादन प्राप्त होता है। जोकि मुनाफे के दृष्टिकोण से लाभ दायर होता है।

2. संरचनात्मक बेरोजगारी:- इस प्रकार की बेरोजगारी आर्थिक ढांचे में परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। जब किसी उद्योग में अत्यधिक विकास होता है तो कोई दूसरा उद्योग नष्ट होने लगता है। उदाहरण के लिए कम्प्यूटर उद्योग बढ़ा तो टाइप राइटर की मांग कम हो गयी। मोबाइल का उद्योग बढ़ा तो पेजर का उद्योग नष्ट हो गया।

3. व्यापारिक बेरोजगारी:- व्यापार में होने वाले उतार-चढ़ाव का प्रभाव बेरोजगारी पर पड़ता है। जब भी बाजार में मन्दी होती है तो बेरोजगारी का ग्राफ बढ़ जाता है।

4. मौसमी बेकारीः- भारत जैसे देश में जहाँ पर कृषि एवं उद्योग धन्धे मौसम के आधार पर फलते-फूलते हैं। कृषि के क्षेत्र में जब वर्षा न हो या किसी वजह से खेती न हो उस समय कृषि कार्य करने वाले बेरोजगारी का सामना करते है। इसी प्रकार कई लघु उद्योग मौसम के आधार पर चलते हैं। जैसे गर्मी में आइसक्रीम बिकती है। लेकिन सर्दियों में नहीं बिकती, विवाह भी शुभ मुहुर्तों में ही होते है। जिससे इनसे सम्बन्धित व्यवसायों में बेरोजगारी का समन्वय करते है।

5. सामान्य बेरोजगारी:- जो व्यक्ति दिहाड़ी पर काम करते हैं। जिसको हम कहते है रोज कुआँ खोदते है रोज पानी पीते है। इन पर बेरोजगारी का साया मडराता रहता है।

इसके अलावा बेरोजगारी का निम्न तरह से वर्गीकरण पाया जाता है।

1. कृषि पर आधारित बेरोजगारी
2. उद्योग पर आधारित बेरोजगारी
3. शिक्षा पर आधारित बेरोजगारी
4. प्रशिक्षण पर आधारित बेरोजगारी
5. अप्रशिक्षण पर आधारित बेरोजगारी
6. अर्द्ध अप्रशिक्षित पर आधारित बेरोजगारी
7. मनोरजन पर आधारित बेरोजगारी

19.8 बेरोजगारी के कारण

इलियट एवं मेरिल ने अपनी पुस्तक "Social Disorganization" में के कारणों को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया है।

(1) व्यक्तिगत कारण।

(2) अवैयक्तिक कारण

(1) व्यक्तिगत कारण :

इलियट एवं मेरिल ने बेरोजगारी के व्यक्तिगत कारणों में किसी व्यक्ति की शारीरिक व मानसिक अक्षमता को उत्तरदायी माना है। व्यक्तिगत कारणों में आयु, व्यावसायिक उपयुक्तता तथा बीमारी एवं शारीरिक अक्षमता को सम्मिलित किया जाता है।

प्रस्तुत अध्याय में हम बेरोजगारी के अवैयक्तिक कारणों पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

(2) अवैयक्तिक कारण

1. **जनसंख्या वृद्धि :–** भारत में बेरोजगारी का सबसे महत्वपूर्ण कारण जनसंख्या का विस्फोटक गति से बढ़ना है। जिस अनुपात में भारत में जनसंख्या की वृद्धि होती है उसी अनुपात में रोजगार के अवसर नहीं बढ़ते क्योंकि रोजगार के अवसरों, यथा – नये उद्योग, व्यवसाय, नौकरियाँ इत्यादि स्थापना में कुछ समय लगता है। इस प्रकार जनसंख्या वृद्धि ओर रोजगार के अवसरों के मध्य एक अंतर स्थापित हो जाता है, जिसकी भरपाई करना लगभग असंभव सा है।
2. जलवायु एवं प्राकृतिक आपदायें :– भारत कृषि प्रधान देश है। भारतीय कृषि मानसून की वर्षा पर निर्भर करती है तथा मानसून की अनिश्चित एवं अनियमितता के फलस्वरूप फसल नष्ट हो जाती है। प्राकृतिक रूप से अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चक्रवात, ओले पडना, शीत लहर, टिड्डियों का हमला, विषाणुओं का आक्रमण इत्यादि कारण कृषि–उत्पादन को गंभीर रूप से प्रभावित करते हैं, जिसके कारण को गरीबी एवं बेरोजगारी का सामना करना पडता है।
3. **भूमि का सीमित आकार :–** जनसंख्या वृद्धि के फलस्वरूप प्रति व्यक्ति कृषि योग्य भूमि में निश्चित रूप से कमी हो जाती है। बटवारे के कारण भी कृषि–जोत में कमी आती है, जिसके परिणाम–स्वरूप भूमि का सीमित भाग अपनी क्षमता के अनुरूप उत्पादन नहीं दे पाता। भूमि पर परिवार के सभी सदस्य कार्य करते हैं जो कि प्रच्छन्न बेरोजगारी को प्रश्रय प्रदान करते हैं।
4. **कृषि का पिछड़ापन** – भूमि का सीमित आकार एवं परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों एवं आर्थिक सीमाओं (गरीबी) के कारण खेतों पर कृषि परम्परागत औजारों एवं यन्त्रों की सहायता से की जाती है। गरीबी और अशिक्षा के कारण भारतीय किसान उन्नत किस्म की तकनीकों एवं वैज्ञानिक विधियों से परिचित रहता है, जिससे कृषि उत्पादन में वांछित वृद्धि नहीं हो पाती। कृषि का पिछड़ापन बेरोजगारी को उत्पन्न करता है।
5. **दोषयुक्त भूमि व्यवस्था** – सैकड़ों वर्षो से भारत में दोषयुक्त भूमि व्यवस्था चली आ रही है। वर्तमान समय में समाज के अल्पसंख्यक लोगों के पास उपजाऊ युक्त अधिक भूमि है तथा अधिसंख्यक कृषक मजदूर भूमि विहिन हैं। बड़े–बड़े भू–स्वामी वैज्ञानिक पद्धतियों का सहारा लेकर कृषि उत्पादन करते हैं जिसके कारण कृषि मजदूर बेरोजगारी की समस्या से पीड़ित हो जाते हैं।
6. **अविकसित उद्योग जगत :– भारत तीव्र गति से औद्योगिक विकास के लिए दृढ़** संकल्प है परन्तु विस्फोटक गति से बढ़ती जनसंख्या के अनुपात में उद्योग जगत की प्रगति नहीं हो रही, जिससे कि बढ़ती

जनसंख्या के लिए रोजगार के पर्याप्त अवसर सृजित नहीं हो पा रहे। वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास ने बेरोजगारी के संदर्भ में कोढ़ में खाज का काम किया है। बड़ी–बड़ी फैक्टरियाँ एवं उद्योग धन्धे नगरों तक सीमित हो गये हैं। काम करने की इच्छा से ग्रामीण समुदाय शहरों में पलायन करता है जो कि श्रम की पूर्ति बढ़ा देता है। श्रमिकों की बेतहाशा वृद्धि के कारण सभी इच्छुक श्रमिकों को रोजगार उपलब्ध नहीं हो पाता।

7. **श्रमिकों में दक्षता का अभाव** :– वर्तमान समय में जिस तीव्र गति से आविष्कार, खोजें एवं तकनीकी विकास हो रहा है, उसी के अनुरूप वांछित प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना नहीं हो पा रही, जिससे कि उद्योगों में दक्ष एवं कुशल कारीगरों का अभाव रहता है, इसी कारण अकुशल श्रमिकों को उद्योगों एवं तकनीकी के क्षेत्र में रोजगार नहीं मिल पाता और बेरोजगारी का सामना करना पड़ता है'
8. **पारम्परिक मूल्य एवं गतिशीलता का अभाव** – भारतीय संस्कृति प्रधानत: स्थानीयता, पारम्पारिकता नातेदारी, प्रान्तीयवाद भाषा एवं धर्म के मूल्यों से गूंथे हुए संरचित ताने–बाने के जैसी है। इस ताने–बाने को तोड़कर बाहर निकलना, भारतीय जनमानस के लिए एक गंभीर चुनौती है। भारतीय लोग अर्थ अभाव की मानसिकता में जीवनयापन करना पसन्द करते हैं तथा धनोपार्जन के लिए दूरस्थ क्षेत्रों में कार्य करने की उपेक्षा करते हैं। इस कारण परम्परागत सांस्कृतिक मूल्य बेरोजगारी को प्रश्रय प्रदान करते हैं।
9. **औद्योगिक जगत में अभिनव प्रयोग** एवं आधुनिक क्रान्तिकारी तकनीकी की स्थापना।
10. हाथकरघा एवं कुटीर उद्योगों का पतन एवं सार्वभौमिक शिक्षा का अभाव।
11. गैर व्यावसायिक शिक्षा दोषयुक्त शिक्षा प्रणाली।
12. उद्योग जगत की अस्थिरता के कारण श्रम की माँग व पूर्ति में असन्तुलन।
13. व्यवसाय एवं उद्योग धन्धों में मौसम का प्रभाव।
14. उत्थान एवं पतन युक्त व्यापारिक चक्र।
15. व्यापारिक जगत एवं औद्योगिक जगत में अनुकूलनशीलता एवं सामंजस्य का अभाव।
16. विभिन्न उद्योग एवं व्यापारों के मध्य पारस्परिक निर्भरता।
17. उद्योग एवं व्यापारिक जगत के उन्नयन के लिए वांछित पूंजी का अभाव।
18. वस्तुओं की माँग एवं पूर्ति का समय एवं स्थान सापेक्षिक होना।
19. दोषयुक्त कर प्रणाली।
20. भिन्न–भिन्न राजनीतिक दलों की सरकारों की अलग–अलग औद्योगिक नीतियाँ।
21. औद्योगिक जगत में तनाव, हड़ताल एवं तालाबन्दी।

योजना आयोग ने बेरोजगारी के प्रमुख रूप से निम्नांकित कारण बताये हैं:–

1. जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि होना।
2. हाथकरधा ग्रामीण एवं कुटीर व्यवसायों का पतन।
3. शरणार्थियों की समस्या।
4. कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में रोजगार के अवसरों का अनुपयुक्त विकास।
5. कृषि क्षेत्र में पारम्परिक एवं गैर–वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रचलन।

19.9 बेरोजगारी के दुष्प्रभाव :

बेरोजगारी एक ऐसा अभिशाप है जो अन्य सामाजिक एवं आर्थिक बुराइयों को जन्म देती है। समस्त सामाजिक दुष्परिणामो का कारण गरीबी है और इस गरीबी का मूल कारण बेरोजगारी है। बेरोजगार व्यक्ति मानसिक हीनता की भावना का शिकार होता है तथा उसकी समाज में प्रतिष्ठा धूमिल हो जाती है, रिश्तेदार, आस–

पड़ोस तथा परिवार के सदस्य बेरोजगार व्यक्ति को उचित सम्मान नहीं प्रदान करते। बेरोजगारी पराश्रित एवं गरीबी को बढ़ावा देती है तथा व्यक्ति में आक्रामक प्रवृत्ति एवं तनावयुक्त प्रकृति को जन्म देती है। वैयक्तिक असंतोष एवं दुश्चिन्तायें पारिवारिक तनाव को पैदा करती हैं और दीर्घ अवधि में ये स्थितियाँ राजनैतिक उथल–पुथल एवं क्रान्तिकारी स्थितियों को जन्म देती है। प्रधानत: बेरोजगारी के निम्नांकित दुष्प्रभाव समाज में देखने को मिलते हैं :–

1. **बरोजगारी एवं वैयक्तिक विघटन :–** बेरोजगारी की अवस्था में बेरोजगार व्यक्ति को समाज में उपयुक्त सम्मान नहीं मिलता तथा उसके व्यक्तित्व में चिड़चिड़ापन तनाव समाहित हो जाता है। औद्योगिक जगत में मन्दी के दौरान सम्पत्ति सम्बन्धी अपराधों की वृद्धि हो जाती है तथा बेरोजगारी की अवस्था में भिक्षावृत्ति, गुण्डागिर्दी, आवारागिर्दी को बढ़ावा मिलता है। विवाहों की दर घट जाती है एवं अनैतिक सम्बन्धों का समाज में प्रचलन होने लगता है तथा मानसिक रोगियों की संख्या भी बढ़ जाती है। बेरोजगारी से व्यक्ति के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। उसके मस्तिष्क में विकृत दृष्टिकोण पनपने लगता है एवं कार्यक्षमताओं में कमी होने लगती है। व्यक्ति अपनी असफलता एवं बेरोजगारी का जिम्मेदार समाज को मानता है। बेरोजगारी की अवस्था में व्यक्ति ऋणग्रस्तता का शिकार भी हो जाता है।

वैयक्तिक विघटन के दृष्टिकोण से बेरोजगार व्यक्तियों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है :–

(अ) शिक्षण एवं प्रशिक्षण समाप्त करने वाले नवयुवक, जिन्हें वांछित योग्यता एवं उपाधि प्राप्त करने के बाद तत्काल कार्य नहीं मिलता, जिसके कारण उनमें निराशा की भावना का प्रादुर्भाव होने लगता है। अगर सही समय पर इन नवयुवकों को कार्य नहीं मिलता तो ये गैर–सामाजिक गतिविधियों में संलग्न हो जाते हैं।

(ब) किन्हीं कारणवश जब कोई व्यक्ति बेरोजगार हो जाता है तब उसे एवं उसके परिवार को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। ये व्यक्ति बीमारी एवं मानसिक विकार से ग्रसित? हो जाते हैं तथा अपने परिवार के लालन–पालन के लिए ऋण एवं उधारी से अपना घर चलाते हैं तथा सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से अवांछित एवं अनुचित कार्य करने लगते हैं।

(स) पाश्चात्य देशों में वृद्धावस्था में व्यक्ति को भोजन एवं रूग्णता की स्थिति में दवाओं की व्यवस्था की चिन्ता सताने लगती है, जिसके परिणाम घातक होते हैं। वृद्ध व्यक्ति मानसिक रूग्णता के कारण आत्म–हत्या तक कर लेते हैं। इस प्रकार शारीरिक अक्षमता के कारण ये बेरोजगारी की अवस्था का सामना करते हैं तथा इनका वैयक्तिक विघटन तीव्र गति से होता है।

(द) मन्दीकाल के दौरान जब किसी व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार कार्य नहीं मिलता; तब वह अनेक मानसिक विकृतियों का शिकार हो जाता है जो कि उसके व्यक्तित्व में विघटन की प्रवृत्तियों को जन्म देता है। आर्थिक मन्दी के दौरान श्रमिकों को कम वेतन मिलता है जिससे उनका एवं उनके परिवार का उचित लालन–पालन, शिक्षा एवं चिकित्सा का प्रबन्ध नहीं हो पाता, जो कि कर्ता पर अतिरिक्त मानसिक दबाव डालता है। इसके कारण परिवार का रोजगार युक्त मुखिया मानसिक विघटन का शिकार हो जाता है।

2. **पारिवारिक विघटन एवं बेरोजगारी** – बेरोजगारी एक सामाजिक' तथ्य है जिसका विघटनकारी प्रभाव परिवार पर पड़ता है। बेरोजगारी की स्थिति में पारिवारिक जमा पूँजी स्थापना हो जाती है, जमीन–गहने इत्यादि गिरवी रख दिये जाते हैं या बेच दिये जाते हैं तथा परिवार ऋणग्रस्तता का शिकार हो जाता है। परिवार के भरण–पोषण की समस्या उत्पन्न होने लगती है तथा परिवार के बीमार सदस्यों की उचित चिकित्सकीय सेवायें नहीं हो पाती हैं। बच्चों की शिक्षा–दीक्षा में प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तथा उन्हें भी आय–अर्जन करने के किसी न किसी

कार्य में संलग्न होना पडता है। परिवार के सफल संचालन के लिए माता–पिता दोनों को ही अर्थोपार्जन हेतु घर से बाहर जाना पड़ता है, ऐसी स्थिति में बच्चे आवारा हो जाते हैं। वे अनैतिक कार्य करने लगते हैं तथा समाज विरोधी गतिविधियों में संलग्न हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त परिवार की स्त्रियाँ भरण–पोषण के लिए वैश्यावृत्ति का सहारा भी ले लेती हैं। पारिवारिक सदस्यों में तनाव होने संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है। कई बार परिवार के समस्त सदस्य आत्म–हत्या तक कर लेते हैं।

3. **सामाजिक विघटन एवं बेरोजगारी** :– बेरोजगारी के परिणामस्वरूप सामाजिक संरचना में अव्यवस्था पनपने लगती है जो अन्ततोगत्वा समाज के विघटन के लिए असरदायी होता है। परिवार एवं समुदाय के लोगों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों में धीरे–धीरे पतन होने लगता है तथा समाज में अनेक सामाजिक समस्याओं का प्रचलन भी बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए बेरोजगारी की दशा में भ्रष्टाचार, बेईमानी, रिश्वतखोरी, व्यभिचार, वैश्यावृत्ति, भिक्षावृत्ति इत्यादि सामाजिक समस्याओं का प्रचलन बढ़ जाता है।

4. **बेरोजगारी एवं जनस्वास्थ्य** – बेरोजगारी की अवस्था में व्यक्ति के स्वास्थ्य में. गिरावट आने लगती है। आमजन में सामान्य रूप से विद्यमान बेरोजगारी की स्थिति के कारण इनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

अर्थाभाव के कारण स्वास्थ्यप्रद आवासीय व्यवस्था नहीं हो पाती एवं व्यक्ति सीलनयुक्त गन्दी बस्तियों में निवास करते हैं जिसके कारण उनके व उनके परिवाए के सदस्यों के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। ये लोग रूग्ण अवस्था में वांछित दवाओं एवं अन्य सुविधाओं को जुटाने में असमर्थ हो जाते हैं तथा शीघ्र ही मृत्यु दर में इजाफा करवाने में सहायक सिद्ध होते हैं।

बेरोजगारी जनित अन्य सामाजिक समस्याएँ निम्नांकित हैं

5. नैतिक एवं चारित्रिक पतन एवं बेरोजगारी
6. आर्थिक दुष्प्रभाव (गरीबी, ऋणग्रस्तता, उद्योगों का पतन आदि) एवं बेरोजगारी
7. राजनैतिक विद्रोह एवं क्रान्तियों का जन्म एवं बेरोजगारी
8. सांस्कृतिक परम्पराओं एवं मूल्यों का पतन एवं बेरोजगारी

19.10 बेरोजगारी दूर करने के उपाय :

दीर्घकालिक उपाय :

विस्फोटक रूप से बढ़ती हुई जनसंख्या का प्रभावशाली ढंग से नियन्त्रण किया जाना चाहिये। इसके लिए परिवार नियोजन के कार्यक्रमों को प्रभावशाली तरीकों से लागू किया जाना चाहिए।

देश में आर्थिक विकास की गति को तीव्र किया जाना चाहिए। इसके अन्तर्गत औद्योगिकीकरण की रफ्तार को तीव्र करना, शिक्षित बेरोजगारों को काम में लगाना तथा कृषि उत्पादन में वृद्धि पर जोर दिया जाना चाहिए।

निर्माण कार्य में वृद्धि किया जाना चाहिए। शिक्षा प्रणाली में वांछित सुधार कार्यक्रम लागू किया जाना चाहिए।

शिक्षा तथा रोजगार के मध्य रोजगार परक समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए।

युवा एवं बेकार जनशक्ति को तकनीकी के अनुकूल प्रशिक्षण दिया जाना चाहिये।

भारतीय सामाजिक संरचना में निहित उन बुराइयों को समाप्त करने के प्रयास किये जाने चाहिये, जिनके कारण बेरोजगारी जन्म लेती है। श्रमिकों में गतिशीलता उत्पन्न करने के लिए जाति प्रथा एवं छुआछूत सम्बन्धी नियमों का कठोरता से पालन किया जाना चाहिए। उपयुक्त औद्योगिक तकनीकी एवं कम्प्यूटरीकृत शिक्षा से श्रमिकों को अवगत कराना चाहिए।

अल्पकालीन उपाय :

हाथकरघा एवं कुटीर उद्योगों को समुचित प्रोत्साहन एवं उनका विकास : भारत एक कृषि प्रधान देश है तथा बहुसंख्यक आबादी ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है जहाँ बेरोजगारी की समस्या भयावह रूप से पाई जाती है। अत: ग्रामीण क्षेत्रों में मिट्टी, चमड़ा, कताई, बुनाई से सम्बन्धित हाथ करघा उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन उद्योगों को भी प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए, जो कृषि व्यवस्था के अन्तर्गत सहज रूप से लगाये जा सकते हों. जैसे – मुर्गी पालन, मत्स पालन, पशु पालन. गौशाला की स्थापना, मधुमक्खी पालन, सूअर एवं बकरा–बकरी पालन इत्यादि।

सघन खेती को प्रोत्साहन : उन्नत खाद–बीज एवं फसल रक्षक दवाओं का सदुपयोग कर अत्यधिक मात्रा में फसल उगाई जा सकती है। फल सब्जी एवं बागवानी को भी प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

बेरोजगारी की समस्या के समाधान हेतु भगवती समिति के सुझाव

भारत में व्याप्त बेरोजगारी की समस्या के समाधान हेतु 'भगवती समिति की स्थापना 1970 में की गई थी, जिसने इस समस्या के समाधान हेतु निम्नलिखित अल्पअवधि के सुझाव प्रस्तुत किये थे :–

1. कृषि सेवा केन्द्रों की स्थापना करना|
2. ग्रामीण विद्युतीकरण को द्रुतगति से क्रियान्वयन करवाना।
3. ग्रामीण क्षेत्रों में सड़क निर्माण के लिए अधिक से अधिक धनराशि की व्यवस्था करवाना।
4. ग्रामीण क्षेत्रों में आवास एवं वित्त निगम की स्थापना करवाना।
5. लघु सिंचाई योजनाओं का विस्तार करना।
6. प्राथमिक शिक्षा के कार्यक्रमों का विस्तार करना।
7. ग्रामीण क्षेत्रों में पेयजल की समुचित व्यवस्था करना।
8. लघु एवं सीमान्त कृषकों को हाथकरघा एवं कुटीर उद्योगों की स्थापना हेतु न्यूनतम ब्याज दर पर आर्थिक सहायता उत्पन्न कराना।
9. ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों में नवयुवकों को उद्योग एवं व्यवसायों की स्थापना हेतु सरकार द्वारा कम व्याज दर पर ऋण की समुचित व्यवस्था करवाना।
10. निरक्षरों को साक्षर करने के लिए ग्रामीण स्तर पर व्यावहारिक योजनाओं का क्रियान्वयन करना।

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी अधिनियम, 2005

भारत सरकार द्वारा दिनांक 2 फरवरी 2006 से देश के 200 व राजस्थान के छह जिलों में क्रियान्वयन किया जा रहा है 1 अप्रेल 2008 से सम्पूर्ण भारत में इसे लागू किया गया है। इस अधिनियम का उद्देश्य प्रत्येक वित्तीय वर्ष में प्रत्येक ग्रामीण परिवार, जिसके वयस्क सदस्य अकुशल शारीरिक कार्य करने के इच्छुक हों, को कम से कम 100 कार्य दिवसों का मजदूरी रोजगार प्रदान करके ग्रामीण क्षेत्रों के परिवारों को आजीविका की सुरक्षा प्रदान करना है। इस अधिनियम के उद्देश्य हैं –

1. ग्रामीण परिवारों को अकुशल शारीरिक श्रम वाले कार्यो में गारंटीशुदा मजदूरी योजना मुहैया कराकर उनके जीवनयापन को सुरक्षा प्राप्त होगी।
2. गांवों में स्थायी सामुदायिक परिसम्पत्तियों का सृजन हो पाएगा, जो ग्रामीण गरीबों के आजीविका संसाधन आधार को सुदृढ़ बनाएगी।
3. पंचायती राज संस्थाओं को वित्तीय एवं प्रशासनिक रूप से अधिकार सम्पन्न बनाया जाएगा।

19.8 सारांश

उपरोक्त इकाई के अध्ययन में सर्वप्रथम निर्धनता की अवधारणा का अध्ययन किया गया। तत्पश्चात् निर्धनता के कारण तथा उसके निर्वारण के उपायों के विषय में जानकारी प्राप्त किया गया। इसके पश्चात् बेरोजगारी के विषय में अध्ययन किया तथा बेरोजगारी के प्रकार और कारणों के विषय में ज्ञान प्राप्त किया गया।

19.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. निर्धनता की अवधारणा को समझाइये इसके कारणों पर प्रकाश डालिए।
2. निर्धनता के निवारण के उपायों का वर्णन कीजिए।
3. बेरोजगारी से आप क्या समझते हैं। प्रकारों का वर्णन कीजिए।
4. बेरोजगारी के विभिन्न कारणों का वर्णन कीजिए।

19.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।
2. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।
3. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
4. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर
5. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटस
6. लवानिया, एम.एम. एवं राठौड़, ए.एस. (1999) भारतीय समाज, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
7. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा
8. लवानिया, एम.एम. एवं पडियार, जी. (2010) भारत में सामाजिक समस्यायें, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
9. गुप्ता, एम. एल. एवं शर्मा डी.डी., मानव समाज, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2001।
10. आहूजा, राम, सामाजिक समस्याऐं, रावत पब्लिकेशन्स, द्वितीय संस्करण, जयपुर एवं नई दिल्ली, 2000।
11. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर

12. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

13. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।

14. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।

15. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

इकाई - 20

निरक्षरता

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.01 प्रस्तावना

20.02 निरक्षरता : अवधारणा

20.03 निरक्षरता के मूलभूत कारण

20.04 निरक्षरता के दुष्परिणाम

20.05 निरक्षरता उन्मूलन हेतु प्रभावशाली साधन

20.06 निरक्षरता उन्मूलन हेतु सरकारी नीतियां, कार्यक्रम एवं प्रयास

20.07 सारांश

20.08 बोध–प्रश्नो

20.9 ` सन्दर्भ ग्रन्थ

20.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप :

1. निरक्षरता का अर्थ एवं अवधारणा को समझ सकेंगे।
2. निरक्षरता के मूलभूत कारणों को समझ सकेंगे।
3. निरक्षरता उन्मूलन के लिए प्रभावशाली साधनों को जान सकेंगे।
4. निरक्षरता उन्मूलन हेतु उठाये गये विभिन्न उपायों का जान सकेंगे।

20.01 प्रस्तावना

निरक्षरता के कारण भारत अन्य राष्ट्रों से पिछड़ गया है, क्योंकि निरक्षर लोग सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक जगत में पिछड़ जाते हैं। निरक्षरता के कारण ही अन्धविश्वास एवं रूढ़ियों का जन्म होता है। इसके अतिरिक्त, निरक्षर लोग राष्ट्रव्यापी गम्भीर समस्याओं से भी अनभिज्ञ रहते हैं जो उन्हें प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए, वर्तमान भारत में जनाधिक्य के रूप में विद्यमान जनसंख्या विस्फोट के मूल में निरक्षरता रूपी दानव ही है। अत: निरक्षरता का जड–मूल से उच्छेदन करना ही समाज एवं राज्य का लक्ष्य है और हम सभी को इस ओर एक कदम बढाकर इस विषबेल को नष्ट करने में मील का पत्थर बनना चाहिए।

20.02 निरक्षरता : अर्थ एवं अवधारणा

साक्षरता से हमारा तात्पर्य वर्णमाला के अक्षरों और शब्दों को समझने, पहचानने और आशय निकलने की योग्यता से है। साक्षर व्यक्ति किसी शब्द एवं उसके अर्थ को तथा शब्दों द्वारा नियोजित वाक्य एवं वाक्यांश को देखकर उनके अर्थ एवं आशय निकाल लेता है। सामान्य अर्थो में साक्षर वह व्यक्ति है जो किसी भी भाषा को पढ़ना और लिखना जानता है। इस दृष्टिकोण से साक्षरता का अर्थ सीमित है क्योंकि केवल साक्षर होना या साक्षरता प्राप्त करना समाज का लक्ष्य नहीं हो सकता और न ही साक्षरता समाज के किसी उद्देश्य की पूर्ति का साधन बन सकती है। भारत के जनगणना आयोग, 1991 में साक्षर व्यक्ति को इस प्रकार परिभाषित किया है, "उस व्यक्ति को 'साक्षर' माना जा सकता है जो किसी भारतीय भाषा को 'समझ के साथ' पढ़ और लिख सकता है, न कि केवल पढ़ और लिख सकता है।" इस परिभाषा में निरक्षर का यह आशय निकाला जा सकता है– निरक्षर वह व्यक्ति है, जो केवल पढ़ सकता है, परन्तु लिख नहीं सकता। जो बिना तारतम्यता `एवं बोधपरक समझ के साथ केवल पढ़ना और लिखना सीख लेता है उसे भी साक्षरता की श्रेणी में सम्मिलित नहीं कर सकते। साक्षरता के लिए अपरिहार्य है कि ''साक्षर व्यक्ति को 'बोधपूर्ण समझ के साथ' पढ़ना–लिखना आना चाहिए।'' इस सामर्थ्य को व्यक्ति औपचारिक एवं अनौपचारिक शिक्षा के माध्यम से प्राप्त कर सकता है। साक्षर होने के लिए यह जरूरी नहीं है कि व्यक्ति किसी विद्यालय में जाकर औपचारिक शिक्षा ही ग्रहण करें। वह किसी स्वयंसेवी संस्था द्वारा संचालित केन्द्र में जाकर साक्षर हो सकता है।

शिक्षा : परिभाषा एवं अर्थ

संस्कृति किसी भी राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों से विभेदीकृत कर एक नई पहचान प्रदान करवाती है। संस्कृति मानव द्वारा सीखा हुआ वह व्यवहार है जिसे वह एक पीढी से दूसरी पीढ़ी तक सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा हस्तांतरित करता है। ज्ञान की यह अनवरत परम्परागत सुखला शिक्षा ही है। शिक्षा मानव को सांसारिक एवं पारलौकिक जीवन जीने के योग्य बनाती है। शिक्षा का लक्ष्य मानव में पहले से विद्यमान समष्टि तत्वों की अभिव्यक्ति करना है।

बी.एस.फिलिप्स के मतानुसार, "शिक्षा वह संस्था है जिसका मूल तत्व ज्ञान का संग्रह करना है। " महात्मा गाँधी ने लिखा हैं कि, "शिक्षा से मेरा मंतव्य बच्चे के शरीर, मन और आत्मा में विद्यमान सर्वोत्तम गुणों का सर्वांगीण विकास करना है।"

प्रख्यात समाजशास्त्री इमाईल दुर्खीम शिक्षा को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि "शिक्षा अधिक आयु के लोगों के द्वारा ऐसे लोगों के प्रति की जाने वाली प्रक्रिया है, जो अभी सामाजिक जीवन में प्रवेश करने के पात्र नहीं है। इसका ध्येय व्यक्ति में उन भौतिक, बौद्धिक एवं नैतिक विशेषताओं को विकसित करना है जो उसके लिए सम्पूर्ण समाज और पर्यावरण से अनुकूलन स्थापित करने के लिए आवश्यक है।

20.3 निरक्षरता के मूलभूत कारण

भारतीय समाज में निरक्षरता के लिए अनेक कारक उत्तरदायी हैं:–

जाति / वर्ण व्यवस्था –

भारतीय समाज में वैदिक युगीन समाज व्यवस्था को चार भागों– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वेश्य एवं शूद्र में विभाजित किया था। शिक्षा का अधिकार द्विजों तक ही सीमित कर दिया गया था और शेष लोगों को शिक्षा से वंचित कर दिया गया था। कालान्तर में वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था में रूपान्तरित हो गई। इस रूपान्तरण के साथ–साथ संस्कार भी एक व्यवस्था से दूसरी व्यवस्था में हस्तांतरित हो गए। प्राचीन शिक्षा प्रणाली केवल उच्च वर्ण एवं उच्च जातियों के लोगों

तक सीमित कर दी गई। यह शिक्षा–प्रणाली वैदिक कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड पर आधारित थी। इस प्रकार शिक्षा को अल्पसंख्यक उच्च वर्ण एवं उच्च जातियों के लोगों तक ही सीमित किया गया तथा शेष समाज को शिक्षा से पूर्णत: वंचित कर दिया गया। सामाजीकरण के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने और अशिक्षित रहने के संस्कार समाज में जड़ हो गए।

भाग्यवादिता :

भारतीय जीवन–शैली धर्म प्रदान रही है। पारलौकिक सत्ता के प्रति समर्पण का भाव जितना भारतीयों में पाया जाता है उतना अन्य कहीं भी देखने को नहीं मिलता। भारतीय संस्कृति में कर्म एवं भाग्यों का नियन्ता ईश्वर है। परमात्मा ने प्रत्येक मनुष्य के लिए उसके जीवन को निर्धारित कर दिया है। भाग्यवादी दृष्टिकोण के अनुसार "जीवन में उतना ही मिलेगा जितना ईश्वर ने लिख दिया है।" इसलिए शिक्षा ग्रहण करने से अतिरिक्त कुछ नहीं मिल सकता। भाग्य की लकीरें शिक्षा से बदली नहीं जाती। जब सब कुछ ईश्वर ने निर्णित कर दिया है तब किसी भी प्रकार के प्रयास करना व्यर्थ है। उक्त दृष्टिकोण भारतीय जनमानस में संस्कारित रूप से जड़वत हो गया है।

निर्धनता

भारत में अशिक्षा की वृद्धि के लिए निर्धनता एक महत्वपूर्ण कारक है। जिस देश में निर्धन लोगों को दो वक्त का भरपेट भोजन उपलब्ध नहीं हो पाता, उनसे शिक्षा ग्रहण करने की आशा करना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि शिक्षा ग्रहण करने के लिए वांछित रूपयों में गरीब लोग अपनी आजीविका की व्यवस्था करने को प्राथमिकता प्रदान करते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव

भारतीय समाज धर्म प्रधान, भाग्यवादी, रूढ़िवादी तथा परम्पराओं 'के प्रचलन एवं निरन्तरता पर बल प्रदान करता है। भारतीय जनमानस में कूपमंडूक सोच सदियों से संस्कारों के माध्यम से व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन चुकी है। वर्तमान वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं प्रगतिशील सोच के अभाव में चहुँ ओर निरक्षरता का बोलबाला रहा है।

ब्रिटिश का शासन

ब्रिटिश साम्राज्य ने प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था के स्थान पर ब्रिटेन में प्रचलित शिक्षा प्रणाली का क्रियान्वयन भारत में किया। इसका मूलभूत उद्देश्य भारत में आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा–प्रणाली से भारतीयों को अवगत कराना नहीं था। अंग्रेज यह भी नहीं चाहते थे कि भारत से अशिक्षा का उन्मूलन हो और आधुनिक शिक्षा का प्रसार हो, वरन् उनका उद्देश्य प्रशासनिक कार्यो की सुविधा हेतु बाबु वर्ग की स्थापना करना था। इसीलिए उन्होंने सर्वशिक्षा के लिए किसी भी प्रकार के प्रयास नहीं किए। अंग्रेजों ने ग्रामीण क्षेत्रों में भी शिक्षा के प्रबंधन की ओर ध्यान नहीं दिया। अंग्रेज इतने चतुर, धूर्त और चालाक थे कि उन्होंने बाबुओं की जननी–अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा के केन्द्र नगरों में स्थापित किये थे जहाँ पर उस समय देश में 10 प्रतिशत जनसंख्या भी निवास नहीं करती थी और इस 10 प्रतिशत से कम की आबादी में सीमित वर्ग के लोग ही अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा से अपने बच्चों को शिक्षित करना चाहते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि अंग्रेजों ने 95 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या को नवीन शिक्षा–प्रणाली से अवगत कराने के लिए किसी भी प्रकार का कोई भी प्रबन्ध नहीं किया जिसका दूरगामी परिणाम वर्तमान भारत में परिलक्षित होता है।

20.4 निरक्षरता के दुष्परिणाम

किसी भी समाज एवं राष्ट्र के लिए निरक्षरता एक दाग है जो कि अनेक सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं की जननी है। निरक्षरता के कारण समाज एवं राष्ट्र की प्रगति तथा विकास में बाधाएँ उत्पन्न हो जाती है। निरक्षरता के मुख्य दुष्परिणाम निम्नलिखित हैं

आर्थिक विकास में बाधक

किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए वहाँ के नागरिकों का शिक्षित होना अतिआवश्यक है। शिक्षा के अभाव में लोगों को अपने राष्ट्र के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करने, मशीनों का संचालन करने तथा व्यवसाय के सुचारू प्रबंधन का तकनीकी एवं प्रशासकीय ज्ञान नहीं होता। अशिक्षित व्यक्ति उच्च आय प्रदान करने वाली नौकरियों से वंचित हो जाता है। इससे केवल उसकी आर्थिक दशा ही प्रभावित नहीं होती है, वरन् राष्ट्रीय आय एवं लाभांश पर भी प्रतिकूल प्रभाव भी पड़ता है। अधिकांशतः अशिक्षित व्यक्ति निर्धनता एवं शेषणयुक्त सामाजिक जीवन जीने के लिए मजबूर होते हैं। ये लोग सूदखोरों एवं साहूकारों के खूनी पंजे में फंसकर अपना और अपनी आने वाली पीढ़ियों का जीवन सदा के लिए बर्बाद कर देते हैं।

प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली में बाधक

भारत में लोगों ने प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली को अंगीकार किया है। जिस देश में आधी से ज्यादा जनसंख्या अशिक्षित हो, वहाँ के लोग प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली को पूर्ण रूप से समझने में सक्षम नहीं हो सकते। जिसके फलस्वरूप कुछ अभिजात्य वर्ग के लोग, सीमित जातियाँ, संभ्रान्त परिवार, गुंडातत्व, धनिक वर्ग इत्यादि शासन पर कब्जा जमाए रखकर अधिसंख्यक लोगों को बेवकूफ बनाते हैं। इस प्रकार कतिपय जातियाँ एवं परिवार ही सदैव सत्ता पर अपना अधिकार बनाए रखते हैं तथा आमजन प्रजातन्त्र एवं इसके मूल्यों से लाभान्वित नहीं हो पाते।

समग्र व्यक्तित्व के विकास में बाधक

शिक्षा व्यक्ति के समग्र व्यक्तित्व का विकास कर उसे राष्ट्र एवं समाज निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निर्वहन करने में सहायता प्रदान करती है। शिक्षा के अभाव में बुद्धि एवं तर्क शक्ति का वर्तमान समय की आवश्यकता के अनुसार विकास नहीं हो पाता जिसके कारण व्यक्ति की सोचने–समझने एवं कार्य करने की शक्ति एवं क्षमता सीमित हो जाती है। परिपूर्ण व्यक्तित्व के अभाव में व्यक्ति वर्तमान समय की आर्थिक एवं औद्योगिक आवाश्यकताओ के अनुरूप स्वयं को अनुकूलन करने में असमर्थ पाता है।

सामाजिक विकास एवं सामाजिक समस्याओं का जन्म

समाज के विघटन एवं समाज में नाना प्रकार की समस्याओं की उत्पत्ति के लिए अशिक्षा एक महत्वपूर्ण कारक है। अनेक सामाजिक समस्याऐं जातिप्रथा, विधवा पुनर्विवाह निषेध, ऋणग्रस्तता, बाल–विवाह, पर्दा–प्रथा, क्षेत्रवाद, साम्प्रदायिकता, भाषावाद, जातिवाद, धार्मिक कट्टरता, वेश्यावृति, बाल अपराध, अपराध इत्यादि अशिक्षा के कारण ही समाज में जन्म ले पाते हैं।

अन्धविश्वासों की पालना

अशिक्षा अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों एवं रूढ़िवादी दृष्टिकोण को जन्म देती है। आधुनिक तथ्यपरक चिकित्सा प्रणाली का अशिक्षित लोग प्रयोग नहीं कर पाते। ये लोग केवल भूत–प्रेत, देवी–देवता, झाड–फूँक, मन्त्र–तन्त्र, भोपा इत्यादि पर ही विश्वास करते हैं जिसके कारण इन्हें अनेक बार अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ता है। अशिक्षा के

कारण जाति, धर्म, परिवार, विवाह इत्यादि से संबंधित अन्धविश्वासों का, समाज में प्रचार–प्रसार होने में सहायता मिलती है। अशिक्षित वर्ग के लोगों की स्थिति का लाभ उठाकर पन्डेपुजारी, मुल्ला–मौलवी, मुनी–मठाधीश, साधु–साध्वियाँ, सेठ–साहूकार आदि शेष करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बाधक

वर्तमान समय में सम्पूर्ण विश्व वैश्वीकरण, खुलापन एवं निजीकरण की विचारधारा से आप्लावित है। औद्योगिक एवं तकनीकी क्रांति के युग में शिक्षा के अभाव में कोई भी राष्ट्र तरक्की नहीं कर सकता। वस्तुत: शिक्षा ही वह माध्यम है जिसके द्वारा हम अन्य व्यक्तियों से अपने भावों एवं विचारों का सम्प्रेषण कर सकते हैं। वैश्वीकरण के इस दौर में शिक्षा के अभाव में कोई राष्ट्र पूर्णरूप से विश्व के अन्य राष्ट्रों से समुचित कूटनीतिक सम्बन्ध नहीं बना सकता। अनेक राष्ट्रों की भाषा अलग–अलग है। जापान में जापानी चीन में चीनी, पुर्तगाल में पुर्तगीज, अरब में अरबी, फ्रांस में फ्रेंच इत्यादि भाषाएँ प्रयुक्त की जाती हैं। शिक्षा के अभाव में भाषा का ज्ञान नहीं हो सकता। भाषा–ज्ञान के अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित होने में बाधा उत्पन्न होती है।

सभ्यता एवं संस्कृति निर्माण में बाधक

संस्कृति, समाज, समूह एवं समुदाय सम्मत तथा मान्यता प्राप्त वे भौतिक वस्तुऐं एवं अमूर्त विचार हैं जिन्हें समाज एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से हस्तान्तरित करता है। शिक्षा के अभाव में संस्कृति के समग्र तत्वों का हस्तान्तरण समुचित तरीकों से नहीं हो पाता। शिक्षा के द्वारा हम सांस्कृतिक तत्वों, संकुलों एवं प्रतिमानों को लिखित स्वरूप में स्थायित्व प्रदान करते हैं। शिक्षा के अभाव में नाना प्रकार के आविष्कार, खोजें, अन्वेषण एवं शोध कार्य व्यक्ति विशेष तक ही सीमित हो जायेंगे।

सामाजिक संघर्ष एवं संकुचित मानसिकता का उद्भव।

अशिक्षा के कारण बौद्धिक विकास रूक जाता है तथा तर्क शक्ति हो जाती है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति का दृष्टिकोण स्वकेन्द्रित हो जाता है। अशिक्षा, भेदभाव, संघर्ष, धार्मिक उन्माद मजहबी कट्टरपन, सामुदायिक विवाद इत्यादि को पनपाने में सहायक सिद्ध होती है। अशिक्षा के कारण व्यक्ति अपनी समस्याओं का समाधान भी नहीं कर पाता तथा उसकी संकीर्ण बुद्धि उसे उचित–अनुचित भला–बुरा, सही–गलत, कर्म–अकर्म के बीच अन्तर करने में मदद नहीं कर पाती।

राष्ट्रीय प्रगति में बाधक

अशिक्षा किसी भी राष्ट्र की प्रगति में जड़ता पैदा करती है। अशिक्षित लोग केवल शारीरिक श्रम ही कर सकते हैं। ये लोग वैज्ञानिक अन्वेषण एवं आविष्कार करने में समर्थ नहीं पाते। वर्तमान कम्प्यूटरीकृत युग में शिक्षा के अभाव में व्यक्ति प्रगति एवं विकास की कल्पना नहीं कर।

20.5 निरक्षरता का उन्मूलन करने हेतु प्रभावशाली साधन

भारत में निरक्षरता उन्मूलन हेतु निम्नलिखित प्रयास किए जा सकते हैं –

1. शिक्षा को पूर्णत: नि:शुल्क कर दिया जाए।
2. शिक्षा को कानूनी रूप से अनिवार्य बना दिया जाए।

3. शिक्षा का उचित प्रचार–प्रसार किये जाए जिससे कि लोगों, शिक्षा के प्रति व्यावहारिक जागरूकता पैदा हो सके।

4. देश में स्थानीय एवं मौखिक परम्परा से युक्त सांस्कृतिक कार्य के माध्यम से शिक्षा का जन सामान्य में प्रचार किया जाये।

5. शिक्षण पद्धति को रोचक एवं रोजगारोन्मुखी बनाने पर बल दिया जिससे कि सामान्य जन में शिक्षा के प्रति आकर्षण, जागरूकता एवं ललक पैदा हो सके।

6. शिक्षकों को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाए जिससे कि ग्रामीण में लोगों को शिक्षा के महत्व की वास्तविक जानकारी मिल सके।

7. ग्रामीण आँचल में कार्यरत शिक्षकों को वेतन, आवागमन के साधन,' आवास इत्यादि की अतिरिक्त सुविधा देकर इन्हें शिक्षा के प्रति समर्पित भाव से कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए।

8. शिक्षित स्त्री सम्पूर्ण परिवार में अच्छे संस्कारों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित करने में मील का पत्थर साबित होती है। अत: स्त्री शिक्षा को निःशुल्क एवं कानूनी तौर पर अनिवार्य एवं सुविधाजनक बनाया जाए।

9. शिक्षा के प्रति लोगों की जागरूकता पैदा करने एवं रूचि जगाने के लिए चलचित्र, प्रदर्शनियों, क्रीडा–केन्द्रों इत्यादि की सुचारू रूप से उपलब्ध व्यवस्था की चाहिए।

10. वर्तमान समय में जनसंचार का प्रमुख माध्यम दूरसंचार के भिन्न– कार्यक्रम एवं केबल नेटवर्क डिश टीवी. इत्यादि हैं। शिक्षा के निःशुल्क प्रचार–प्रसार के लिए कानूनी रूप से बाध्य किया जाना चाहिए। इसी प्रकार सिनेमाघरों में शिक्षा के विषय में देना अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए।

11. सरल, रोचक एवं जन सुलभ साहित्य सस्ती दर पर अथवा निःशुल्क बांटने की सुचारू प्रणाली का विकास करने की आवश्यकता है।

12. स्थानीय भाषा एवं स्थानीय लोगों के सांस्कृतिक तत्वों मूल्यों एवं जीवन–शैली के अनुरूप अनुसंधान कर लोगों को शिक्षित एवं प्रशिक्षित करने के सुगम तरीकों को खोजने के प्रयास करने चाहिए।

13. शिक्षा के पाठ्यक्रम का इस प्रकार निर्माण किया, जिससे उसमें शिक्षाप्रद कहानियों–किस्सों एवं रोचक जानकारियों की सूचना सम्मिलित हो सके जिससे कि राष्ट्र में शिक्षा के प्रसार–प्रचार के साथ–साथ उच्च नैतिकता वाले नागरिक भी तैयार हो सकें।

14. ऐसे घुमंतुक (मोबाईल) वाहनों की पर्याप्त संख्या होनी चाहिए जिसमें सरल एवं रोचक कहानियों एवं जानकारी से युक्त पुस्तकें पढ़ने और खरीदने के लिए उपलब्ध हों। इस घुमंतुक वाचनालय में मनोरंजक साहित्य के साथ–साथ सामाजिक, औद्योगिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक आविष्कारों और उपलब्धियों से संबंधित सूचनाऐं एवं जानकारी उपलब्ध करवाने वाला साहित्य भी सम्मिलित किया जाना चाहिए।

15. देश–विदेश के ताजा समाचारों एवं नवीन खोजों, उपलब्धियों एवं जानकारियों को दूरस्थ इलाकों तथा निर्धन लोगों को उपलब्ध करवाने के लिए विभिन्न औद्योगिक घरानों द्वारा संचालित DTH (सीधे आपके द्वार) सेवा को उपयोग में लेने की अति आवश्यकता है।

16. गाँधीजी की बुनियादी शिक्षा का प्रचार–प्रसार करने की वर्तमान समय में जरूरत है। इस शिक्षा का उद्देश्य केवल सैद्धान्तिक अक्षर–ज्ञान सिखाने वाली न होकर हस्तकला, लघु–कुटीर उद्योग सिखाने से संबंधित भी होना चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा विद्यार्थियों को स्वावलम्बी बनाने के साथ–साथ इनका मानसिक अभिमुखन रोजागारोन्मुखी जीवन–शैली स्वीकार करने में सहायता प्रदान करती है। बुनियादी शिक्षा का माध्यम देश या मातृभाषा होनी चाहिए। बुनियादी शिक्षा के माध्यम से राष्ट्र को आदर्श नागरिक उपलब्ध होंगें जो कि उच्च चरित्र एवं संतुलित व्यक्तित्व धारण किए होंगे। इस शिक्षा को निःशुल्क उपलब्ध करवाया जाना चाहिये जिससे महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक विचार एवं प्रजातान्त्रिक मूल्य लोगों के व्यक्तित्व में समाविष्ट हो सकें।
17. प्रौढ़ शिक्षा को प्रोत्साहन – आमजन में शिक्षा का प्रचार–प्रसार करने के लिए प्रौढ़ शिक्षा को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता महसूस की गई थी क्योंकि प्रजातन्त्र की सफलता एवं स्थायित्व के लिए प्रत्येक व्यक्ति शिक्षित होना चाहिए। इस हेतु पूर्ण रूप से प्रौढ़ निरक्षरों को शिक्षा देना अपरिहार्य है। प्रौढ़ शिक्षा के अन्तर्गत साक्षरता प्रदान करने के साथ–साथ 15 से 35 वर्ष की आयु के लोगों को स्वास्थ्य एवं स्वच्छता संबंधित नियमों की जानकारी, आर्थिक उन्नयन के कार्यक्रमों का प्रशिक्षण, मनोरंजन, अधिकार एवं कर्त्तव्यों का बोध करवाया जाता है। प्रौढ़ शिक्षा को मनोरंजक कार्यक्रमों. चलचित्र, प्रदर्शनी, लोकगीत–नृत्य, भजन कीर्तन, पोस्टर इत्यादि के द्वारा मनमोहक एवं रोचक बनाने की आवश्यकता होती है जिससे कि प्रौढ़ लोग शिक्षा के प्रति उत्साहित बने रहें। इसके अतिरिक्त इन लोगों के लिए निःशुल्क पुस्तकों का वितरण एवं पुस्तकालयों की व्यवस्था भी करनी चाहिए। प्रौढ़ शिक्षा के अन्तर्गत प्रौढ़ महिलाओं को अतिरिक्त सुविधा एवं आर्थिक लाभ देकर शिक्षा के प्रति प्रोत्साहित करने की कोशिश करनी चाहिए।

20.06 निरक्षरता उन्मुलन हेतु सरकारी नीतियों कार्यक्रम एवं प्रयास

सन् 1976 से पूर्व शिक्षा पूर्ण रूप से राज्यों का उत्तरदायित्व था। संविधान द्वारा 1976 में किए गए जिस संशोधन से शिक्षा को समवर्ती सूची में डाला गया जिसके सकारात्मक रूप से दूरगामी परिणाम देखने को मिले।

केन्द्र सरकार ने अपनी अगुवाई में शैक्षिक नीतियों एवं कार्यक्रम बनाने और उनके क्रियान्वयन पर नजर रखने के कार्य को जारी रखा है। इन नीतियों में सन् 1986 की शिक्षा–नीति (एनपीई) तथा वह कार्यवाही कार्यक्रम (पीओए) शामिल है, जिसे सन 1992 में अद्यतन गया। संशोधित नीति में एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली तैयार करने का प्रावधान है जिसके अंतर्गत शिक्षा में एकरूपता लाने, प्रौढाशिक्षा कार्यक्रम को जनांदोलन बनाने, सभी को शिक्षा सुलभ कराने, प्रत्येक जिले में नवोदय विद्यालय जैसे आधुनिक विद्यालयों की स्थापना करने, माध्यमिक शिक्षा को अनुशासनात्मक अनुसंधान करने, राज्यों में नए मुक्त विश्वविद्यालयों की स्थापना करने, अखिल भारतीय प्रौद्योगिक शिक्षा परिषद को सुदृढ़ करने तथा खेलकूद, शारीरिक शिक्षा, योग को बढ़ावा देने एवं सक्षम मूल्यांकन प्रक्रिया अपनाने के प्रयास शामिल है।

एनपीई द्वारा निर्धारित राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली एक ऐसे राष्ट्रीय पाठ्यक्रम ढांचे पर आधारित है, जिसमें अन्य लचीले एवं क्षेत्र विशेष के लिए तैयार घटकों के साथ ही एक समान पाठ्यक्रम रखने का प्रावधान है। जहां एक ओर शिक्षा नीति लोगों के लिए अधिक अवसर उपलब्ध कराए जाने पर जोर देती है, वहीं वह उच्च एवं प्रौद्योगिक शिक्षा की वर्तमान प्रणाली को मजबूत बनाने का आव्हान भी करती है। शिक्षा नीति शिक्षा के क्षेत्र में कुल राष्ट्रीय आय का कम से कम 6 प्रतिशत धन लगाने पर भी जोर देती है।

प्राथमिक शिक्षा

सर्वशिक्षा अभियान (एसएसए)

सर्वशिक्षा अभियान (एसएसए) की योजना 2001 में शुरू की गई थी। एक राष्ट्रीय योजना के रूप में यह देश के सभी जिलों में लागू की जा रही है। एसएसए का उद्देश्य 2010 तक 6 से 14 वर्ष की आयु बर्ग वाले सभी बच्चों को उपयोगी और प्रासंगिक प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराना है। एसएसए के लक्ष्य इस प्रकार हैं (1) सन 2005 तक सभी स्कूलों, शिक्षा गारंटी योजना केन्द्रों / ब्रिज पाठ्यक्रमों में 6– 14 वर्ष की आयु वर्ग के समस्त बच्चे। (2) सभी प्रकार के लैंगिक एवं सामाजिक भेदभाव प्राथमिक शिक्षा के स्तर वर्ष 2007 तक तथा 2010 तक बुनियादी शिक्षा स्तर पर समाप्त करना। (3) 2010 तक सभी के लिए शिक्षा। जीवन हेतु शिक्षा पर विशेष ध्यान देते हुए संतोषप्रद गुणवत्ता की प्राथमिक शिक्षा पर जोर। यह कार्यक्रम पूरे देश में लागू किया जा रहा है।

शिक्षा गारन्टी योजना तथा वैकल्पिक एवं अनूठी शिक्षा

शिक्षा गारंटी योजना तथा वैकल्पिक एवं अनूठी शिक्षा (ईजीएस तथा एआईई) स्कूल नहीं जा रहे बच्चों को बुनियादी शिक्षा कार्यक्रम के तहत लाने का सर्वशिक्षा अभियान (एसएसए) का एक महत्वपूर्ण घटक है। इस योजना में स्कूली शिक्षा से अभी तक छूट गए प्रत्येक बच्चे के लिए अलग से योजना बनाने का प्रावधान है।

ईजीएस में ऐसे दुर्गम आबादी क्षेत्रों पर ध्यान दिया जाता है, जहां एक किलोमीटर के घेरे में कोई औपचारिक स्कूल नहीं हो और स्कूल नहीं जाने वाले 6– 14 वर्ष के आयु वर्ग के कम से कम 25 बच्चे वहां मौजूद हों। पर्वतीय क्षेत्रों के दुर्गम क्षेत्रों जैसे अपवादों में 15 बच्चों पर भी एक ईजीएस स्कूल खोला जा सकता है। वैकल्पिक शिक्षा की शुरूआत समाज के वंचित वर्ग के बच्चों–बाल श्रमिक, सडकों पर जीवनयापन करने वाले बच्चे, प्रवासी बच्चे, कठिन परिस्थिति में रहने वाले बच्चे और 9 वर्ष से अधिक आयु के बच्चों के लिए बनाई गई है। ईजीएस और एआईई में देश–भर में किशोरावस्था की बालिकाओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

मध्याह्न भोजन योजना

नामांकन बढ़ाने, उन्हें बनाए रखने और उपस्थिति के साथ–साथ बच्चों के बीच पोषण स्तर सुधारने के दृष्टिकोण के साथ प्राथमिक शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पोषण सहयोग कार्यक्रम 15 अगस्त, 1995 से शुरू किया गया। केन्द्र द्वारा प्रायोजित इस योजना को पहले देश के 2408 ब्लॉकों में शुरू किया गया।

मध्याह्न भोजन योजना के उद्देश्य हैं:–

1. सरकारी, स्थानीय निकाय तथा सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों, और ईजीएस तथा एआईई केन्द्रों में कक्षा एक से पांचवीं तक पढ़ने वाले बच्चों की पोषण स्थिति में सुधार।
2. सुविधाहीन वर्ग के गरीब बच्चों को कक्षाओं में नियमित उपस्थित रहने तथा कक्षाओं की गतिविधियाँ पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए प्रोत्साहित करना।
3. गर्मियों की छुट्टियों के दौरान सूखा प्रभावित क्षेत्रों में प्राथमिक स्तर के बच्चों को पोषण सहायता उपलब्ध कराना।

जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम

केन्द्र द्वारा प्रायोजित जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम 1994 में शुरू किया गया था। इसका उद्देश्य प्राथमिक शिक्षा प्रणाली में फिर से जान फूंकना और प्राथमिक शिक्षा के सावर्गीकरण का लक्ष्य पूरा करना था। डीपीईपी का लक्ष्य सभी को शिक्षा दिलाने, बच्चों को स्कूलों में बनाए रखने, शिक्षा के स्तर में सुधार करने तथा समाज के विभिन्न वर्गो में असमानता कम करके साथ–साथ काम करना है। कार्यक्रम के घटकों में नए स्कूल और कक्षाओं का निर्माण, अनौपचारिक / वैकल्पिक शिक्षण केन्द्रों की स्थापना, नए अध्यापकों की नियुक्ति, छोटे बच्चों के लिए शिक्षा केन्द्रों की स्थापना, राज्यस्तरीय शैक्षिक अनुसंधान केन्द्रों और प्रशिक्षण परिषदों (एससीईआरटी) जिला शैक्षिक प्रशिक्षण संस्थान (डीआईईटी) का सशक्तिकरण, प्रखण्ड (ब्लॉंक) संसाधन केन्द्र समूह संसाधन केन्द्र, अध्यापक प्रशिक्षण, शिक्षण अध्यापन सामग्री का विकास, अनुसंधान आधारित पहल, वंचित समूहों, बालिकाओं, अनुसूचित जाति / जनजातियों आदि हेतु शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए विशेष पहल, विकलांग बच्चों को समन्वित शिक्षा देने हेतु पहल एवं अध्यापक प्रशिक्षण के लिए सुदूर (डिस्टेंस) शिक्षा को भी डीपीईपी योजना में शामिल किया गया है।

महिला समाख्या योजना

महिला समाख्या योजना ग्रामीण क्षेत्रों खासकर सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े समूहों की महिलाओं की शिक्षा तथा उनके सशक्तीकरण के लिए 1989 में शुरू की गई। महिला संघ गाँव स्तर पर महिलाओं को मिलने, सवाल करने और अपने विचार रखने तथा अपनी आवश्यकताओं को व्यक्त करने के अलावा अपनी इच्छाओं को जाहिर करने का स्थान मुहैया कराते हैं।

महिला संघों ने ग्रामीण महिलाओं के दृष्टिकोण में विभिन्न कार्यक्रमों और जागरूकता अभियानों के माध्यम से बदलाव ला दिया है जिसका प्रभाव अब घर, परिवार में, सामुदायिक तथा) ब्लॉंक और पंचायत स्तर पर देखा जा सकता है। कार्यक्रम में बच्चों खासकर लड़कियों की शिक्षा की आवश्यकता पर जागरूकता पैदा करने पर भी केन्द्रित होता है।

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन की स्थापना मई, 1988 में की गई थी। इसका उद्देश्य तय समयावधि तक 15 से 35 वर्ष तक के आयु वर्ग के उत्पादक और पुनरोत्पादक समूह के निरक्षर लोगों को व्यावहारिक साक्षरता प्रदान करते हुए 75 प्रतिशत साक्षरता का लक्ष्य हासिल करना है। व्यावहारिक साक्षरता के अंतर्गत पठन, लेखन गणना–बोध के साथ–साथ राष्ट्रीय एकता पर्यावरण संरक्षण, नारी समानता और सीमित परिवार के सिद्धान्त और मूल्य निहित हैं। जीवन की गुणवत्ता में एक निश्चित सुधार और साशक्तिकरण ही व्यावहारिक साक्षरता की प्रमुख उपलब्धि है।

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन का उद्देश्य यह है कि सम्पूर्ण साक्षरता अभियान और साक्षरता के बाद के कार्यक्रम सफलतापूर्वक अनवरत शिक्षा–प्रक्रिया के रूप में जारी रहें और जीवनपर्यन्त साक्षरता के अवसर उपलब्ध कराते रहें।

निरक्षरता गैर सरकारी संगठनों की भूमिका

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन (एनएलएम) अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्वयंसेवी संगठनों की अपार क्षमताओं को मान्यता देता है। इसने स्वयंसेवी संगठनों के साथ साझेदारी मजबूत बनाने के लिए कई उपाय किए हैं। इसके साथ ही साक्षरता आंदोलन में स्वयंसेवी संगठनों को सक्रिय उत्साहवर्धक भूमिका सौंपी गई हैं। साक्षरता उपलब्ध कराने के अलावा स्वयंसेवी संगठन प्रयोगात्मक और नवोन्मुख कार्यक्रमों के माध्यम से शैक्षिक और तकनीकी विशेषज्ञों की

सेवाएं भी उपलब्ध कराता है। स्वयंसेवी संगठनों की ओर से संचालित राज्य संसाधन केन्द्रों से प्रशिक्षण सामग्री, विस्तारगत विधियां नवोन्मुख परियोजनाएं, अनुसंधान अध्ययन और मूल्यांकन सामग्री के रूप में अकादमिक और तकनीकी संसाधन सहयोग उपलब्ध कराया जाता है।

महिला साक्षरता के लिए विशेष हस्तक्षेप

2001 की जनगणना के अनुसार देश के या जिलों में महिला साक्षरता दर 30 प्रतिशत से नीचे है। इसलिए राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के लिए इतनी कम महिला साक्षरता दर एक चिंता का विषय है। इस बात को ध्यान में रखते हुए या जिलों में नीची महिला साक्षरता दर में सुधार का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इन जिलों में महिला साक्षरता को बढ़ावा देने के लिए विशेष प्रवर्तित कार्यक्रम शुरू किए गए हैं।

अवशेष निरक्षरता की परियोजनाएं –

सम्पूर्ण साक्षरता अभियान पूरे देश में एक जन आंदोलन के रूप में चलाया गया लेकिन कई इलाकों में यह प्राकृतिक आपदाओं तथा राजनीतिक इच्छा शक्ति में कमी के कारण पूरा नहीं हो सका। साक्षरता में सफलता के बावजूद अभी भी कुछ इलाकों में नीची महिला साक्षरता दर और अवशेष निरक्षरता मौजूद हैं। इस समस्या के निदान के लिए अवशेष निरक्षरता परियोजनाएं आरम्भ की गई। इसके तहत राजस्थान के 9 जिलों के करीब 6.6 लाख नव साक्षरों को शामिल किया गया।

विशेष साक्षरता अभियान

एनएलएमए परिषद की अप्रैल, 2005 में हुई बैठक में देशभर से ऐसे 150 जिलों की पहचान की गई जिनमें साक्षरता दर सबसे कम थी। इन जिलों की क्षेत्रीय सामाजिक और सामुदायिक जरूरतों को ध्यान में रखते हुए विशेष रूप से अल्पसंख्यक समूह, अनुसूचित जाति / अनुसूचित जनजाति, महिलाएं और अन्य पिछड़े वर्ग के लिए विशेष साक्षरता अभियान की रणनीति तय की गई। अब तक राज्यों के कुल 134 जिलों को विशेष साक्षरता मिशन में शामिल किया जा चुका है। इनमें अरुणाचल प्रदेश के 7, आंध्र प्रदेश के 8 बिहार के 31, छत्तीसगढ़ के 2, जम्मू–काश्मीर के 8, राजस्थान के।0, झारखंड के 12, कर्नाटक के 2, मध्यप्रदेश के 9, मेघालय के 3, नागालैण्ड के 2, उड़ीसा के 8, पंजाब के 1, उत्तरप्रदेश के 27 और पश्चिम बंगाल के 4 जिले शामिल हैं।

जनशिक्षण संस्थान

जनशिक्षण संस्थान का लक्ष्य सामाजिक आर्थिक रूप से पिछड़े तथा शहरी' ग्रामीण क्षेत्रों के शैक्षिक रूप से वंचित वर्गो विशेषकर नवसाक्षरों, अर्थ–शिक्षितों, अनुसूचित जाति जनजातियों, महिलाओं तथा बालिकाओं, मलिन बस्ती निवासियों और प्रवासी श्रमिकों का शैक्षिक और व्यावसायिक विकास करता है।

प्रौढ़ शिक्षा निदेशालय

केन्द्रीय प्रौढ़ शिक्षा निदेशालय राष्ट्रीय साक्षरता मिशन में शैक्षिक और तकनीकी संसाधन का सहयोग देता है। यह संसाधन सहयोग का नेटवर्क विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है, विशेष रूप से यह आदर्श शिक्षण अधिगम सामग्री, मीडिया सॉफ्टवेयर के उत्पादन तथा राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सभी तरह के मीडिया का सहयोग हासिल कराता है।

अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति की शिक्षा

संवैधानिक प्रावधान, संविधान के अनुच्छेद 46 के अनुसार– "राज्य विशेष सावधानी के साथ समाज के कमजोर वर्गो, विशेषकर अनुसूचित जाति / जनजातियों के शैक्षिक एवं आर्थिक हितों के उन्नयन को बढ़ावा देगा और सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के सामाजिक शोषण से उनकी रक्षा करेगा। "अनुच्छेद 330.332,335,338 से 342 तथा संविधान के पांचवीं और छठवीं अनुसूची के अनुच्छेद 46 में दिए गए लक्ष्य हेतु विशेष प्रावधानों के संबंध में कार्य करते हैं।

राष्ट्रीय न्यूनतम साझा कार्यक्रम (एनसीएमपी) के संकल्प

केन्द्रीय सरकार ने सुशासन के लिए छह मूलभूत सिद्धान्त निर्धारित किए हैं। उनमें से एक है– अनुसूचित जाति, जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग एवं धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए विशेषकर शिक्षा एवं रोजगार में पूर्ण अवसरों की समानता उपलब्ध कराना।

20.7 सारांश :

इस अध्याय में आपने निरक्षरता और इसके निराकरण हेतु सरकार द्वारा किये गये प्रयासों का अध्ययन किया। निरक्षरता मानव समाज के लिये कलंक है। संसार के समस्त राष्ट्र इस समस्या के उन्मूलन हेतु तहत दिल से प्रयास कर रहे हैं क्योंकि यह सभी समस्याओं की जड़ है। विकासशील राष्ट्र का पर्याय लगभग पूर्ण साक्षरता से लगाया जाता है। भारत सरकार एवं प्रान्तीय सरकार विभिन्न लुभावनी योजनाऐं चलाकर निरक्षर लोगों को शिक्षा की ओर प्रेरित करने में महत्वपूर्ण भूमिकाओं का निर्वहन कर रही हैं। इस हेतु समस्त जागरूक लोगों का यह कर्त्तव्य है वर्ष में कम से कम पाँच व्यक्तियों को साक्षर करवा कर राष्ट्र के प्रति अपने समर्पण को प्रदर्शित करे।

20.8 बोध–प्रश्न

निरक्षरता को परिभाषित कीजिये तथा इसके दुष्परिणामों की व्याख्या कीजिये?

निरक्षरता उन्मूलन हेतु सरकारी नीतियों एवं कार्यक्रमों पर प्रकाश डालिये?

सर्वशिक्षा अभियान से आप क्या समझते हैं?

महिला शिक्षा हेतु किये गये प्रयासों का उल्लेख कीजिये?'

20.9 सन्दर्भ –ग्रन्थ

सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।

2. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।
3. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
4. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर
5. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटस
6. लवानिया, एम.एम. एवं राठौड़, ए.एस. (1999) भारतीय समाज, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर

7. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा

8. लवानिया, एम.एम. एवं पडियार, जी. (2010) भारत में सामाजिक समस्यायें, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर

9. गुप्ता, एम. एल. एवं शर्मा डी.डी., मानव समाज, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2001।

10. आहूजा, राम, सामाजिक समस्याऐं, रावत पब्लिकेशन्स, द्वितीय संस्करण, जयपुर एवं नई दिल्ली, 2000।

11. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर

12. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

13. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।

14. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।

15. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली

इकाई -21

साम्प्रदायिकता

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य

21.1 प्रस्तावना

21.2 साम्प्रदायिकता की अवधारणा

21.3 साम्प्रदायिकता की विशेषताएं

21.3.1 साम्प्रदायिकता के आयाम

21.4 साम्प्रदायिकता के कारण

21.5 साम्प्रदायिकता निराकरण हेतु सुझाव

21.6 साम्प्रदायिक दंगे

21.6.1 साम्प्रदायिक दंगों की विशेषताएं

21.6.2 साम्प्रदायिक दंगों के कारण

21.7 सारांश

21.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

21.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

21.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप-

1. साम्प्रदायिकता की अवधारणा , विशेषताएं एवं आयाम को समझ सकेंगे।
2. साम्प्रदायिकता के कारण एवं निराकरण के उपाय के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे|
3. साम्प्रदायिक हिंसा के अर्थ , विशेषताओं तथा कारणों से अवगत हो जायेंगे|

21.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में साम्प्रदायिकता के विषय में चर्चा की गई है। भारत जिसे अनेक भाषाओं, धर्मो. जातियों तथा संस्कृतियों देश कहा जाता हैं, इसकी राष्ट्रीय एकता के विद्यमान अर्न्तनिहित कारकों को स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अनेक पृथकतावादी या विघटनकारी शक्तियों में बहुत नुकसान पहुँचाया है | इन विघटनकारी शक्तियों का एक स्वरूप साम्प्रदायिकता है | भारतीय समाज अनेक धार्मिक में बंटा हुआ है, जिनके स्वार्थ एक दूसरे से भिन्न हैं

और कभी-कभी उनमें पारस्परिक विरोध भी होता है। एक धार्मिक समूह के सदस्य जो दूसरे धार्मिक समूह के सदस्यों और उनके धर्म के विरोध करते हैं तो उन्हें साम्प्रदायिक कहा जा सकता है। साम्प्रदायिकता का आचरण कई प्रकार से दिया जाता है। जैसे- राजनीतिक साम्प्रदायिकता, धार्मिक साम्प्रदायिकता और आर्थिक साम्प्रदायिकता, राजनीतिक साम्प्रदायिकता| साम्प्रयदायिकता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति और उसके साथ जुड़ी हुई हिंसा ने धार्मिक अल्पंसख्यकों और नृजातीय सूमहो में असुरक्षा की भावना जाग्रत कर दी है। इसलिये राष्ट्र की शांति एवं एकता की क्षति को रोकने के लिये साम्प्रदायिकता हिंसा की समस्या का विश्लेषण करना और उस पर विचार करना आवश्यक है। 'सम्प्रदायवाद' की परिभाषा करना आज नितान्त जरूरी है। और यह मालूम करना भी इतना ही संगत है कि 'साम्प्रदायिक' कौन है

21.2 साम्प्रयदायिकता

साम्प्रदायिकता को एक विचारधारा माना जा सकता है जो कि यह बताती है कि समाज उन धार्मिक समूहों में बँटा हुआ है, जिनके स्वार्थ एक दूसरे से भिन्न हैं और कभी-कभी उनमें पारस्परिक विरोध भी होता है। एक के सदस्य जो दूसरे समूह के सदस्यों और धर्म के विरूद्ध प्रतिरोध करते हैं उन्हें 'साम्प्रदायिक' कहा जा सकता है। यह विरोध किसी विशेष समुदाय पर झूठे आरोप लगाना, क्षति पहुंचाना और जानबूझ कर अपमानित करने का रूप लेता है। इससे भी अधिक यह विरोध लूटना, असहाय और निर्बल व्यक्तियों के घरों और दुकानों को आग लगाना, उनकी स्त्रियों को अपमानित करना और आदमी-औरतों को जान से मार देने तक का वीभत्स रूप भी धारण कर लेता है।

भारत में साम्प्रदायिकता पूर्णरूप से धार्मिक अन्धविश्वास भक्ति और निष्ठा से संबंधित हैं। धर्म के कारण धर्म के द्वारा तथा धर्म के लिये धार्मिक समूहों में परस्पर घृणा, तिरस्कार. निन्दा. हिंसा. उपेक्षा आदि इतनी बढ जाती हैं कि कमी–कभी इसका हिंसात्मक रूप बन जाता हैं। साम्प्रदायिकता की अवधारणा की अनेक समाज वैज्ञानिकों ने निम्न प्रकार से परिभाषित किया हैं–

स्मिथ ने साम्प्रदायिकता को परिभाषित करते हुये लिखा हैं , "साम्प्रदायिक व्यक्ति अथवा समूह वह हैं जो अपने धार्मिक या भाषा – भाषी समूह को एक: ऐसी पृथक राजनैतिक तथा सामाजिक इकाई के रूप में देखता हैं जिसके हित. अन्य समूहों से पृथक होते हैं और जो अक्सर उनके विरोधी भी हो सकते हैं।"

रेण्डम हाउस डिक्शनरी में साम्प्रदायिकता को एक विशेष भावना बताया गया हैं। इसमें लिखा हैं, – "साम्प्रदायिकता अपने ही जातीय समूह व धर्म के प्रति तीव्र निष्ठा की भावना हैं।"

बृजमोहन के अनुसार. 'भारतीय समाज को ध्यान में रखते हुये साम्प्रदायिकता की परिभाषा ' विभिन्न धर्मो (प्रमुखत: हिन्दू व मुस्लिम) के अनुयायियों के मध्य पायी जाने वाली संघर्ष की उस स्थिति के आधार पर की जा सकती हैं जिसके कारण इनमें एक दूसरे के प्रति हिंसा. घृणा ईर्ष्या तथा एक ऐसी शंका का जन्म होता हैं जो हिंसा की घटनाओं में परिवर्तित हो जाती हैं।

विस्तृत परिप्रेक्ष्य में साम्प्रदायिकता दो या दो से अधिक धर्म के अनुयायियों के बीच होने वाली उस संघर्ष की स्थिति का नाम हैं जिसके कारण वे एक दूसरे से लड़ते – झगडते रहते हैं, एक साथ मिलकर रह पाने से अपने को असमर्थ पडते हैं तथा कभी – कभी उस प्रकार के दंगे – फसादों में एक – दूसरे से भिड़ जाते हैं जिसमें बहुत से लोगों को अपनी जान माल से हाथ धोना पड़ता हैं।

21.3 सम्प्रदायिकता की विशेषताएं

1. साम्प्रदायिकता धार्मिक संगठन. समूह अथवा सम्प्रदाय से संबंधित होती हैं। एक धर्म के व्यक्ति अपने को धार्मिक संगठन का सदस्य मानते हैं। धर्म में भी छोटे – छोटे गुट हैं तो व्यक्ति अपने और अधिक संकीर्ण स्थिति में पाता हैं।
2. एक सम्प्रदाय के सदस्य अपने धर्म, देवी – देवता, मूल्य – आदर्श, रीति – रिवाज आदि के आधार पर अपने को दूसरे समूह से श्रेष्ठ मानते हैं।
3. साम्प्रदायिकता के संघर्ष का मूल कारण दूसरे धर्म के संस्कार, मूल्य,, देवी – देवता, वेशभूषा जीवन के तरीके अर्थात् संस्कृति तथा धार्मिक विशेषताओं को उपेक्षा,, घृणा के भाव से देखते है।
4. साम्प्रदायिकता में एक समूह दूसरे समूह के लोगों से परस्पर प्रेम,– तथा सहयोग के स्थान पर सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, अलगाव अधिक दिखाई देता है।
5. इसमें परस्पर एक दूसरे को क्षति या हानि पहुँचाने का भय बना रहता हैं। पारस्परिक घृणा बढ़ती जाती हैं।
6. इसमें एक सम्प्रदाय के लोग अपने धर्म, कर्म, आचार – विचार के प्रति कट्टर, निष्ठा रखते हैं जिससे एक सम्प्रदाय के लोग अपने सम्प्रदाय की श्रेष्ठता के लिये परस्पर समझोता या अनुकूलन नहीं करते हैं।

21.3.1साम्प्रदायिकता के आयाम

टी.के. ऊमन (1989) ने साम्प्रदायिकता के छह आयाम बतलाये हैं-

आत्मसातीकरणवादी साम्प्रदायिकता - आत्मसातीकरणवादी साम्प्रदायिकता वह है जिसमें छोट धार्मिक समूहों का बड़े धार्मिक समूह में समावेश/एकीकरण कर लिया जाता है। इस प्रकार की साम्प्रदायिकता यह दावा करती हैकि सब जनजातियां हिन्दू हैं और जैन, सिख, और बौद्ध, हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अन्तर्गत आते हैं।

कल्याणकारी साम्प्रदायिकता -कल्याणकारी साम्प्रदायिकता का लक्ष्य किसी विशेष समुदाय का कल्याण होता है, जैसे जीवन-स्तर को सुधारना और शिक्षा एवं स्वास्थ्य का प्रबन्ध करना; उदारणार्थ, ईसाई संस्थाएं ईसाईयों की उन्नति के लिये काम करती हैं, याप पारसी संस्थाएं पारसियों के उत्थान में कार्यरत रहती हैं। इस तरह के सामुदायिक संगठन का उद्देश्य केवल अपने समुदाय के सदस्यों के हित में कार्य करना होता है।

पलायनवादी साम्प्रदायिकता -पलायनवादी साम्प्रदायिकता वह है जो जिसमें एक छोटा धार्मिक समुदाय अपने को राजनीति से अलग रखता है; उदाहरण के लिये, बहाई समुदाय जिसने अपने सदस्यों के लिये राजनीति में भाग लेना अवैध घौषित किया हुआ है।

प्रतिशोधपूर्ण साम्प्रदायिकता -प्रतिशोधपूर्ण साम्प्रदायिकता दूसरे धार्मिक समुदायों के सदस्यों को हानि और चोट पहुंचाने का प्रयत्न करती हैं।

पृथकतावादी या अलगाववादी साम्प्रदायिकता -पृथकतावादी या अलगाववादी साम्प्रदायिकता वह है जिसमें एक धार्मिक समुदाय अपनी संस्कृति की विशेषता बनाये रखना चाहता है और देश में एक अलग राज्य की मांग करता है; उदाहरणार्थ, उत्तरपूर्वी भारत में कुछ मिज़ों और नागाओं की मांग, असम में बोडों की मांग और बिहार में झाड़खंड की जनजातियों की मांग।

पार्थक्यवादी साम्प्रदायिकता- पार्थक्यवादी साम्प्रदायिकता वह है जिसमें एक धार्मिक समुदाय अपनी अलग राजनीतिक पहचान चाहता है और एक स्वतंत्र देश की मांग करता है। खालिस्तान की मांग कर रहा सिखों का एक

बहुत ही छोटा उग्रवादी भाग इस प्रकार की साम्प्रदायिकता को अपना रहा है। इन छह प्रकारों की साम्प्रदायिकता में से पिछले तीन रूप समस्याये खड़ी करते हैं और जिनके कारण आन्दोलन, साम्प्रदायिक झगड़े, आतंकवाद और बगावत उत्पन्न होते हैं।

21.4 साम्प्रदायिकता के कारण

किसी भी समाज में साम्प्रदायिकता की भावना संकीर्णताओं का योग हैं तथा रचा पूर्ति उसका उद्देश्य हैं। अन्य देशों की तुलना में भारतीय समाज में साम्प्रदायिकता एक जटिल समस्या बनी समस्या हैं। इस समस्या के अनेक कारण हैं जो ऐतिहासिक तथा समकालीन दोनों हैं–

1. ऐतिहासिक कारण

भारतीय इतिहास से ज्ञात होता हैं कि भारत आर्यो का देश था और यवनों ने यहां आकर साम्राज्य स्थापित किया। शक, हूण, कुषाण, मुगल, पठान आदि भारत में आते रहे तथा संघर्ष होता रहा। कुछ कटर धार्मिक मुस्लिम शासकों ने साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया। वे ब्रिटिश शासन के दौरान अंग्रेजों ने "फूट डालों व राज करों" नीति के अर्न्तगत हिन्दु मुसलमानों ने साम्प्रदायिकता को उकसाया। हिन्दु मुसलमानों की साम्प्रदायिक भावना के कारण सन् 1947 में द्वी– राष्ट्र सिद्धान्त के आधार पर भारत से होकर पाकिस्तान देश बना। प्रारंभ में भारत में साम्प्रदायिकता हिन्दुओं व मुसलमानों के बीच थी। अब यह प्राप्ति के बाद अपने ही सम्प्रदाय के समानान्तर गुट परस्पर हिंसा में उलझे हुये हैं।

2. धार्मिक कारण

ऐतिहासिक स्त्रोतों से ज्ञात होता हैं कि साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति और का कारण भी धार्मिकता ही रहा हैं। सभी धर्मो के मठाधीश अपने धर्म को सर्वोपरि, श्रेष्ठ, अच्छा मानते हैं तथा दूसरे धर्मो को हीन भावना से देखते हैं। अपने धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करने वाले धर्म प्रचारक तथा दूसरे धमों की आलोचना करते हैं। अन्य के प्रति द्वेष, तनाव, वैमनरच तथा घृणा पैदा करते हैं। इससे धर्मो में परस्पर साम्प्रदायिकता पैदा होती हैं तथा झगड़े बढ़ते है।

3. साम्प्रदायिक राजनीतिक दल एवं सामाजिक – सांस्कृतिक संस्थाएँ

भारत का विभाजन साम्प्रदायिकता की राजनीति के कारण हुआ। स्वतंत्रता के दौरान साम्प्रदायिकता के जो बीज बोये गये। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् संकीर्ण राजनीतिज्ञों ने निहीत स्वार्थो की पूर्ति हेतु साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया। आज प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था में हिन्दु व मुस्लिम तुष्टीकरण करने वाले अनेक राजनीतिक दल प्रत्यक्ष था। परोक्ष रूप से साम्प्रदायिकता की समस्या को रहते हैं।

4. मनोवैज्ञानिक कारण

भारत में मुसलमान अल्पसंख्यक हैं तथा हिन्दू बहुसंख्यक हैं। राजनीतिज्ञो द्वारा मुस्लिम तुष्टीकरण व उनमें आर्थिक शोषण की भावना होने के कारण मुस्लिम व हिन्दू सम्प्रदाय में एक दूसरे के प्रति पूणा, द्वेव, विरोध' जन भावना, प्रतिभार बन गया हैं। यह सब मनोवैज्ञानिक लक्षण साम्प्रदायिकता के कारण हैं। साम्प्रदायिकता का यह कारण व्यक्ति के स्तर पर कार्य करता हैं।

5. साम्प्रदायिक संगठन

वर्तमान समय में विज्ञान के तीव्र विकास ने सामाजिक जीवन को भी काफी हद तक प्रभावित किया हैं। सब से आधुनिक यातायात के साधन, संचार के साधन, समाचार पत्र, प्रिटिंग प्रेस का तीव्र गति से विकास किया हैं। तभी से प्रत्येक धार्मिक समूह के अंतर्गत सक्रिय धार्मिक संगठन भी ग्राम, कस्वा, जिला, प्रान्त तथा अखिल भारतीय स्तर पर संगठित व्यवस्थित हो गये हैं जो अपने अपने मतावलम्बियों के प्रति भड़काने वाली भावना पैदा

करते हैं। अपनी रक्षा के लिये हथियार एकत्र करते हैं। इस प्रकार के धार्मिक संगठन विभिन्न सम्प्रदायों के मध्य जातीय विद्वेष व हिंसा को बढ़ावा देते हैं। यह धार्मिक संगठन साम्प्रदायिक दंगों तनावों तथा संघर्षों को बढ़ावा देते हैं।

6. राजनैतिक कारण

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में चुनावों में राजनेताओं द्वारा जातिवाद और साम्प्रदायिक भावना का सहारा लिया जाता रहा हैं। अनेक राजनैतिक दलों का तो निर्माण ही धर्म तथा साम्प्रदायिकता के आधार पर किया जाता हैं। ग्राम पंचायत से लेकर लोकसभा तक के चुनावों में धर्म तथा साम्प्रदायिकता के आधार पर उम्मीदवार खड़े किये जाते हैं तथा मत मतो जाते हैं। जीतने के बाद अपने सम्प्रदाय के प्रति अधिक निष्ठा असमानता व साम्प्रदायिक संघर्ष को जन्म देती हैं।

7. सामाजिक आर्थिक कारण

साम्प्रदायिकता की समस्या का एक प्रमुख कारण सामाजिक आर्थिक भी रहा हैं। भारत में आज भी गरीबी रेखा के नीचे 30 प्रतिशत से अधिक लोग निवास करते हैं। साथ ही अज्ञानता, अन्धविश्वास एवं शोषण की प्रवृत्ति आज भी विद्यमान हैं। सन् 1960 से 1998 तक हुये साम्प्रदायिक दंगों के परिस्थिति शास्त्रीय अध्ययनों से निष्कर्ष निकला कि अधिकांश दंगे नगर या कस्बे की निचली व गंदी बस्ती में गरीबों के बीच होते है। इन लोगों में अशिक्षा, अनगिनत, अन्धविश्वास, गन्दगी, बेरोजगारी, गरीबी, बीमारी आदि का बोलबाला रहता हैं। इन क्षेत्रों में रहने वाले सम्प्रदाय के राजनीतिक नेता तथा प्रभावी व्यक्ति सामाजिक आर्थिक व राजनीतिक उपेक्षा के आधार पर भड़काकर आर्थिक अधिकारों की प्राप्ति के लिये सरकार पर दबाव बनाने के लिये हिंसा करने को प्रेरित करते है।

21.5 साम्प्रदायिकता निराकरण के सुझाव

भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या प्रगति व विकास के लिये अभिशाप हैं। यद्यपि यह समस्त विश्व के अनेक समाजों में देखने वालों को मिलती हैं। साम्प्रदायिकता विरोधी सम्मेलनों, राष्ट्रीय एकता समितियों तथा शांति समितियों के साथ हैं। सामाजिक विचारकों व राजनेताओं ने साम्प्रदायिकता के निवारण के लिये महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं–

1. साम्प्रदायिक संगठनों पर प्रतिबन्ध

साम्प्रदायिकता की समस्या को दूर करने के लिये सबसे पहले समाज में साम्प्रदायिकता का प्रचार प्रसार करने वाले संगठनों पर रोक लगानी चाहिये। संगठनों के नामों में हिन्दू ईसाई, मुसलमान, जैन, सिक्ख या ऐसे ही शब्दों के प्रयोग पर कानून द्वारा रोक लगा देनी चाहिये। जिनसे साम्प्रदायिकता की भावना का प्रसार होता हैं।

2. राष्ट्रीयता की शिक्षा

साम्प्रदायिकता की भावना को समाप्त करने के लिये शिक्षण संस्थानों में छात्रों को राष्ट्रीय भावना से ओत प्रोत मूल्यों की व्यावहारिक शिक्षा दी जानी चाहिये। शिक्षा के पाठ्यक्रम में साम्प्रदायिकता के दोष तथा हानियाँ बतानी चाहिये। वही शिक्षा के द्वारा पारस्परिक एकता, संगठन, राष्ट्रीय चरित्र निर्माण, राष्ट्रीय एकीकरण आदि का ज्ञान विद्यार्थियों को कराकर साम्प्रदायिकता को मिटाया जा सकता हैं।

3. चुनावों में साम्प्रदायिकता के प्रचार – प्रसार पर रोक

भारत में चुनावों के प्रचारों में साम्प्रदायिकता को उभारा जाता हैं जिससे अपने क्या में लाभ उठा सके। चुनावों में किसी भी प्रकार से साम्प्रदायिकता का जैसे – नारों. पोस्टरों. पेंप्लेटों फोटों, टेपरिकार्डरों फिल्मो आदि के रूप में उपयोग करने पर प्रत्याशी व राजनैतिक दल को गैर – सरकारी घोषित कर दिया जाना चाहिये।

4. नैतिक शिक्षा का प्रसार

सभी समाजों के शाश्वत नियम व धर्मो के मृत्यु हिंसा को समाज विरोधी तत्व मानते रहे हैं। कोई भी धर्म अपने अनुयायियों को हिंसा नहीं सिखाता। शिक्षण संस्थानों में प्रत्येक स्तर पर बच्चों. हवा व प्रौढ़ सदस्यों को यह नैतिक शिक्षा दी जानी चाहिये कि साम्प्रदायिकता समाज के लिये विघटनकारी हैं। नैतिक शिक्षा द्वारा संकीर्णता पृथक्करण, घृणा. द्वेष आदि को दूर करने के लिये विशेष पाठ्यक्रम तैयार किये जाने चाहिये।

5. धार्मिक कट्टरता फेलाने वाले संगठनों पर प्रतिबन्ध

समाज में साम्प्रदायिकता का प्रचार – प्रसार करने वाले संगठनों पर सरकार को कठोर कार्यवाही करते हुये प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिये। उन्हें सरकार द्वारा किसी भी प्रकार की सहायता व अनुदान नहीं दिया जाना चाहिये।

6. प्रशासनिक सुधार कार्यक्रम

सरकार द्वारा राष्ट्र विरोधी गतिविधियों में संलग्न व्यक्तियों, संस्थानों व व्यक्तियों की जनता के सहयोग से पहचान कर कडी सजा दी जानी चाहिये। साथ ही आकाशवाणी. समाचार पत्र, दूरदर्शन. चलचित्र, समाचार पत्र व पत्रिकाओं द्वारा साम्प्रदायिकता विरोधी प्रचार करना चाहिये। समाज में लोगों में एकता व समन्वय की भावना को समय – समय पर प्रसारित करने के लिये प्रशासन को विशेष अभियान चलाना चाहिये।

7. महापुरुषों के संदेश का प्रसार

भारत के.– समाज में एकता व राष्ट्रीयता को स्थापना करने के लिये अनेक महापुरुषों व राष्ट्रीय नेताओं ने अपना सन् जीवन स्थापित कर दिया। महात्मा गांधी, विनोबा भाव, सरदार वल्लभ भाई पटेल व जय प्रकाश नारायण आदि ने अपने विचारों व व्यवहार से पारस्परिक एकता व परस्पर लोगों में उत्पन्न करने के लिये अनेक कार्य किये। आज साम्प्रदायिकता की बढता हुई भावना को समाप्त करने के इन महापुरुषों के जीवन चरित्र पर अमल करना बहुत जरूरी है।

8. राष्ट्रीय एकता परिषद्

केन्द्रीय पर राष्ट्रीय एकता परिषद् का गठन साम्प्रदायिकता की समस्या को हल करने के लिये किया गया हैं। 1969 में यह तय किया गया कि देश के सभी राजनैतिक दलो को साम्प्रदायिक' सद्भावना पैदा करना चाहिये। इस परिषद् के द्वारा कदम उठाने के लिये कठोर कानूनी कार्यवाही करने के कहा जाना चाहिये।

21.6 साम्प्रदायिक हिंसा

साम्प्रदायिक हिंसा, विद्यार्थी आंदोलनों, श्रमिकों की हड़तालों, और किसानो के आंदोलन में हिंसा की समस्याओं और विशेषताओं से भिन्न है। साम्प्रदायिकता की अवधारणा के आधार पर हमें साम्प्रदायिक हिंसा को अन्य आंदोलनो, आतंकवाद, राज्य प्रतिरोध और विद्रोह में अन्तर करना चाहिये। यह अन्तर छः स्तरो पर देखा गया हैः जन संग्रह, हिंसा की मात्रा और तरीके , सम्बद्धता की मात्रा, आक्रमण का लक्ष्य, दंगों का एकायक भड़क उठना, नेतृत्व और दंगो से पीड़ित व्यक्तियों और परिणामो के अनुभव|

आंदोलनो के जनसंग्रह जुलूसों , प्रदर्शनों और घेरावों के रूप में विरोध के प्रकट करने और शिकायत एवं मांगो को प्रस्तुत करने के लिये किया जाता है। साम्प्रदायिक हिंसा में व्यक्तियों का संग्रहण दूसरे समुदाय के विरूद्ध किया जाता है। इसमें लोगों को पहले से कोई जानकारी नहीं मिलती, वे अचानक अनियत्रित होते हैं| साम्प्रदायिक हिंसा में के पीछे एक भावनात्मक अभिव्यक्ति होती है जो दंगों का रूप धारण कर लेती है।

हिंसा की मात्रा और हिंसा करने के तरीके भी आंदोलनों और साम्प्रदायिक दंगों में भिन्न-भिन्न होते हैं। आतंकवाद में जन समर्थन निष्क्रिय, अप्रकट और गुप्त होता है। यह मान कर कि राज्य विद्रोह असंभव हैं, कुछ ऐसी निष्क्रिय, सशस्त्र उग्रवादी गुट होते हैं जो योजनाबद्ध तरीकों से हिंसा का प्रयोग करते हैं। राज्य विद्रोह में जनसमर्थन राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए संगठित किया जाता है। इसके विपरीत साम्प्रदायिक हिंसा में जनसमर्थन सामाजिक व्यवस्था के प्रति रोष व्यक्त करने के लिए संगठित किया जाता है। राज्य विद्रोह में प्रशिक्षित गुट भाग लेते हैं जब कि साम्प्रदायिक दंगों में अप्रशिक्षित लोग लिप्त रहते हैं। राज्य विद्रोह में जनता में प्रचार शासन के विरूद्ध होता है, जबकि साम्प्रदायिक दंगों में वह सामाजिक पक्षपात, सामाजिक उपेक्षा और सामाजिक एवं धार्मिक शोषण के विरूद्ध होता है।

सम्बद्धता की मात्रा भी साम्प्रदायिक हिंसा, आंदोलन आंतकवाद और राज्य विद्रोह में भिन्न होती है। साम्प्रदायिक दंगों की स्थिति में सम्बद्धता की ऊँची मात्रा, शत्रुता, तनाव और जनसंख्या के ध्रुवीकरण के कारण होती है। जबकि आंदोलन में वह स्वार्थ के युक्तिकरण पर आधारित है। आतंकवाद और विद्रोह में संबद्धता सक्रिय कार्यकर्ताओं और उनके नेताओं के बीच होती है; जनता में यह इसकी तुलना में कम होती है।

राज्य विद्रोह और आतंकवाद में आक्रमण का लक्ष्य सरकार होती है। आन्दोलनों में वह सत्ताधारी समूह होती है और साम्प्रदायिक हिंसा में 'शत्रु' समुदाय के लोग उसके लक्ष्य होते है। कभी-कभी आंदोलनों और साम्प्रदायिक दंगों में हिंसा का प्रयोग सरकारी सम्पत्ति को लूटने और जलाने में किया जाता है। असामाजिक तत्वों को आंदोलनों और साम्प्रदायिक दंगों में खुली छूट मिल जाती है, परन्तु आंतकवाद और राज्य विद्रोह में ऐसा नहीं होता। राज्य विद्रोह और आतंकवाद में जिन शस्त्रों का उपयोग होता है, वे आंदोलनों और साम्प्रदायिक झगड़ों में किये जाने शस्त्रों से अधिक आधुनिक और परिष्कृत होते हैं।

साम्प्रदायिक दंगों का एकायक भड़क उठना विशेष सामाजिक ढाँचे तक सीमित रहता है, जबकि राज्य विद्रोह और आंतकवाद में यह अनियत और अनिश्चित होता है। आंदोलनों में उपद्रव किन्हीं विशेष ढांचों को लेकर नही होते, अपितु वंचना और व्यक्तियों के परिवर्तनों के संगठन पर आधारित होते है।

आंतकवाद और राज्य विद्रोह और आंदोलनों में नेतृत्व आसानी से पहचाना जा सकता है परन्तु साम्प्रदायिक दंगों में हमेशा ऐसा नहीं होता | साम्प्रदायिक दंगों में ऐसा कोई नेतृत्व नहीं होता जो दंगों की स्थिति को नियंन्त्रित कर सके अथवा उसे रोक सके। दूसरी ओर आंदोलन, आंतकवाद और राज्य विद्रोह में जो कुछ होता है, वह नेताओं के अनुरूप होता है और स्थिति पर उनका प्रभावी नियंत्रण रहता है।

साम्प्रदायिक हिंसा के परिणाम होते हैं - तीव्र शत्रुता, पूर्वाग्रह और एक समुदाय के दूसरे समुदाय के प्रति पारस्परिक शक। आन्दोलनों में मानव हानि तुलनात्मक दृष्टि से कुछ कम होता है यद्यपि सम्पत्ति की कभी-कभी अधिक हानि हो जाती है जब आंदोलनों में समझौता हो जाता है तो सरकारी ऐजेन्सियों के विरूद्ध बैर भाव भी समाप्त हो जाता है और बदले की भी भावना कुछ समय पश्चात चली जाती है। आंतकवाद में पीड़ितों में से अधिकांश निर्दोष होते है। वे उग्रवादियों के प्रति निष्क्रिय रहते हैं और निष्क्रिय व्यवहार से वे स्वयं को अधिक सुरक्षित समझते हैं।पीड़ित व्यक्तियों में प्रतिशोध की भावना हो ही नहीं सकती क्योंकि उग्रवादि गुमनाम होते हैं और संगठित रूप से परिष्कृत शस्त्रों से लैस होते हैं। राज्य-विद्रोहों में पीड़ित व्यक्तियों में अधिकाश सुरक्षा बलो के सदस्य या सरकारी कर्मचारी होते हैं जो राज्य विद्रोह के लिए प्रत्युपायों में सहायता करते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिक हिंसा प्रमुख रूप से घृणा, द्वेष और प्रतिशोध पर आधारित है।

21.6.1 साम्प्रदायिक दंगों की विशेषताएं

देश में हुए साम्प्रदायिक दंगों के अध्ययनों ने यह उद्घाटित किया है कि;

(1)साम्प्रदायिक दंगे धर्म की तुलना में राजनीतिक से अधिक प्रेरित होते हैं। मतदान कमीशन ने भी, जिसने मई 1970 में महाराष्ट्र में हुए दंगो की छानबीन की, इस पर बल दिया था कि ''साम्प्रदायिक तनावो के वास्तुकार और निर्माता सम्प्रदायवादी और राजनीतिज्ञों का एक वर्ग होता है- वे अखिल भारती और स्थानीय नेता को अपनी राजनीतिज्ञ स्थिति को सुदृण बनाने, अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने, और अपनी सार्वजनिक छवि को बनाये रखने के लिये हर अवसर का लाभ उठाना चाहते हैं और इसके लिए वे हर घटना को साम्प्रदायिक रंग देते हैं और इस प्रकार जनता के आगे वे अपने आप को अपने समुदाय के धर्म और अधिकारो के हिमायती के रूप में प्रस्तुत करते है ''।

(2) राजनीतिक स्वार्थो के अलावा आर्थिक स्वार्थ को भी साम्प्रदायिक झगड़ों को भड़काने में प्रबल भूमिका अदा करते हैं।

(3) साम्पदायिक दंगे दक्षिण और पूर्वी भारत की अपेक्षा उत्तर भारत में अधिक आम हैं।

(4) ऐसे शहरों, जिनमे साम्प्रदायिक दंगे एक या दो बार हो चुके हैं, वहाँ इसके पुनः होने की सम्भावना ऐसे शहरो की अपेक्षा , जहां कभी दंगे नहीं हुए अधिक प्रबल होती है।

(5) अधिकांश साम्प्रदायिक दंगे धार्मिक त्यौहारों के अवसर पर होते हैं।

(6) दंगों में घातक हथियारों का उपयोग बढ़ रहा है।

(7) दंगे आम तौर पर शहरों में ही होते हैं तथा गांव इनसे मुक्त रहते है। प्रोफेसर आसुतोष वाष्र्णेय के अध्ययन के अनुसार 1950 के बाद से हिन्दु-मुस्लिम दंगों में गांवों का हिस्सा 3.5 प्रतिशत है जबकि शहरी क्षेत्रों का हिस्सा 94.03 प्रतिशत है।

21.6.2 साम्प्रदायिक हिंसा के कारण

साम्प्रदायिक हिंसा के कारणों को समझने के लिए दो उपागमों का उपयोग किया जा सकता है:-

(क) सामाजिक ढांचों की कार्यप्रणाली का निरीक्षण करना,

(ख) साम्प्रदायिक हिंसा के उदभव की प्रक्रिया के कारण पता करना।

पहले प्रकरण में साम्प्रदायिक हिंसा को सामाजिक की कार्यप्रणाली या समाज में नियोजित या अनियोजित या चेतन या अचेतन तरीके महत्वपूर्ण होते हैं जो कि साम्प्रदायिक हिंसा को जीवित रखते हैं। साम्प्रदायिक हिंसा को प्रथम प्रकरण में एक 'तथ्य' के रूप में लिया जा सकता है या एक 'निश्चित' घटना समझा जाता है और फिर उसके औचित्य ढूँढे जाते हैं, जबकि दूसरे में साम्प्रदायिक हिंसा के उद्भव के लिये सहसंबंधों को ढूँढ़ने का प्रयास किया जाता है ताकि उसका एक प्रक्रिया के रूप में अध्ययन किया जा सके।

विभिन्न विद्वानों ने साम्प्रादायिक हिंसा की समस्या का विभिन्न परिप्रेक्ष्यों से अध्ययन किया है और उसके होने के विभिन्न कारण बताते हैं और उसे रोकने के लिये विभिन्न उपाय सुझाए हैं। मार्क्सवादी विचाराधारा साम्प्रदायिकता का संबंध आर्थिक वंचन और बाजार की ताकतों का एकाधिकार नियंत्रण को प्राप्त करने के लिए धनवान और निर्धन के बीच वर्ग-संघर्ष से बतलाती है। कुछ राजनीतिज्ञ इसे सत्ता का संघर्ष मानते हैं। समाजशास्त्री

इसे सामाजिक तनावों और सापेक्षिक वंचनो से उत्पन्न हुई घटना कहते है। धार्मिक विशेषज्ञ इसे हिंसक कट्टरवादियों और अनुकरण की शक्ति का प्रतीक कहकर पुकारते है।

बहुकारक उपागम में दस प्रमुख कारकों को साम्प्रदायिकता के कारण बताये गये हैं, ये कारक हैं - सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, प्रशासनिक, ऐतिहासिक, स्थानीय और अन्तर्राष्ट्रीय।

सामाजिक कारक - सामाजिक कारको में सामाजिक परंपराएं, जाति एवं वर्ग-अहम, असमानता और धर्म पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण सम्मिलित है|

धार्मिक कारक - धार्मिक कारकों में धार्मिक नियमाचारों और धर्मरिपेक्ष मूल्यों में गिरावट, संकीर्ण की साम्प्रदायिक विचाराधारा सम्मिलत है|

राजनीतिक कारक - राजनीतिक कारको में धर्म पर आधारित राजनीति, धर्म शासित राजनीतिक संस्थाएं, राजनीतिक हस्तक्षेप, साम्प्रदायिक हिंसा का राजनीतिक औचित्य और राजनीतिक नेतृत्व की असफलता भी सम्मिलित है|

आर्थिक कारक - आर्थिक कारकों मे आर्थिक शोषण और पक्षपात, असन्तुलित आर्थिक विकास, प्रतिस्पर्धा का बाजार, अप्रसरणशील आर्थिक व्यस्था, श्रमिकों का विस्थापन और असमावेशन और खाड़ी देशों से आयें हुए पैसे का प्रभाव भी सम्मिलित है|

वैधानिक कारक - कानूनी कारकों में सम्मिलित हैं, समान कानून सहिंता, संविधान में कुछ समुदायों के लिये विशेष प्रावधान और रियायतें, कुछ राज्यों को (जैसे कश्मीर) विशेष दर्जा, आरक्षण नीति और विभिन्न समुदायों के लिये विशेष कानून|

मनोवैज्ञानिक करक - मनोवैज्ञानिक कारकों में सम्म्लित हैं, सामाजिक पूर्वाग्रह, रूढ़िबद्ध अभिवृत्तियां, अविश्वास, दूसरे समुदाय के प्रति विद्वेष और भावशून्य, अफवाहें, भय का मानस, और जनसम्पर्क के साधनों का गलत जानकारी देना या गलत अर्थ लगाना या अयर्थाथ रूप प्रस्तुत करना|

प्रशासनिक कारक - प्रशसासनिक कारकों में शामिल हैं पुलिस और दूसरी प्रशासनिक इकाईयों का समन्वयन का अभाव, कुसज्जित और कुप्रशिक्षित पुलिस कर्मचारी, गुप्तचारी, गुप्तचर विभागों की अकुशल कार्यप्रणाली, पक्षपाति पुलिस के सिपाही, की ज्यादातियां और निष्क्रियता और अकुशल पी.ए.सी.|

ऐतिहासिक कारक - ऐतिहासिक कारकों में शमिल हैं, विदेशी आक्रमण, धार्मिक संस्थाओं की क्षति, धर्म परिवर्तन के लिए प्रयत्न, अपनिवेशीय शासकों की फूट डालो और राज करो की नीति, विभाजन का मानसिक आघात, पिछले साम्प्रदायिक दंगें, जमीन, मंदिर और मुस्जिद के पुराने झगड़ें|

स्थानीय कारक - स्थानीय कारकों में सम्मिलत हैं, धार्मिक जुलूस, नारेबाजी, अफवाहें, जमीन के झगड़े, स्थानीय असामाजिक तत्व और गुटों में प्रतिद्वन्दिता

अंतर्राष्ट्रीय कारक - अंतर्राष्ट्रीय कारकों में सम्मिलित हैं, दूसरे देशों द्वारा दिये जा रहे प्रशिक्षण और वित्तीय सहायता, भारत की एकता को भंग करने और कमजोर बनाने के लिए दूसरे देशो द्वारा षडयंत्र रचाना और फिर साम्प्रदायिक संगठनों का समर्थन देना।

इन उपागमों के विपरीत, हमें एक ऐसे समष्टिपरक उपागम की आवश्यकता है जिसके द्वारा साम्प्रदायिक हिंसा को समझा जा सके।

21.7 सारांश

उपरोक्त इकाई में सर्वप्रथम साम्प्रदायिकता के अर्थ के विषय में अध्ययन किया गया| इसके पश्चात् साम्प्रदायिकता की विशेषताओं, कारणों तथा इसके निराकरण के उपायों का अध्ययन किया गया | साम्प्रदायिकता से जुड़ी हिंसा और दंगों के बारे में अध्ययन किया। साम्प्रदायिक दंगों की विशेषताओं तथा कारणों का अध्ययन किया।

21.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. साम्प्रदायिकता से क्या आशय है? वर्णन कीजिए।
2. साम्प्रदायिकता की विशेषताओं का वर्णन कीजिए |
3. साम्प्रदायिकता के निराकरण हेतु सुझाव दीजिए |
4. साम्प्रदायिक हिंसा क्या है?
5. साम्प्रदायिक हिंसा के कारणों का वर्णन कीजिए।

21.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।
2. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।
3. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारत में सामाजिक समस्याएं: कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
4. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी.सी. (2005) भारतीय समाज, नेशनल पब्लिसिंग हाउसः जयपुर
5. शर्मा, आर.एन.एवं. शर्मा, आर. के. (2002) सामाजिक विघटन, एटलांटिक पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटस
6. लवानिया, एम.एम. एवं राठौड़, ए.एस. (1999) भारतीय समाज, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
7. गुप्ता, एम.एल. एवं शर्मा, डी.डी. (2004) समकालीन भारतीय सामाजिक विचारक एवं सामाजिक आन्दोलन, साहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा
8. लवानिया, एम.एम. एवं पडियार, जी. (2010) भारत में सामाजिक समस्यायें, रिसर्च पब्लिकेशनः जयपुर
9. गुप्ता, एम. एल. एवं शर्मा डी.डी., मानव समाज, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2001।
10. आहूजा, राम, सामाजिक समस्याऐं, रावत पब्लिकेशन्स, द्वितीय संस्करण, जयपुर एवं नई दिल्ली, 2000।
11. अहूजा, आर. एवं. अहूजा एम. (2008) समाजशास्त्र: विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत पब्लिकेशन्सः जयपुर
12. चन्द्र, एस.एस. (2002) भारतीय सामाजिक संरचना, कनिष्का पब्लिशर्स: नई दिल्ली
13. सिंह, अरुण कुमार सिंह, समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणायें, न्यू रायल बुक कम्पनी, लखनऊ, 2009।
14. हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज: एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2007।

इकाई–22

भ्रष्टाचार : स्वरूप एवं विस्तार

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य

22.01 प्रस्तावना

22.02 भ्रष्टाचार का अर्थ एवं परिभाषा।

22.03 भ्रष्टाचार के स्वरूप

22.04 भ्रष्टाचार के कारण

22.05 भ्रष्टाचार की रोकथाम के उपाय

22.06 सारांश

22.07 बोध प्रश्न

22.08 संदर्भ ग्रंथ

22.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप-

1. भ्रष्टाचार का अर्थ व उसका विस्तार को समझ सकेंगे|
2. भारत में उसके कारणों व स्वरूपों के बारे में भी आप समझ सकते है।
3. भ्रष्टाचार जैसी विकराल समस्या का उन्मूलन कैसे किया जा सकता है|

22.01 प्रस्तावना :

औद्योगिक क्रान्ति ने भारतीय समाज के सम्पूर्ण आर्थिक–सामाजिक ढाँचे को परिवर्तित कर दिया है। आज का समाज पूंजीवादी व्यवस्था पर आधारित है और पूँजीवादी व्यवस्था ने मनुष्य को इस सीमा तक भौतिकवादी बना दिया है कि वह व्यक्ति की सफलता का मूल्यांकन उसकी आर्थिक सम्पन्नता से करने लगा है। यही कारण है कि उसकी आर्थिक आवश्यकताएँ एवं महत्वाकांक्षाएँ इस कदर बढ़ गई हैं कि वह जितना मिल गया या मिल रहा है उससे सन्तुष्ट नहीं है और इसलिए वह येन केन प्रकारेण ज्यादा से ज्यादा पाने की लालसा में दिनों दिन भ्रष्टाचार में लिप्त होता जा रहा है। वह हर गलत साधनों से जल्दी–से–जल्दी अकूत सम्पत्ति का मालिक बनना चाहता है। इस प्रयास में वह अपने नैतिक, मानवीय मूल्यों को भी भूल जाता है।

वर्तमान समय में भ्रष्टाचार एक विश्वव्यापी समस्या बन चुका है। आज प्रत्येक क्षेत्र तथा विभाग में भ्रष्टाचार ही भ्रष्टाचार दिखाई देता है। इससे समाज का कोई भी अंग अछूता नहीं बचा है। आज सत्ता के शीर्ष से लेकर सबसे निचली पायदान तक भ्रष्टाचार का बोलबाला है। चाहे वह सामाजिक क्षेत्र हो, राजनीतिक क्षेत्र हो, आर्थिक क्षेत्र हो या

कोई अन्य, भ्रष्टाचार से कोई अछूता नहीं है। भ्रष्टाचार की यह समस्या दिनों दिन इतनी जटिल होती जा रही है कि इस पर नियंत्रण रखना काफी कठिन है। देश के अधिकांश सत्ताधारी व्यक्तियों एवं प्रशासनिक अधिकारियों के जीवन, व्यवहार, कार्यक्रम एवं विचार भ्रष्टाचार का एक अभिन्न अंग बन गया है। प्रजातंत्र, समाजवाद, स्वच्छ प्रशासन, सामाजिक न्याय एवं राष्ट्रीय चरित्र आदि आज आडम्बर मात्र बन कर रह गए हैं। यहाँ के प्रबुद्ध जन, राजनीतिज्ञ, प्रशासक व अन्य व्यक्ति भ्रष्टाचार पर लम्बी–लम्बी बहस करते हैं एवं व्याख्यान भी देते हैं लेकिन अफसोस तब होता है जब इनकी कथनी व करनी में अन्तर दिखाई देता है। यहाँ की जनता भी अब भ्रष्टाचार को झेलने की आदि हो गई है। भ्रष्टाचार अधिकांश व्यक्तियों के जीवन का अंग बन चुका है। गुन्नार मिर्डल ने भ्रष्टाचार को दक्षिण–पूर्व एशिया की लोकरीति कहा है। इससे पता चलता है कि भ्रष्टाचार को लोग एक लोक–रीति' की तरह अपना चुके हैं। इससे निजात पाना अत्यन्त कठिन है।

प्राचीन समय में राज्य व समुदाय का आकार छोटा होने के कारण लोग एक दूसरे से परिचित होते थे। उनका कार्यक्षेत्र भी सीमित था जिससे भ्रष्टाचार की समस्या इतनी गम्भीर नहीं थी। यद्यपि कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में उस युग में पाए जाने वाले विभिन्न प्रकार के भ्रष्टाचारों का उल्लेख किया है। लेकिन उस समय राज्य के कार्यो के सीमित क्षेत्र और लेन–देन के साधनों के अभाव के कारण भ्रष्ट होने या भ्रष्ट करने के अवसर भी सीमित थे। प्राचीन समय में लोग परम्परा व धार्मिक नीतियों के नियमों से बँधे हुए थे। आज ऐसा नहीं है। धीरे–धीरे समय बदला. समुदाय का आकार बढ़ा तो नियंत्रण का अधिकार शासकों के हाथ में आ गया। आज हर कार्य राज्य द्वारा सम्पन्न होता है इसलिए घूस देने की प्रवृति को बढ़ावा मिलता है। आज विभिन्न स्तरों पर जैसे गाँव, कस्वा, शहर, राज्य तथा केन्द्र पर लोकतांत्रिक सरकार के नए स्वरूप और सरकारी क्रियाओं के विस्तार ने विभिन्न प्रकार के भ्रष्टाचार को जन्म दिया है। इस व्यवस्था में कोई हानि किसी को व्यक्तिगत रूप से वहन नहीं करनी पड़ती बल्कि सामूहिक संस्था अथवा राज्य को वहन करनी होती है और ऐसी स्थिति में भ्रष्ट व्यक्ति की पहचान कर पाना भी कठिन है। प्रत्येक विकासशील समाज में भ्रष्टाचार की समस्या किसी न किसी रूप में पनपती है। आज यह एक फैशन बन गया है। जो अधिकारी घूस नहीं लेते या भाई–भतीजावाद नहीं दिखाते उन्हें आऊट–डेटेड मानकर उपहास का पात्र बनाया जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि भ्रष्टाचार की समस्या प्राचीन समय में गम्भीर नहीं थी जबकि आज यह एक गम्भीर समस्या बन झी है।

22.02 भ्रष्टाचार का अर्थ एवं परिभाषा :

मैकाईवर का कथन कि, समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है' इस तथ्य की पुष्टि करता है कि समाज में सामाजिक सम्बन्धों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। सामाजिक सम्बन्ध मनुष्य के आचार–व्यवहार के तौर–तरीकों को निर्धारित करते हैं। मानव समाज में पाए जाने वाले आचार–व्यवहार को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है –

1. शिष्टाचार, 2. भ्रष्टाचार। शिष्ट व शालीन व्यवहार शिष्टाचार और इसके विपरीत आचरण को भ्रष्टाचार कहा जाता है। भ्रष्ट का अर्थ निकृष्ट से है और आचार का तात्पर्य मनुष्य के क्रिया–कलाप से है। इस प्रकार भ्रष्टाचार का अर्थ मानव के निकृष्ट आचार–व्यवहार से हुआ। प्रत्येक समाज अपने सदस्यों के लिए कुछ व्यवहार प्रतिमान निर्धारित करता है और इनका उल्लंघन करना भ्रष्टाचार कहलाता है।

परिभाषा :– भ्रष्टाचार को कई विद्वानों ने परिभाषित किया है जैसे– रॉबर्ट सी. बुक्स का कहना है, कोई प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करने के लिए जान–बूझकर प्रदत्त कर्त्तव्य का पालन न करना. राजनीतिक भ्रष्टाचार है। भ्रष्टाचार सदैव किसी स्पष्ट अथवा अस्पष्ट लाभ के लिए कानून और समाज के विरोध में किया जाने वाला कार्य है। ''इस परिभाषा के अनुसार भ्रष्टाचार जानबूझ कर अपने लाभ के लिए किया जाता है। इससे समाज एवं कानून दोनों के नियमों का उल्लंघन होता है।

आर. भी. गुप्ता का कथन है कि, "भ्रष्टाचार का तात्पर्य उन व्यक्तियों द्वारा अर्जित अनुचित लाभ से है, जो सार्वजनिक हितों को तिलांजलि देकर सामाजिक प्रतिष्ठा, पद तथा धन के कारण कानून की आँखों में धूल झोंकने में समर्थ होते हैं। इस परिभाषा से यह पता चलता है कि भ्रष्टाचार में लिप्त व्यक्ति अपने लाभ के लिए जन–साधारण के हितों की अवहेलना करते. हैं। ऐसे व्यक्ति कानून का उल्लंघन करने से भी नहीं चूकते।

भ्रष्टाचार निरोधक समिति, 1962 ने भ्रष्टाचार के सम्बन्ध में कहा है कि "एक सार्वजनिक पद (Office) अथवा विशेष स्थिति (Position) के साथ संलग्न शक्ति तथा प्रभाव का अनुचित या स्वार्थपूर्ण प्रयोग ही भ्रष्टाचार है।

"**मुहार** ने भ्रष्टाचार को परिभाषित करते हुए कहा है, "भ्रष्टाचार कई रूप धरण कर सकता है। जैसे किसी राजनीतिज्ञ द्वारा अपने प्रभाव का किसी सार्वजनिक कार्यतंत्र (Public Functionary) अर्थात् सरकारी कर्मचारी या अधिकारी पर अनुचित उपयोग करना या अपने जातिगत या पारिवारिक बिन्दुओं का लाभ पहुँचाना अथवा यह किसी आर्थिक प्रलोभन के कारण भी हो सकता है।"

भ्रष्टाचार की परिभाषा भारतीय संदर्भ में करते हुए जे. पी. मिन्दरो ने लिखा है कि, ' 'भ्रष्टाचार वह कार्य है जिसमें अधिकार सम्पन्न व्यक्ति अपने पद, स्तर या प्रभाव का प्रयोग अनुचित लाभ की प्राप्ति के लिए अनुपयुक्त एवं स्वार्थपूर्ण ढंग से करता है। "इस परिभाषा से तात्पर्य है कि भ्रष्टाचार अधिकतर अधिकार सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा किया जाता हैं। भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161 के अनुसार कोई भी' सार्वजनिक कर्मचारी वैध पारिश्रमिक के अतिरिक्त अपने या किसी दूसरे व्यक्ति के लिए जब कोई लाभ इसलिए लेता है कि सरकारी निर्णय पक्षपात ढंग से किया जाए तो यह भ्रष्टाचार है तथा इससे सम्बन्धित व्यक्ति भ्रष्टाचारी है। इससे स्पष्ट होता है कि किसी भी सरकारी कर्मचारी का अपने वैध वेतन के अलावा कुछ भी इस उद्देश्य से ग्रहण करना कि सरकारी निर्णय में पक्षपात किया जाए भ्रष्टाचार कहलाता है।

फ्रीमैन एव जोन्स लिखते हैं, "वे समस्त कार्य जो लोकसेवकों, प्रशासनिक कर्मचारियों तथा आम नागरिकों की ईमानदारी एवं सत्यनिष्ठा का नाश करते हैं और जो प्रभुता एवं अधिकार सम्पन्न व्यक्तियों को अपने सम्मान, कर्त्तव्य परायणता तथा निष्ठापूर्वक दायित्व को निभाने की भावना को त्यागकर घूस एवं अन्य प्रकार के अनुचित लाभों को प्राप्त करने का अवसर या प्रेरणा प्रदान करते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं –

भ्रष्टाचार एक गम्भीर सामाजिक समस्या है।

यह अक्सर अधिकार सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा किया जाता है।

ऐसे व्यक्ति अपने पद एवं अधिकार का दुरूपयोग अनुचित लाभ प्राप्ति के लिए करते हैं।

ऐसे व्यक्ति समाज एवं कानून का उल्लंघन करने के साथ उन्हें प्रभावित करने की क्षमता भी रखते है।

भ्रष्टाचार में लिप्त व्यक्ति सहयोग और सेवा की भावना को त्याग कर अपने स्वार्थ साधन का कार्य करता है।

निजी स्वार्थ के लिए समाज एवं राष्ट्र के हित को भूल जाता है।

ई. एस. एम. प्रकाशम ने "सरकारी सेवार्थियो में व्याप्त भ्रष्टाचार" का उल्लेख करते हुए निम्न तत्वों की ओर ध्यान दिलाया है :–

चेतन अवस्था में किया गया कोई भी कार्य जो नियम विरूद्ध है।

न्याय या नैतिकता के मान्य सिद्धान्तों के विरूद्ध किया गया कार्य।

सार्वजनिक कर्त्तव्य पालन के पक्षपातपूर्ण कार्य।

जान–बूझकर कार्य में विलम्ब।

जान–बूझकर गुमराह करने के लिए सूचना या रिपोर्ट देना।

किसी प्रमाण या तथ्य को दबाना या उसकी गलत व्याख्या करना।

जानते हुए भी दूसरे व्यक्तियों के गलत कार्यों को नजरअन्दाज।

22.03 भ्रष्टाचार के स्वरूप :

भारतीय समाज के सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार का विकास आधुनिक युग की एक महत्त्वपूर्ण देन है। इस समय भारतीय समाज को सम्पूर्ण जीवन भ्रष्टाचार से घिरा हुआ है। भारत में प्रचलित भ्रष्टाचारों का क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसके सम्बन्ध में जितना कहा जाए कम है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और यहाँ तक कि धार्मिक संस्थाओं में भी भ्रष्टाचार का बोलबाला है। विभिन्न सभागार, पत्रों एवं पत्रिकाओं में भ्रष्टाचार के मामले आए दिन उजागर होते रहते हैं। ' 'स्पेशल पुलिस स्थापन, दिल्ली (Special Police Establishment, Delhi) द्वारा समय–समय पर प्रकाशित रिपोर्ट से भी पता चलता है कि व्यभिचार, भ्रष्टाचार, उच्च स्तरीय अपराध एवं गैर कानूनी कार्यो में अधिकतर इंजीनियर, डायरेक्टर आफ सप्लाइस एण्ड डिस्पोजल्स वन अधिकारी, सेना अधिकारी, आयकर एवं बिक्रीकर अधिकारी, सार्वजनिक निर्माण विभाग के अधिकारी एवं मंत्रीगण आदि ही फँसे हुए होते हैं। वास्तविकता तो यह है कि सामाजिक जीवन की जटिलता के साथ–साथ भ्रष्टाचार का क्षेत्र भी व्यापक होता जा रहा है। फलस्वरूप अवैध व्यापार, टैक्स की चोरी, घूसखोरी, खाने–पीने की वस्तुओं में मिलावट व कालाबाजारी जैसी समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। सरकार को धोखा देकर, कानून की आँखों में धूल झोंक कर अपनी सामाजिक तथा आर्थिक प्रतिष्ठा को बढ़ाने की एक होड़ हमारे समाज में चल रही है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में भ्रष्टाचार विभिन्न क्षेत्रों एवं स्तरों पर व्यापत है जो निम्न प्रकार से है।

आर्थिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार – आर्थिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार का उदाहरण स्टॉक एक्सचेंज में बेईमानी, व्यापार में रिश्वत, भ्रष्ट उपायों से ठेके लेना, झूठे प्रचार और विज्ञापन, कम तोलना, सरकारी टैक्स न देना, फर्मों का दिवाला निकाल कर जनता का पैसा हड़प कर जाना, पेटेन्ट ट्रेड मार्का और कॉपीराइट के नियमों का उल्लंघन, श्रम सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन इत्यादि हैं। आज व्यापार में सब तरफ व्यापक मिलावट भ्रष्टाचार का एक उदाहरण है। अधिकतर खाद्य वस्तुओं में किसी न किसी प्रकार की मिलावट पाई जाती है लेकिन सरकारी कर्मचारियों को रिश्वत देकर व्यापारी साफ बच निकलते हैं। कठिनाई से मिलने वाली वस्तुएँ काला बाजारी मार्केट में सब तरफ आसानी से मिल जाती है लगभग सभी वस्तुओं की नकली प्रतिलिपियाँ बाजार में मिल जाती हैं। इसे रोकने का सरकार के पास कोई प्रबन्ध नहीं है। इसके अलावा वर्तमान समय में पूँजीपति अपने कर्मचारियों का आर्थिक शोषण कर अधिक–अधिक धन कमाना चाहते हैं। न केवल पुरूष श्रमिकों का शोषण किया जाता है बल्कि स्त्री तथा बाल श्रमिकों का भी शोषण उद्योगपति करते हैं। गर्भवती महिला श्रमिक को काम से निकाल दिया जाता है। कार्य के दौरान दुर्घटनाग्रस्त होने वाले श्रमिक को मुआवजा देने में आनाकानी करते हैं। कुछ जैसे आपातकाल में भी ये व्यापारी अपने काले कारनामों से बाज नहीं आते बल्कि उस समय तो देश में वस्तुओं की कृत्रिम कमी उत्पन्न कर देते हैं ताकि उन वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाएं और वे अधिक से अधिक लाभ कमा सकें। देश पर विदेशी आक्रमण के समय भी ये कालाबाजारी करने से नहीं चूकते। ये नकली दवाइयाँ बेचते हैं। आज बाजार में किसी चीज की शुद्धता की गारन्टी नहीं है क्योंकि बिना मिलावट के बाजार में कोई वस्तु होती ही नहीं है। प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई विकल्प इन व्यापारियों ने ढूंढ लिया है। बादाम अखरोट की जगह

मूंगफली या खोए में शकरकन्द, घी में मिलावट आदि के सैकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं। इस प्रकार व्यापारियों द्वारा किए गए भ्रष्टाचार इतने अधिक हैं कि उनकी गिनती करना मुश्किल है। उद्योगपतियों और व्यापारियों के लिए भ्रष्टाचार न केवल अनुपार्जित बड़े लाभों की प्राप्ति का एक सुगम तरीका है वरन् यह उनके व्यवसाय को चलाते रहने का एक आवश्यक साधन भी है।

व्यक्ति और भ्रष्टाचार :– बिना अधिकारियों को घूस दिए भी कानून का उल्लंघन किया जा सकता है। जैसे बहुत से दुकानदार कम लाभ दिखाकर कम टैक्स अदा करते हैं। इसी श्रेणी में पढ़े लिखे अपराधी आते हैं। केन्द्रीय राजस्व परिषद का एक अनुमान है कि उच्चारण आय समूह के निर्धारण द्वारा वार्षिक रूप से लगभग 45 करोड़ का कर छिपाया जाता है। वर्ष 1951 की स्वैच्छिक प्रकटीकरण योजना के अन्तर्गत 20,912 मामलों में स्वयं करदाताओं द्वारा 30 करोड़ रूपये छिपाए गए धन के रूप में स्वीकार किया गया था। इस प्रकार प्रकट की गई राशि उस धनराशि की छह गुनी अधिक थी जो मूलत: होनी बताई गई थी। इससे यह पता चलता है कि व्यक्ति विभिन्न रूपों में करों की चोरी कर भ्रष्टाचार को बढ़ावा देते हैं।

प्रशासनिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार :– प्रशासन में विभिन्न सरकारी दफ्तर, पुलिस, न्यायालय तथा नगरपालिका आदि आती है। इनका अलग–अलग विवरण निम्न प्रकार से दिया जा सकता है:–

3.1 सरकारी कार्यालयों में भ्रष्टाचार :– सरकारी अधिकारियों में पाए जाने वाले भ्रष्टाचार के बारे में प्रीतिश नन्दी का कहना है, "भ्रष्टाचार का मतलब है कि हर चीज की एक छुपी कीमत होती है। इसकी शुरूआत होती है सरकारी अधिकारियों से, जिनकी गिनती सम्भवत: देश के सबसे अमीर लोगों में होती है। यद्यपि आपका कभी इस ओर ध्यान नहीं जाता, क्योंकि ज्यादातर दौलत नकदी या बेनामी सम्पत्ति के रूप में होती है। एकाध बार यह बाहर निकलती है जब उनमें से किसी–किसी की कमाई इतनी इतराने लगती है कि सीबीआई उन्हें अपने शिकंजे में ले लेती है। सरकार इसे रोकने के लिए वेतन–भत्तों में वृद्धि करती है। लेकिन वास्तव में वह उन अधिकारियों को उनके भ्रष्टाचार, आलसीपन और आम नागरिक को परेशान करने के लिए सौगात देती है। क्योंकि वेतन वृद्धि से न तो उनकी कार्यकुशलता में कोई सुधार या वृद्धि होती है, न ही भ्रष्टाचार में कमी आती है। कई लोगों का यह सोचना है कि इतना पैसा और वह –भी उस विशाल धनराशि के अलावा जो वे टेबल के नीचे से कमाते हैं, वे हजारों शासकीय कर्मियों को विलासिता के लिए अनाप–शनाप खर्च हेतु प्रेरित किया है। आज अधिकांश सरकारी अधिकारी या कर्मचारी बिना घूस लिए कोई काम नहीं करते। आम जनता का सरकारी अधिकारियों पर से विश्वास उठ गया है। वे किसी भी काम को अपना कर्त्तव्य समझ कर संपादित नहीं करते बल्कि कोई काम भूले–भटके अगर बिना घूस दिए हो भी गया तो उसका अहसान जताते हैं जैसे उन्होंने अपने कर्तव्य का एलान नहीं बल्कि जनता को उक्त किया है। वरना जब लोग अधिकारियों के पास चक्कर लगाते–लगाते थक जाते हैं तो मजबूरन अपना कार्य सम्पादित करवाने के लिए घूस देनी पड़ती है। जब कोई चरित्रवान या ईमानदार कर्मचारी इसका विरोध करता है तो अधीनस्थ कर्मचारी या अधिकारी सब उसके विरूद्ध हो जाते हैं और उसने तरह–तरह से परेशान किया जाता है या उसका तबादला करा दिया जाता है। सरकारी अधिकारियों के घूस लेने की प्रवृत्ति के कारण ही गम्भीर से गम्भीर अपराध होते हैं। आज कोई भी अपराधी घूस देकर उनसे नाजायज काम करवा लेता है। क्योंकि ये लोग उच्च्च अधिकारियों या पुलिस अफसरों को बंधी–बंधाई रकम हर माह पहुँचा कर उनका मुह बंद कर देते हैं और बदले में मनमानी करते हैं। इनकी मदद से ही श्वेतपोष अपराध फलता फूलता है।

सार्वजनिक निर्माण विभाग में ओवरसियरो और इन्जीनियरों को रिश्वत दिए बिना कोई भी निर्माण कार्य पास नहीं किया जाता, न ही किसी ठेकेदार का टेण्डर मंजूर हो सकता है। ऐसे लोग कभी कानून की गिरफ्त में आ भी जाते हैं तो

फिर भ्रष्ट उपायों से आसानी से निकल जाते हैं। ऐसे लोग कहा करते हैं कि हर आदमी की एक कीमत होती है, वह कीमत चुका कर उससे कोई भी काम लिया जा सकता है।

सरकारी कार्यालयों में भ्रष्टाचार को देखकर यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि देश में सबसे अधिक भ्रष्टाचार इनमें ही व्याप्त है। यदि आज इन कार्यालयों में भ्रष्टाचार समाप्त हो जाए और वे ईमानदारी से काम करने लगें तो देश का कायाकल्प हो जाएगा और काफी हद तक देश से भ्रष्टाचार समाप्त हो जाएगा।

3.2 पुलिस विभाग में भ्रष्टाचार – पुलिस विभाग में गरीब रिक्शा वाले से लेकर धार्मिक करोड़पति तक सबसे रिश्वत ली जाती है। वास्तव में अपराध फलते–फूलते ही पुलिस के सहयोग से हैं। कोई भी कानून तोड़ने पर पुलिस को पैसा देकर छूटना आसान बात है। अपराधों को रोकने के लिए कानून तो बन जाते हैं परन्तु उनको क्रियान्वित नहीं किया जाता है। घूस एक ऐसा औजार है जिससे कानून बड़ी आसानी से टूट जाते हैं। कानून तोड़ कर अपराध किए जाते हैं और राजनैतिक कार्यकर्त्ता अपराधियों का साथ देकर समाज के संभ्रांत व्यक्तियों के लिए एक समस्या पैदा करते हैं। पुलिस राजनेता और अपराधियों की सांठ–गांठ के चर्चे आम सुनाई देते रहते है।

3.3 न्यायालयों में भ्रष्टाचार – अन्य कार्यालयों की तरह ही न्याय पक्तिका का क्षेत्र भी भ्रष्टाचार से अछूता नहीं है। अगर यह कहा जाए कि आज न्याय बिकता है तो गलत नहीं होगा। जिस देश में न्यायालयों में भी व्यापक भ्रष्टाचार हो उसे जनतंत्र की संज्ञा देना जनतंत्र का अपमान करना है। रिश्वत देकर मुकदमें की तारीख बदला लेना, घूस देकर फैसले बदलवाना कोई बड़ी बात नहीं है। न्याय के क्षेत्र में भ्रष्टाचार इतना अधिक है कि भारत में वकील का पेशा ही झूठ बोलने का पेशा माना जाने लगा है। महात्मा गाँधी ने इसीलिए इस पेशे की बहुत निन्दा की थी।

चिकित्सा क्षेत्र में भ्रष्टाचार – डॉक्टरों को समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। मानव को नया जीवन देने वाले के रूप में इनकी गिनती होती है। मरीज इनको भगवान समझता है। लेकिन बहुत अफसोस व शर्मनाक बात है कि आज इस पेशे में भी बहुत सी खामियाँ आ गई हैं। अवैध था हत्या व मानव अंगों का व्यापार शव–परीक्षण में गलत रिपोर्ट देना तथा जाली प्रमाण पत्र देकर अपराधी को फाँसी के तख्ते से बचाना है। दवा की दुकान व जाँच प्रयोगशालाओं से कमीशन लेना, सरकारी कर्मचारियों के फर्जी दवाओं के बिलों पर हस्ताक्षर करना आदि कई अपराध इन श्वेतपोष डॉक्टरों द्वारा किया जाना आम बात है। अधिक से अधिक धन कमाने की लालसा में वे अपनी सारी नैतिकता व मानवता को ताक पर रख देते हैं।

धार्मिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार :– धर्म के नाम पर धार्मिक स्थलों पर अनैतिक कार्यो को धर्म के क्षेत्र में पाए जाने वाले भ्रष्टाचार के रूप में देखा जा सकता है। लोग मन्दिर एंव धर्मशालाएँ धार्मिक भावना से बनवाते हैं लेकिन इनकी देखभाल करने वाले पंडे व पुजारियों द्वारा भोले–भाले भक्तों का शोषण किया जाता है। धर्म एवं अन्धविश्वास के नाम पर लोगों को डरा कर पैसा वसूलना, महिलाओं का यौन शोषण उन्हें देवदासी बनाना आदि घटनाओं से धार्मिक भ्रष्टाचार का पता चलता है। आज बहुत से धार्मिक स्थल गांजा, अफीम आदि नशीले पदार्थो का अड्डा बन गए हैं।

सामाजिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार – सामाजिक भ्रष्टाचार अनाथालयों, विधवा आश्रमों, नारी निकेतनों, कामकाजी महिला छात्रावासों, गौशालाओं तथा ऐसे अनेक सार्वजनिक संस्थाओं में देखा जा सकता है। आजकल शिक्षण संस्थाओं में भी व्यापक भ्रष्टाचार देखने में आता है जैसे– कन्याओं की शिक्षण संस्थाएँ, नाट्य व संगीत संस्थाओं में उनका यौन शोषण कम वेतन देकर अधिक वेतन की रसीद लिखवाना, पास कराने के नाम पर पैसा वसूलना, विद्यार्थियों से बढ़ा–चढ़ा कर फीस लेना, बनावटी खर्च दिखाकर सरकार से अनुदान वसूलना आदि। कहीं–कहीं तो केवल कागजों में ही विद्यालय संचालित होता दिखा कर वर्षो सरकार से सहायता वसूल कर ली जाती है। अधिकतर

निजी विद्यालयों और कॉलेजों में प्रबन्ध समिति के सदस्य अपने ही रिश्तेदारों व जान–पहचान के लोगों को भर कर अपने हित में निर्णय करवाते रहते हैं और विद्यादान के नाम अपनी तिजौरियाँ भरते रहते हैं।

राजनैतिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार :– राजनीति में पूरी तरह से फैल चुके भ्रष्टाचार के कारण ही आज यह हर क्षेत्र में व्याप्त हो चुका है। आज छोटे से छोटे राजनीतिक कार्यकर्ता से लेकर सत्ता के शीर्ष पद पर आसीन व्यक्ति तक सभी भ्रष्टाचार के दलदल में फँसे हुए हैं। आए दिन समाचार पत्रों में मंत्रियों के भ्रष्टाचार में लिप्त होने की खबरें छपती रहती हैं। यह बात अलग है कि इनमें से अधिकतर मामले या तो दबा दिए जाते हैं या सम्बन्धित व्यक्ति को बचा लिया जाता है। बड़े राजनीतिक नेता नीचे के स्तरों तक भ्रष्टाचार फैलाते हैं। बड़े नेताओं द्वारा छोटे कार्यकर्ताओं को मोहरे की तरह इस्तेमाल किया जाता है। लेकिन वे भी इन आकाओं से संरक्षण प्राप्त कर भ्रष्टाचार में लिप्त रहे हैं, पकड़े जाने पर सुरक्षित बच भी जाते हैं।

सरकार की जिन नीतियों से व्यापारियों को लाभ पहुँचता है, वही नीति सरकार अपनाती है क्योंकि ये ही लोग चुनाव के समय उनकी आर्थिक मदद करते हैं। राजनीतिक अपराधीकरण तो आज भारतीय राजनीति का पर्याय बन गई है। आज जिनके पास बाहुबल है, वही सांसद या विधायक बन जाते हैं, ये लोग अपराधिक चरित्र वाले होते हैं, मूल्यों की राजनीति से इनका कोई सरोकार नहीं होता। कहते हैं कि भारत देश को अंग्रेजी के 'पी' अक्षर ने बरबाद कर दिया है– (1) Population (2) Poverty, (3) Politicians.

इसके अतिरिक्त संगठित अपराधों के पीछे राजनीतिज्ञों का बहुत बड़ा हाथ रहता है जिसके कारण भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है। संगठित अपराधों में ठगी, जुआ, तस्करी, अपहरण व आतंकवाद को शामिल किया जा सकता है। जिस शहर में राजनीतिक भ्रष्टाचार अधिक होता है उसमें गैर–काम अधिक होते हैं और अपराधों पर कोई कार्यवाही भी नहीं की जाती। इस प्रकार कुछ अपराध तो कार्यकर्ताओं के भ्रष्ट होने के कारण ही पनपते है उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भ्रष्टाचार के विविध स्वरूप हैं जो कि परस्पर सम्बन्धित हैं।

22.04 भ्रष्टाचार के कारण

सामान्य रूप से भ्रष्टाचार के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :–

भौतिकवादी आदर्श :– आधुनिक युग भौतिकवादी युग है। जिसमें धन एवं भोग–विलास को प्राथमिकता दी जाती है। जिसके पास भी ये भोग–विलास के साधन होते हैं उन्हें समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है, उनकी समाज में ऊँची प्रतिष्ठा होती है। धन अर्जित करने की अभिलाषा प्रत्येक व्यक्ति के मन में होती है, इसके लिए वह कोई भी नाजायज या गैर कानूनी तरीके को अपनाने में नहीं हिचकिचाता। वह सिर्फ धन कमाना चाहता है। यहाँ तक कि भ्रष्टाचार का बोलबाला धार्मिक स्थलों पर भी देखने को मिलता है। अक्सर मन्दिर के पंडे व पुजारी भक्तजनों द्वारा चढ़ाए गए प्रसाद में से अधिकांश भाग निकाल लेते हैं और उसे दुकानदारों को बेच देते हैं। इस प्रकार भ्रष्टाचार सर्वत्र व्याप्त है और इसका कारण समाज द्वारा भौतिकवादी मूल्यों को सर्वोपरि मानना है।

अत्यधिक प्रतिस्पर्धा :– वर्तमान प्रतिस्पर्धात्मक युग में जीवन के हर क्षेत्र में व्यक्ति को कड़ी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता है। जब इस प्रतिस्पर्धा की दौड़ में व्यक्ति जायज या कानूनी तरीके से सफल नहीं हो पाता तब वह भ्रष्ट तरीकों को भी अपनाने से नहीं हिचकते हैं, लोगों में यह गलत धारणा घर कर गई है कि प्रेम, राजनीति व व्यापार में कुछ भी अनुचित नहीं है। इसलिए वे प्रतिस्पर्धा के दौरान सभी अनुचित व भ्रष्ट तरीके अपनाते हैं। इस प्रकार के विकृत आदर्श के कारण भ्रष्टाचार पनपता व बताता है।

जनसांख्यिकीय विभिन्नताएँ – शिक्षा, व्यापार व रोजगार के कारण हर जगह विभिन्न राष्ट्र, प्रान्त, लिंग, प्रजाति, जाति एवं भाषा के लोग निवास करते पाए जाते हैं, उन सब में विभिन्नता एवं गतिशीलता के कारण वे कभी आपस में परिचित नहीं हो पाते, उनमें घनिष्ठता नहीं आ पाती। इसलिए अपरिचितों के बीच वह भ्रष्ट आचरण करने में नहीं हिचकिचाता, परिणामस्वरूप मनमाने ढंग से कार्य करते हैं, उन पर कोई नियंत्रण नहीं रहता। वह अपरिचित व्यक्ति के घूस लेने में किसी प्रकार की झिझक महसूस नहीं करता।

अपर्याप्त वेतन :– चतुर्थ श्रेणी के सरकारी कर्मचारियों में भ्रष्टाचार का एक कारण अपर्याप्त वेतन है। वे भ्रष्ट तरीकों से वेतन की कमी को पूरा करने की कोशिश में लगे रहते हैं। काम निकालने वाले लोग सबसे पहले इनसे ही सम्पर्क करते हैं क्योंकि ये कर्मचारी थोड़े से पैसों से ही व्यक्ति का काम करवाने में सक्षम होते हैं। अक्सर यह देखा गया है कि सरकारी कार्यालयों में बड़े–बड़े अफसरों से काम करवाने के लिए चपरासियों से ही सम्पर्क किया जाता है। रेलवे, कचहरी, तहसील, सप्लाई का दफ्तर आदि में कर्मचारी दो–दो, चार–चार रुपए की घूस लेकर काम करवा देते हैं।

प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था :– आज हमारे देश की शासन व्यवस्था लोकतांत्रिक पद्धति पर आधारित है जिसमें दलबन्दी को विशेष महत्व दिया जाता है। हमारे देश में विभिन्न प्रकार के राजनीतिक दल पाए जाते हैं। जिनके कारण रिश्वत, पक्षपात, बेईमानी तथा दूसरी कई बुराइयों का बाजार शर्म हो जाता है। प्रजातंत्र में जनता द्वारा चुने हुए लोग ही शासन करते हैं चाहे उनके शासन करने की योग्यता न हो। इसलिए प्रजातंत्र में भ्रष्ट उपायों से मतदाताओं से वोट खरीदे जाते हैं। जब ऐसे लोग सरकार बनाते हूँ तो वे अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए हर प्रकार के अनुचित तरीकों का सहारा लेते हैं। चुनावों में खर्च किसी गए पैसे को वे सत्ता में आने के बाद फिर से भ्रष्ट आचरण द्वारा बटोरने की कोशिश की जाती है। इतना ही वह वे जिन दल के वोटों के चुना जाता है उस को हर प्रकार से लाभ पहुँचाने की चेष्टा करता है।

प्रजातांत्रिक सरकार की विकृत व्यवस्था :– आमतौर पर प्रजातांत्रिक पद्धति में सत्ता परिवर्तन होने के साथ ही सरकारी अधिकारियों एवं कर्मचारियों का स्थानान्तरण कर अपने विश्वास–पात्र अधिकारियों को पदस्थापित किया जाता है जिससे कि वे उनके हर प्रकार के भ्रष्ट आचरण को प्रश्रय दें: बिना किसी देश या कारण के अधिकारियों या कर्मचारियों का तबादला कर देना भ्रष्टाचार का जीता–जागता उदाहरण है। चुनाव में जीत कर आए नेता अपनी मनमानी या हितों के साधन के लिए इस प्रकार का काम करके भ्रष्टाचार को बढ़ावा देते है।

राजनीतिक आचार–संहिता का अभाव – वर्तमान समय में बड़े–बड़े अनेकों राजनैतिक संगठन तो हैं लेकिन उन पर नियंत्रण रखने के लिए आवश्यक आचार–संहिता का विकास नहीं किया गया। जिस दल के हाथ में सत्ता होती है वे सत्ता का जमकर दुरूपयोग करते हैं। मंत्री, सांसद, उद्योगपति व उच्च अधिकारी सब मिल जुल कर अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए सत्ता एवं पद का दुरूपयोग करते हैं और जनता देखती रहती है।

उच्चाधिकारियों का सहयोग – हमारे देश में भ्रष्टाचार की व्यापकता का एक कारण इसमें उच्च पदासीन अधिकारियों का सहयोग भी है। ये अधिकारी स्वयं तो भ्रष्टाचार हैं ही, इसमें अन्य लोगों की सहायता भी करते हैं। इस प्रकार ये लोग तस्करी, कालाबाजारी, मिलावट व जालसाजी आदि अवैध कार्य करने में इसलिए सफल हो जाते हैं क्योंकि उन्हें यह विश्वास होता है कि उच्च सरकारी अधिकारी, राजनेता, मंत्री व विधायकों का हाथ उनकी पीठ पर है।

बदलते मूल्य :– सामाजिक परिवर्तन के साथ ही समाज के मूल्य भी बदल रहे हैं। प्राय: देखा जाता है कि ईमानदार और कर्त्तव्यनिष्ठ लोग दु:खमय एवं दरिद्रता का जीवन जी रहे हैं तथा भ्रष्ट व्यक्ति सभी भौतिक सुखों को भोग रहा है। इसके अतिरिक्त आज नैतिक मूल्यों का इतना अवमूल्यन हो गया है कि दुश्चरित्र व्यक्ति को भ्रष्ट आचरण करने में कोई संकोच भी नहीं होता। ऐसे ही लोगों के कारण भ्रष्टाचार बढ़ता है और उनकी देखा–देखी दूसरे लोग भी अनैतिक और समाज–विरोधी आचरण की ओर प्रवृत्त होते हैं।

सरकार का व्यापक क्रियाकलाप / सरकारी कार्यो का विस्तृत क्षेत्र :– आज सरकारी कार्य क्षेत्र इतना विस्तृत होता जा रहा है कि कोई भी काम एक विभाग या कार्यालय द्वारा सम्पन्न नहीं किया जा सकता। इसके कारण किसी भी कार्य को करने की प्रक्रिया भी उतनी ही लम्बी हो जाती है जिससे भ्रष्टाचार को फलने फूलने का अवसर मिलता है क्योंकि ऐसी स्थिति में ही राजकीय कर्मचारी या अधिकारी को अपने पद का दुरूपयोग करने के अवसर मिलते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि राज्य के कार्यों के लिए कोई एक व्यक्ति उत्तरदायी नहीं होता। बड़े–बड़े राजनीतिज्ञ व अधिकारी इस व्यवस्था का लाभ उठाकर सामुदायिक कोषों का उपयोग अपने हितों के लिए करते हैं। जहाँ कहीं भी शक्ति एवं स्व–निर्णय का अवसर साथ–साथ मिलता है, यहाँ अधिकारों के दुरूपयोग की सम्भावनाएँ बनी रहती हैं।

कानूनी दोष व कठोर दण्ड का अभाव :– प्रजातांत्रिक व्यवस्था होने के कारण भारतीय कानून में कई खामियाँ हैं। जिनके कारण भ्रष्ट व्यक्ति साफ–साफ बच जाता है। इसके अलावा भ्रष्टाचार के विरूद्ध जो कानून है वह कठोर होने के बावजूद उसमें भी कोई न कोई रास्ता निकल ही आता है और व्यक्ति बच जाता है। कठोर दण्ड के अभाव के कारण भी व्यक्ति को कानून का कोई भय नहीं है। सरकारी विभागों में भ्रष्टाचार में पकड़े जाने पर कर्मचारी को मात्र तबादला करने के अलावा और कोई कठोर दण्ड नहीं दिया जाता। इससे उन्हें खुल कर भ्रष्टाचार करने में कोई हिचक नहीं होती। यदि भ्रष्टाचारी व्यक्ति को तुरन्त नौकरी से अलग करने के अतिरिक्त जेल व जुर्माने का कठोर दण्ड दिया जाए तो बहुत लोग भ्रष्टाचार में प्रवप्त होने का साहस करेंगे।

जागरूकता का अभाव :– जनता में भ्रष्टाचार के प्रति जागरूकता नहीं है। अक्सर लोग यह सोच लेते हैं कि जो कुछ हो रहा है उससे उनका कोई लेना–देना नहीं है क्योंकि व्यापक सरकारी कार्यप्रणाली के कारण भ्रष्टाचार से किसी को कोई व्यक्तिगत हानि कम ही होती है अत: वे गलत कार्यो को देखकर भी अनदेखा कर देते हैं, लोगों की इस प्रवशित के कारण भ्रष्टाचार को और अधिक बढ़ावा मिलता है।

भ्रष्टाचार उन्मूलन सम्बन्धी कार्य करने वाली किसी सक्षम संगठन का अभाव :– दो कारक भ्रष्टाचार में विशेष वृद्धि करने वाले हैं (1) भ्रष्ट एवं अकुशल सरकारी कर्मियों के साथ कठोर व्यवहार करने की आशिक अनिच्छा और (2) भारत के सार्वजनिक सेवाओं में प्रदत्त अधिक संरक्षण जो अन्य प्रगतिशील देशों की अपेक्षा बहुत ही अधिक है। इस कारण से भ्रष्टाचार को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए कोई भी सक्षम संगठन नहीं जिसके कारण इसका उन्मूलन नहीं हो रहा है। इसीलिए कहा गया है कि "जब तक कोई भी भ्रष्ट करने की इच्छा तथा क्षमता रखने वाला व्यक्ति विद्यमान है तब तक भ्रष्टाचार का अस्तित्व नहीं मिट सकता है।

22.05 भ्रष्टाचार निवारण के सुझाव :

भारत में फैले हुए भ्रष्टाचार के विभिन्न पहलुओं के विवेचन से स्पष्ट होता है कि भ्रष्टाचार का उन्मूलन किए बिना देश में किसी सुधार की आशा नहीं की जा सकती। इसके लिए सबसे प्रमुख प्रयास लोगों के नैतिक स्तर को ऊँचा करना है जिससे वे समाज में अपने उत्तरदायित्व को समझें और अनुचित उपायों का सहारा लेने से बचे रहें। फिर भी विभिन्न क्षेत्रों में भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए कुछ विशिष्ट सुझाव दिए जा सकते हैं जो इस प्रकार है :–

राजनीतिज्ञों के नैतिक स्तर में सुधार :– जनतंत्र में भ्रष्टाचार का उन्मूलन बहुत कुछ राजनैतिक दलों पर निर्भर करता है क्योंकि इन राजनैतिक दलों के ही लोग चुने जाकर देश की सरकार बनाते हैं। यदि देश के राजनैतिक दलों का नैतिक स्तर ऊँचा किया जाए तो यह आशा की जा सकती है कि भ्रष्टाचार दूर हो सकेगा। इसके लिए सबसे पहले सत्तारूढ़ राजनैतिक दल को उदाहरण उपस्थित करना चाहिए क्योंकि वही यदि भ्रष्ट होगा तो जनता भी उनका अनुसरण करेगी। इसके अलावा चुनाव के समय वे भ्रष्ट तरीकों का सहारा न लें, दल–बदल की नीति का परित्याग करें, चुनाव संहिता का कठोरता से पालन किया जाए। केवल योग्य, सक्षम कुशल व ईमानदार व्यक्ति को ही प्रत्याशी बनाया जाए।

मतदाताओं की भी जिम्मेदारी है कि वे राजनैतिक दलों के बहकावे में न आकर केवल योग्य व्यक्ति का ही चुनाव करें। इसके लिए एक प्रभाव यह हो सकता है कि मतदान करने का अधिकार केवल एक विशिष्ट शिक्षा स्तर के व्यक्ति को ही होना चाहिए। राजनीतिज्ञों में सुधार के लिए आवश्यक है कि निम्न तत्वों को शामिल किया जाए:–

नेतृत्व के लिए योग्यता व शिक्षा स्तर का निर्धारण।

राजनीतिज्ञों का नैतिक स्तर व चारित्रिक स्तर।

राजनीतिक अपराधीकरण पर रोक।

जन–जागरूकता का विस्तार।

पुलिस विभाग में सुधार :– पुलिस विभाग में सुधार के दो लाभ होंगे– एक तो स्वयं पुलिस कर्मचारियों में से भ्रष्टाचार दूर होगा दूसरे पुलिस के ईमानदार और सतर्क होने से जनता में भ्रष्टाचारी व्यक्ति अपनी हरकतों से बाज आएंगे। पुलिस भी ईमानदारी और निष्ठा से अपराधियों के विरूद्ध कार्यवाही करे तो भ्रष्टाचार का सफाया निश्चित है। इसके अतिरिक्त पुलिस विभाग में भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए आवश्यक है कि उनके वेतनमान व सेवा दशाओं में भी सुधार किया जाए ताकि वे घूस आदि की ओर आकर्षित न हों।

सरकारी विभागों में सुधार :– इसके लिए जरूरी है कि कर्मचारियों के आचरण पर कठोर नजर रखना तथा भ्रष्ट पाए जाने पर ऐसे व्यक्ति के विरूद्ध कठोर कार्यवाही करना। इसी तरह अन्य विभागों के अधिकारी जैसे आयकर, बिक्रीकर, आबकारी एवं कस्टम, सार्वजनिक निर्माण विभाग, रेल अधिकारी आदि जिनका सीधा सम्बन्ध जनता से होता है लेकिन यही लोग उनसे लेन–देन या रुपए पैसे लेकर कार्यक्राम करते हैं। अत: इनका ईमानदार होना आवश्यक है। साथ ही उनके ऊपर भ्रष्टाचार निरोधक विभाग को। भी कड़ी नजर रखें।

न्यायपालिका में सुधार :– न्यायाधीश पक्षपात रहित व बिना किसी राजनैतिक दबाव और सिफारिशों से प्रभावित हुए न्याय करें। आज बिना घूस के न्यायालय में कोई काम नहीं होता। वकील भी धन के प्रभाव में आकर खतरनाक से खतरनाक अपराधी को भी छुड़ा लेते हैं। अत: भ्रष्टाचार को रोकने के लिए न्यायपालिका से भ्रष्टाचार को समाप्त किया जाए।

देश का आर्थिक विकास :– अर्थव्यवस्था में सुधार व भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए निम्न सुधार किए जा सकते हैं– (1) निर्धनता का उन्मूलन, (2) आरक्षण का अंत, (3) रोजगार के अवसरों में वृद्धि, (4) समाज में व्यावसायिक नैतिकता में वृद्धि। यद्यपि यह विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि आर्थिक विकास करने से भ्रष्टाचार समाप्त हो जाएगा लेकिन इससे भ्रष्टाचार को रोकने या कम करने में मदद मिल सकती है।

प्रशासनिक सुधार :– प्रत्येक विभाग भ्रष्टाचार रोकने के लिए वातावरण का निर्माण करे। सत्यनिष्ठा के मार्ग से विचलित करने वाले किसी भी प्रयास को हतोत्साहित करें। प्रशासनिक विलम्बों को यथा सम्भव समाप्त किया जाए। प्रशासकीय कुशलता में वृद्धि, सेवा भावना का विकास, प्रशासकीय नैतिकता का विकास आदि उपायों से भी भ्रष्टाचार को रोका जा सकता है।

सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन – आज समाज में धनी व्यक्ति का आदर किया जाता है। यदि इस मूल्य में संशोधन किया जाए तो समाज का हित होगा। यदि धनी व्यक्ति को आदर का पात्र न मान कर समाज उस व्यक्ति को आदर दे जो ईमानदार हो, कानूनों को माने फिर चाहे वह धनी हो या निर्धन। उन व्यक्तियों को जो ऐसे निषिद्ध कार्य या अपराध करें, अलग कर दिया जाना चाहिए और उनके नामों का प्रचार खुल कर करना चाहिए।

वैधानिक उपाय :– उन लोगों के साथ कठोर व्यवहार किया जाए जो घूस देते हैं अथवा जो उत्सवों, उपहारों व भेंट या भोजों आदि के माध्यम से परोक्ष रूप से सरकारी कर्मचारियों व अधिकारियों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

जनकल्याण की भावना :– व्यक्ति अपने स्वार्थ को समुदाय के हित के सामने त्याग दे, वो ऐसा कार्य करे कि भ्रष्टाचार कम हो और समुदाय का कल्याण अधिक। जनता ईमानदार बने और कानूनों का पालन करे। जनकल्याण के आदर्शों को कार्यरूप देने से ही भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाया जा सकता है।

भ्रष्टाचार विरोधी नियमों को कार्यान्वित करने वाला उपयुक्त संगठन :– भ्रष्टाचार निवारण के लिए केन्द्रीय सतर्कता आयोग इन अभियोगों को अधिक कुशलता से निपटा सके इसके लिए उसे अधिक व्यापक एवं स्पष्ट अधिकार दिए जाएं। मामलों की छानबीन के लिए केन्द्रीय जाँच ब्यूरो की सहायता ली जा सकती है। लोक सभा व राज्य सभा के सदस्यों के लिए भी एक आचार संहिता तैयार की जानी चाहिए और उन्हें अधिकारियों पर अनुचित दबाव नहीं डालना चाहिए। न्यायपालिका में व्याप्त भ्रष्टाचार के लिए सभी उच्च न्यायालयों में एक सतर्कता संगठन स्थापित किया जाए। फिर भी यह एक दीर्घकालीन समस्या है जिसके लिए ठोस, स्थिर तथा निरन्तर प्रयास आवश्यक है।

22.06 सारांश :

उपरोक्त विवरणों से पता चलता है कि भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए व्यापक स्तर पर विभिन्न प्रयासों की आवश्यकता है। भ्रष्टाचार उन्मूलन के लिए केवल कानून बना देने से संतोषजनक परिणाम सामने नहीं आ सकते क्योंकि भ्रष्टाचार आज समाज में विकराल रूप धारण कर चुका है। इसीलिए कानूनों को सख्ती से लागू भी किया जाए।

22.07 बोध प्रश्न

1.भारतीय लोक जीवन में प्रचलित भ्रष्टाचार के विविध रूपों का विश्लेषण कीजिए। इसके निराकरण के लिए सुझाव दीजिए।

2. भारतीय समाज में बढ़ते हुए भ्रष्टाचार के प्रमुख कारणों की विवेचना कीजिए।

3.भारत के लोक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार का विश्लेषण कीजिए।

22.08 संदर्भ ग्रंथ

रामनाथ शर्मा, राजेन्द्र कुमार शर्मा – अपराध शास्त्र एवं दंड शास्त्र तथा सामाजिक विघटन

डी. सुनील गोयल, संगीता गोयल –अपराध शास्त्र

डी. गोविन्द प्रसाद–आधुनिक समाज की समस्याएँ

राम आहूजा–भारतीय सामाजिक समस्याएँ